अनुक्रम

प्रकरण–१

क्या लिखूँ?

क्या लिखूँ? ये जो सारे इष्ट-मित्र और देशबंधु कह रहे हैं और मेरा मन भी बीच-बीच में मुझे लिखने के लिए कोंचता है, तो क्या अपनी स्मृतियाँ, अपना वह जीवनवृत्त लिख डालूँ—एक बार?

मनुष्य या समाज के लिए स्मृति उपयुक्त ही रहती है, परंतु वास्तव में देखें तो स्मृति के सदृश विस्मृति भी एक ईश्वरीय कृपा ही है। मनुष्य या समाज के लिए कुछ स्मृतियाँ ऐसी होती हैं, जिन्हें याद रखने की अपेक्षा भूलना अधिक हितकर होता है; पर कई को इस जन्म की स्मृतियों से संतोष नहीं होता और वे पूर्वजन्म की स्मृतियों को भी खोजने के लिए योग-सिद्धि का मार्ग अपनाते हैं। परंतु सचमुच देखें तो केवल इस जन्म की सारी-की-सारी स्मृतियाँ भी यदि हमारा पीछा करती रहीं तो उन्हें सहन करना चेतन मन के लिए संभव नहीं है; फिर यदि उपचेतन मन की सात या सत्तर पूर्वजन्मों की स्मृतियाँ सतत भीड़ लगाए रहीं तो प्राणों को कितनी घुटन होगी! उन सत्तर जन्मों की सत्तर माताओं का लाड़, विमाताओं की चुगलखोरी, खेल या गृहस्थी में खोए हुए गुड्डे-गुड़िया, शिक्षकों की छड़ी, काटनेवाले बिच्छू, अधूरी रह गई आशाएँ, वे रोग, वे भोग, वे अपमान, वे मोहभंग, वे झगड़े-झंझट और फिर उनका स्मरण, पुनः-पुनः स्मरण, अर्थात् विगत दुःखों का कोयला फिर-फिर घिसना!!

भगवान् बुद्ध द्वारा कथित उनके पूर्वजन्म की थोड़ी-बहुत स्मृतियाँ लिखकर रखी हुई हैं जो श्रौत साहित्य के रूप में उपलब्ध हैं। उन जातक कथाओं का कैसा विस्तार हुआ है! और यदि भगवान् बुद्ध अपने सभी पूर्वजन्मों की समस्त कथाएँ कहते लिखवाने की कृपा करते, तब उन ग्रंथों के कारण पूरी पृथ्वी ही ग्रंथालय बन जाती; फिर भी उनके लिए वह पर्याप्त नहीं होती। कारण यह है कि किसीके भी पूर्वजन्म अगणित होने से स्मृतियों के खंड भी तो असंख्य ही होते!!

यह तो एक बुद्ध भगवान् की बात हुई। परंतु यदि प्रत्येक जन्म में हुआ मनुष्य, जैसे आजकल हमारे कुछ थियोसोफिस्ट मित्रों को अपने पूर्वजन्म की स्मृतियाँ हो आती हैं, वैसे ही सकल स्मृतियाँ ताजा करने लगा और दुर्दैव से उन सबको लिख-छापकर प्रकाशित भी करवाने लगा तो संपूर्ण मनुष्य जाति की केवल इसी पीढ़ी के औसतन एक सौ पचास करोड़ लोगों में से प्रत्येक के असंख्य जातक होंगे। उनको पढ़ने की बात तो दूर, केवल उनकी संख्या सुन-सुनकर चक्कर आने लगें। पौराणिक परंपरा के अनुसार कहें तो रक्तबीज दानवों जैसे हर गुजरे क्षण की स्मृति का रक्त-बिंदु एक-एक स्मृति-दानव को जन्म देता है। पौराणिक परिभाषा में ही यदि कहें तो स्मृति के इसी अत्याचार से लोगों का परित्राण करने हेतु क्षण का वह बिंदु गिरते ही निगल लेने के लिए है। देवी विस्मृति ने अवतार लिया, इसलिए सबकुछ ठीक हो गया। निस्संदेह स्मृति के सदृश विस्मृति भी ईश्वरीय कृपा ही है।

प्राचीन इतिहास अर्थात् समाज की आदिम स्मृतियाँ न मिलना हमारे लिए कभी-कभी बहुत चिंता का कारण बन जाता है। इतिहास किस तरह पढ़ा जाए, यह विवेक जब तक समाज में जाग्रत नहीं होता, तब तक उसका कुछ भाग विस्मृत हो जाना ही क्या हितकर नहीं है? क्योंकि आज रावण की लंका कौन-सी है, यह यदि ऐतिहासिक निश्चितता से कहा जाने लगे तो उस देश के वासियों के मन में हम आर्यों के प्रति द्वेष उत्पन्न नहीं होगा और पुराने झगड़े का कोयला घिसकर एक नया झगड़ा तैयार नहीं किया जाएगा, यह कौन कह सकता है? यह कोरी कल्पना नहीं है। उसी रामायण-कथा की स्मृति के कारण हम आर्य आज भी बंदरों से लाड़ करते हैं; उसके लिए मनुष्य को कष्ट भी हो जाए तो कोई बात नहीं। अभी एक स्थान का समाचार है कि बंदर को मुक्त कराने के लिए दंगा हुआ और कई आदमी मारे गए। यह एक तरह से सुग्रीव और राम के बीच हुई संधि का सम्मान करना ही तो है! उत्तर ध्रुव से आर्य हिंदुस्थान में आए, यह उपपत्ति सुनते ही स्वयं को अनार्य माननेवालों ने तथाकथित आर्य मानी जानेवाली जातियों को 'पश्चात् हिंदू' और स्वयं को 'आदि द्रविड़', 'आदि हिंदू' कहना शुरू किया या नहीं! फिर उस प्राचीन काल की जानकारी पौराणिक लुका-छिपी का स्वाँग उतारकर एकदम सही स्वरूप में प्रकट हो गई जान कौन मूल में अनार्य, कौन आर्य, कौन असुर, कौन दनुज, कौन हूण, कौन द्रविड़ आदि की सच्ची बातें घर-घर अकस्मात् ज्ञात हो जाएँ तो आज कितना हो-हल्ला मच जाएगा! कितने ही ब्राह्मण शुद्धकृत शक या मघ निकलेंगे, क्षत्रिय हूण निकलेंगे! ससुराल पक्ष आर्य, तो मायका नागवंशी या पैशाच निकल आएगा।

जो हो गया, सो हो गया! अब पिछला भूल जाओ!! यह वाक्य कहते ही कितने टूटे स्नेह फिर जुड़े हैं आज तक, कितने ही अनुतप्त प्रणय पुनः अनुरक्त हुए

हैं। निस्संदेह स्मृति जैसी विस्मृति भी एक ईश्वरीय कृपा ही है।

यदि ईश्वरप्रदत्त इन दो परस्पर विरुद्ध कृपाओं का उपयोग तारतम्य से किया जाता है तो ये दोनों ही मानव-जीवन के लिए उपयुक्त सिद्ध होती हैं; परंतु यदि हम सर्वदा पिछली बातों का ही स्मरण करते रहे या उन्हें भूलते रहे तो अपना जीवन अधिक दुःसह या असह्य हो जाएगा।

इस तारतम्य से देखने पर यह प्रश्न उठता है कि अपनी स्मृतियों को सार्वजनिक रूप से ग्रथित करना सार्वजनिक हित में है या नहीं? यह व्यक्तिपरक प्रश्न नहीं है, क्योंकि व्यक्ति को जो स्मृतियाँ सुखावह या हितावह लगती हैं, वह उन्हें तब तक फिर-फिर दोहराने के लिए स्वतंत्र है, जब तक उनसे किसीको कोई पीड़ा न हो। व्यक्ति से आगे परिवार, कुल या वंश से संबंधित स्मृतियों का क्रम आता है। कहा जाता है, चीन में ऐसी प्रथा है कि मृत व्यक्ति का केवल नामोल्लेख ही श्राद्ध के दिन नहीं किया जाता, वरन् उसके चरित्र की संक्षिप्त कथा भी कही जाती है, जिसे सारा परिवार सुनता है। इस तरह वहाँ परिवार का इतिहास सुरक्षित किया जाता है। वह पारिवारिक महत्त्व का होता है। उसके छपाने-पढ़ाने जैसा साहित्यिक अर्थ कुछ नहीं होता। यह भी सच ही है कि सामान्य जीवनक्रम में हजारों आदमी एक जैसे ही जीते हैं। जन्म, रोग, विवाह, संतति, मृत्यु एवं उससे संबंधित क्षुधा-शांति, भाव-भावना, सब एक समान है। ऐसे किसी एक चरित्र की पोथी, उसमें उल्लिखित नाम विशेष बदलने पर किसी भी अन्य व्यक्ति का चरित्र-चित्रण बन सकता है। ऐसे चरित्र परिवार-हित में परिवार के पास ही रहें; हाँ, कदाचित् कभी अनुवंशशास्त्र के शोधकर्ताओं के लिए उसका उपयोग हो। इतना ही उसका सार्वजनिक उपयोग हो सकता है।

व्यक्तिगत या पारिवारिक सीमा तक फैले चरित्रों की बात छोड़कर जिस किसी जीवन से किसी राष्ट्र या मनुष्य जाति के जीवन के धागे बँधे हैं, ऐसे सार्वजनिक व्यक्ति के चरित्र और स्मृतियों का प्रश्न आता है। ऐसे व्यक्ति का जीवन लाखों व्यक्तियों के जीवन का संकलित सार ही होता है। कभी-कभी तो ऐसा कोई एक जीवन पूरी पीढ़ी का इतिहास हो जाता है। अशोक या आल्फ्रेड दि ग्रेट का चरित्र निकालते ही उस पीढ़ी के इतिहास से पन्ने-के-पन्ने ही मानो फाड़कर फेंके-से लगते हैं। सामान्य रूप में ऐसा कहा जा सकता है कि लोक-जीवन पर जिनके जीवन का परिणामकारक प्रभाव किसी तरह पड़ा है, उनकी स्मृतियाँ ही सार्वजनिक प्रसिद्धि के लिए और सार्वजनिक हित में चिरस्मरणीय रहती हैं, और इसीलिए राष्ट्र या मानव के सामयिक साहित्य में उन्हें यथाप्रमाण स्थान प्राप्त करने का अधिकार होता है। ऐसे लोगों द्वारा यदि अपनी जीवन-स्मृतियाँ या आत्म-चरित्र सार्वजनिक

हित में ग्रथित कर प्रकाशित किए जाते हैं तो वे लोक-जिज्ञासा और वाङ्मय की सहनशीलता का अनुचित लाभ लेने के दोष के भागी न होकर अपनी आकांक्षा और ध्येय, प्रयत्न और पराक्रम, न्यूनता और पूर्णता की जानकारी जैसी संपत्ति अगली पीढ़ी के हितार्थ उसके हाथों में सौंप जाने का, अपने सार्वजनिक जीवन का अंतिम श्रेयस्कर कर्तव्य ही पूरा करते हैं।

मेरी जीवन-स्मृतियाँ उपर्युक्त तीन वर्गों में से अंतिम वर्ग में आती हैं, तभी उन्हें वैयक्तिक मृत्यु के साथ ही विस्मृति की राख में नष्ट न करके लोक-स्मृति के संग्रहालय में सुरक्षित रखने का प्रयास करना उचित होगा। पर क्या ये उस वर्ग की हैं?

मनुष्य-मात्र को अपनी कर्म-कथा, अपनी शेखी बघारने के अनुकूल जो भाग मिले, उसे कहने का मोह रोक पाना कठिन होता है। उस मोह को यथासंभव विवेक से दबाकर ममत्वशून्य दृष्टि से मैं अपने आत्म-चरित्र का समालोचन जब-जब तटस्थता से करता हूँ, तब-तब मुझे लगता है कि मेरा जीवन जब से मुझे ज्ञात है, वह भारतीय राष्ट्र के सार्वजनिक जीवन से संबद्ध है। इतना ही नहीं, बाद के काल में तो मेरा निजी जीवन राष्ट्रीय जीवन का एक प्रमुख और परिणामकारक घटक बनता चला गया है। मेरे लिए गौरवास्पद वयस्क पीढ़ी के अनेक राष्ट्रीय नेताओं से मेरा संबंध रहा। मेरे समकालीन लाखों तरुणों पर मेरे विचारों, प्रयासों और साहचर्य का अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष ऐसा परिणाम होने के कारण कि मुझे अपने जीवन में अनेक बड़े-बड़े राष्ट्रीय आंदोलनों में प्रमुख भूमिका निभाने का अवसर बार-बार मिलने से मेरे चरित्र की बनावट और रचना किस-किस तरह से होती गई, इसका मेरे द्वारा वर्णित वृत्तांत उस काल के राष्ट्रीय इतिहास की रचना के लिए उपयोगी ही है। मेरी स्मृतियाँ केवल मेरे अकेले चरित्र तक सीमित नहीं हैं, उनमें तो पूरी दो-तीन पीढ़ियों का जीवन प्रतिबिंबित होता है। और यह भी कि यदि मैं न कहूँ तो संभवतः उनके गुप्त कार्य और उत्कट राष्ट्रसेवा तथा महनीय त्याग की जानकारी भी लोगों को नहीं होगी। ऐसे अनेक लोकसेवकों, त्यागियों, शूरों और साधु पुरुषों की स्मृतियों को प्रत्यक्ष में सम्मानित कर उनके प्रति कृतज्ञता का ऋण अंशतः उतारने का काम भी मेरी स्मृतियों के प्रकाशन से होगा। इतना ही नहीं, जिस सशस्त्र क्रांति की अति जाज्वल्य और भव्य राष्ट्रीय भवितव्यता के आंदोलन से मेरा संबंध विशेष रूप से रहा था, उस उत्थान-काल के इतिहास का बहुत सारा भाग लोगों के लिए अज्ञात है। बंगाल के बहुत से देशभक्तों ने काफी-कुछ कहा है, फिर भी शेष बहुत सारा भाग कहनेवाला कोई विशेषज्ञ अब नहीं रहा। कुछ थे, वे कह नहीं सके। विरोधी शक्ति ने तो सशस्त्र क्रांतिकारी उत्थान की स्मृति को समूल नष्ट करने के

लिए हर एक मुँह को बंद करने का बीड़ा ही उठा रखा था। ऐसे समय में उस इतिहास पर अपनी स्मृतियों के आधार पर यथासंभव प्रकाश डालना एक राष्ट्रीय कर्तव्य ही है। यह कर्तव्य भी ऐसा अत्याज्य है कि केवल उसी एक कार्य के लिए अपनी स्मृतियाँ अपने साथ ही नष्ट होने देना अनुचित होगा।

उसमें भी मेरा चरित्र मूलत: कुछ ऐसे आकस्मिक, अद्भुत, क्षुब्ध करनेवाली विद्युत् तंतुओं से बुना हुआ है और कँपानेवाले सुख-दु:ख के रंगारंग से उसकी कुछ ऐसी सजावट हुई है कि केवल उसकी मनोबेधकता के लिए ही साहित्य में उसका होना आवश्यक है।

चूँकि इस तरह मेरी सुधियाँ-स्मृतियाँ कम-से-कम एक-दो पीढ़ियों को तो मनोबेधक, उद्बोधक लगे बिना नहीं रहेंगी, इसलिए मैं उन्हें लिखने का निश्चय कर रहा हूँ। यदि एक-दो पीढ़ियों के बाद सार्वजनिक साहित्य में उसकी अनुपयोगिता सिद्ध हो जाती है तो काल स्वयं ही उसे निकाल फेंकने का काम कर लेगा। इसका कारण यह है कि जैसे व्यक्ति के जीवन की एक काल-मर्यादा होती है, वैसे ही उस व्यक्ति के पीछे बची उसकी जीवन-स्मृतियों की भी होती है। व्यक्ति हो या व्यक्ति-स्मृतियाँ हों, पृथ्वी का अवकाश नवीन का सृजन करने के लिए निर्जीव और अनुपयोगी पुराने को नष्ट करने का कार्य करता ही रहता है।

सार्वजनिक उपयोग के लिए यदि स्मृतियाँ प्रकाशित करते हैं तो वे जैसी घटित हुईं, वैसी ही पूरी-की-पूरी प्रकाशित करना प्रामाणिक लेखक का कर्तव्य है। लोगों में शेखी बघारने के लिए केवल उपयुक्त भाग ही प्रकाशित करना मिथ्याचार है। लोकप्रियता की इच्छा लोकहितपरकता का सच्चा सूत्र नहीं है। इसका कारण यह है कि मनुष्य का शरीर उसके सहज या प्राप्त सब रोग-भोग का, संश्लिष्ट संघर्ष का समन्वित परिणाम होता है। इसलिए उसका हर कृत्य भी उसके तथ्यकथित गुणावगुणों के संश्लिष्ट संघर्ष का, उसकी पूर्ण भावनाओं का सम्मिश्र प्रतिफलन होता है। किसीको अच्छे लगनेवाले उसके गुण के उत्कर्ष में दूसरे को बुरे लगनेवाले उसके अवगुणों का सान्निध्य या सहकार्य भी होता ही है और उसके अवगुण उसके गुणों के बीजों का क्वचित् अपरिहार्य गौण रूपांतर भी होते हैं। जिसे भूसा कहकर फटक दिया जाता है, उसीके संरक्षण में, जिसे दाना कहकर उठाया जाता है, वह पलता-बढ़ता है। त्याज्य मल-मिट्टी का खाद गुलाब के फूल के लुभावने रंग, सुंदरता और सुगंध का एक अपरिहार्य घटक होता है। यदि हम गुलाब के फूल के विकास का समग्र रहस्य समझना चाहें तो उसकी जड़ों से कली तक, खाद-मिट्टी, सड़ी-गली पत्ती, उसके काँटे और डाली, टहनी सहित उसके सारे अंग-प्रत्यंगों, सब गौण उत्पादों पर भी विचार करना होगा। उनकी उपस्थिति और महत्त्व

को भी जानना होगा। मनुष्य के लिए भी वैसा ही है। उसकी रचना-प्रक्रिया को यदि सचमुच समझना हो तो उसके केवल उस भाग की महत्ता गाने से कोई लाभ नहीं होगा, जिसे उसकी महानता समझा जाता है। वह नख-शिख से जैसा था, वैसा ही उसे सामने रखा जाना चाहिए। वही छाया-चित्रकार श्रेष्ठ होता है, जो मनुष्य का वैसा ही चित्र लेता है, जैसा वह है—न अधिक सरस, न अधिक नीरस। इसलिए क्रॉम्वेल ने अपने चित्रकार को जताकर कहा था—'मैं जैसा हूँ, वैसा ही चित्रित करो, एक भी झुर्री मत छोड़ना।'

सूक्ष्मता से देखा जाए तो क्रॉम्वेल के व्यक्तित्व और कृतित्व में उसके तेज के बराबर ही झुर्रियों का भी महत्त्व था।

आत्मवृत्त कहनेवाले को अपना संपूर्ण चरित्र, स्वयं को या अन्यों को जो भाग अच्छा लगता है, वही नहीं, बल्कि कहने योग्य भली-बुरी सब स्मृतियाँ यथावत् कहनी चाहिए, यद्यपि उपर्युक्त कारणों से शास्त्रत: और तत्त्वत: यही उचित है, फिर भी आज तक जिन-जिन महान् व्यक्तियों ने आत्म-चरित्र लिखे, उनके लिए इस नियम का यथावत् पालन कभी तो संभव नहीं हुआ और कभी उचित नहीं लगा। इसका कारण यह है कि सत्य परिस्थिति से सापेक्ष हो जाता है, सीमित हो जाता है। मेरी रुचि अपने लोक-जीवन से जुड़ी हुई है। इसीलिए कहने योग्य अच्छी-बुरी सारी बातें निस्संकोच और निर्भयता से जैसी हैं, वैसी ही कहने योग्य होते हुए भी जिस समाज-स्थिति में और विशेपत: राजनीतिक परिस्थिति में मुझे यह आत्मकथन लिखना पड़ रहा है, उसके कारण अपनी उस रुचि को अंशत: दबाना पड़ रहा है। इसका एक कारण और भी है। हमसे जिन व्यक्तियों का संबंध रहा है, उनसे अनुमति लिये बिना उनकी बातों को प्रकट करना उनके साथ विश्वासघात हो सकता है। जब तक सज्जनों के सत्य का दुरुपयोग करने से दुष्ट चूकते नहीं हैं, तब तक व्यवहार की बेड़ियाँ तोड़कर स्वतंत्रता से विचरण करना सत्य के लिए दुर्घट होगा। ऐसे पेंच में फँसे हम आत्मवृत्त लिखने के पूर्व इतनी ही प्रतिज्ञा कर सकते हैं कि वे स्मृतियाँ हमें जैसी स्मरण होंगी, वैसी ही कहेंगे और उनको 'लोक छंदानुवर्ती' करने के लिए उनमें रंग नहीं भरेंगे। जैसे स्पष्ट स्मरण आनेवाली स्मृतियों में भी कभी-कभी अस्पष्ट स्मृत या पूर्ण विस्मृत स्मृतियों को मानकर चलना पड़ता है, वैसे ही हम मानकर चलेंगे और आज जिन स्मृतियों को कह नहीं पा रहे हैं, उन मनोरंजक स्मृतियों पर पड़ा गोपनीयता का परदा भी आगे-पीछे कभी एकाध प्रसंग से हटा देंगे।

□

प्रकरण–२

सन् १८५७ के बाद की राजनीति

मेरे क्रांतिकारी राजनीतिक जीवन का अंकुरण, विकास और कार्यक्रम मेरे जन्म के पूर्व की राजनीतिक उथल-पुथल और परिस्थितियों का एक परिणाम था, प्रतिक्रिया या अनुक्रिया थी। विशेषत: ब्रिटिश सत्ता हिंदुस्थान में प्रस्थापित होने के बाद उसे उखाड़ फेंककर हिंदुस्थान की राजनीतिक स्वतंत्रता फिर से स्थापित करने के लिए राज्यक्रांति के जो-जो छोटे-बड़े प्रयास हुए, उनकी परंपरा को आवश्यक अनुपात में समझ लेने के सिवाय, उसका समालोचन किए बिना, मेरे क्रांतिकारी राजनीतिक जीवन के गठन और उसमें निहित घटनाओं का कार्य-कारण भाव पूरी तरह ग्रहण नहीं किया जा सकता और उसका मूल्य-मापन भी यथाप्रमाण नहीं किया जा सकता।

रणजीत सिंह का राज्य जीत लेने पर पंजाब प्रांत जब ब्रिटिश सत्ता के अधीन हुआ, तब सारे हिंदुस्थान पर ब्रिटिशों का सचमुच एकसूत्री शासन चालू हो गया। ब्रिटिशों की उस दासता से अपनी मातृभूमि को मुक्त कराने के लिए हिंदुस्थान के क्रांतिकारियों का पहला सशस्त्र प्रयास सन् १८५७ में हुआ। उस प्रयास की उग्रता और विस्तार बढ़ते-बढ़ते एक ऐसे तुमुल युद्ध में बदल गया, जिसे इंग्लैंड और हिंदुस्थान का इतिहास कभी भुला नहीं सकता। वास्तव में उपर्युक्त पूर्वपीठिका या पृष्ठभूमि का समालोचन इसी सन् १८५७ के महान् क्रांतियुद्ध से किया जाना आवश्यक है।

इस क्रांतियुद्ध का समग्र इतिहास एवं विस्तृत समालोचन मैंने अपने War of Indian Independence ('सत्तावनचे स्वातंत्र्यसमर' अर्थात् १८५७ का स्वातंत्र्य-समर) ग्रंथ में पहले ही कर दिया है, उसे पुन: इस ग्रंथ में लिखने का कोई कारण नहीं रहा। अत: १८५७ के उस प्रथम प्रचंड क्रांतियुद्ध के शांत होने के बाद ही, अर्थात् सामान्य रूप से सन् १८६० से मेरे राजनीतिक जीवन की उमंग के आरंभ

अर्थात् सन् १८९५ के अंत तक का जो कालखंड बचता है, उस अवधि में हुए राजनीतिक आंदोलनों एवं क्रांतिकारी सशस्त्र प्रयासों का आवश्यक समालोचन मैं अपने 'आत्मवृत्त' की पृष्ठभूमि एवं पूर्वपीठिका के रूप में पहले कर देना चाहता हूँ।

भारतीय सेना की कायापलट एवं जनपदों का निःशस्त्रीकरण

सन् १८५७ के (प्रथम) स्वतंत्रता-संग्राम में भारतीय क्रांतिकारियों की हार और ब्रिटिशों की जीत के बाद हिंदुस्थान के पैरों में ब्रिटिश साम्राज्य सत्ता की बेड़ियाँ पहले से भी अधिक मजबूती से जकड़ने की पराकाष्ठा में उन्होंने सर्वप्रथम सेना की कायापलट की। जिस-जिस जाति के सैनिक या लोग हिंदुस्थान में ब्रिटिशों के आने के बाद से या सन् १८५७ के उस स्वतंत्रता-संग्राम में उनसे शत्रुत्व लेने या प्राणपर्यंत लड़ने से नहीं डरे, उस-उस जाति के लोगों को ब्रिटिश सेना में यथासंभव भरती न करने का निश्चय किया गया। अत: मराठों को सेना में सहज भरती मिलना बंद हो गया। मराठी चित्तपावन ब्राह्मणों का प्रवेश तो और भी सख्ती से रोका गया। इसके पीछे धारणा यह थी कि उनमें अंग्रेजों के विरुद्ध शत्रुत्व के बीज होते हैं और सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध के शीर्ष नेताओं में वे ही लोग थे। किंतु यह वास्तविक कारण न बताकर यह बताया जाता था कि वे सैनिक जाति के नहीं हैं। उन्हें यदि लिया भी जाता, तो धीरे-धीरे असैनिक (Non-Military) या सूची-बाह्य वर्ग (Unlisted Classes) में भेज दिया जाता। सन् १८५७ के संग्राम में जिन पल्टनों ने विद्रोह किया था, उनमें अधिकांशत: उत्तर प्रदेश के पुरबिया ब्राह्मण थे। वे अंग्रेजों से कठोरता से लड़े भी थे। अत: उनका भी सेना में प्रवेश बंद किया गया।

पंजाब के सिख और नेपाल के गोरखा सन् १८५७ के संग्राम में अंग्रेजों के प्रति निष्ठावान रहे। क्रांतिकारियों को पराजित करने में उन सिखों और गोरखा सैनिकों ने बड़ी बहादुरी दिखाई। इसलिए उन्हें सेना में बड़े-बड़े पुरस्कार-सम्मान दिए गए तथा उनको विशेष रूप से भरती किया गया। उसी तरह पठान, बलूच और पंजाबी मुसलमानों की भी भरती सेना में अधिक होती रही। इसका एक कारण सन् १८५७ के संग्राम में उनका अंग्रेजों का साथ देना था। दूसरा कारण यह था कि जिनके रक्त में हिंदू-द्वेष जन्मत: ही समाया हुआ है, ऐसे ये पठान, पंजाबी, बलूच मुसलमानों की सेना हिंदुओं का काँटा निकालने के लिए बिना किसी आशंका के उपयोग में लाई जा सकती थी।

हिंदुस्थान की सेना को इस तरह अपने अनुकूल ढालने के बाद अंग्रेजों ने देश के सारे नागरिकों को नि:शस्त्र कर डाला। इस तरह हिंदुओं के हाथों से शस्त्र-

साधन छीन लेने से अंग्रेजों के विरुद्ध सन् १८५७ की पुनरावृत्ति होने की सारी संभावनाएँ समाप्त हो गईं।

अंग्रेज इतने पर भी नहीं रुके। ब्रिटिश हिंदुस्थान तो नि:शस्त्र हो गया, पर बड़े-बड़े देसी राज्यों के लोग नि:शस्त्र नहीं थे। उन राज्यों के पास अपनी-अपनी संगठित सेनाएँ थीं। अंग्रेजों का रूस जैसा एकाध प्रबल शत्रु हिंदुस्थान पर आक्रमण करे और उसका हिंदुस्थान के थोड़े-से भाग में भी प्रवेश हो जाए तो वह लोगों को शस्त्र दे सकता था। इसलिए केवल सशस्त्र क्रांति के साधन हाथ से छीनकर खाली बैठने की बजाय सशस्त्र क्रांति की इच्छा ही हिंदू लोगों के हृदय से नष्ट कर दी जाए तो क्रांति होने का भय नहीं रहेगा—यह विचार अंग्रेज कूटनीतिज्ञों के मन में पहले से ही था। विजित जनों का मन जीत लेने का उपाय इतिहास में प्रभावी माना गया है। बचपन से ही विजितों की युवा पीढ़ी को विजेताओं के धर्म और संस्कृति में ढालकर उनमें विजेताओं के प्रति प्रेम-भाव जगाने के लिए ऐसी शिक्षा देना, जिससे उन्हें यह लगे कि अपना राज गया, तो अच्छा ही हुआ; विदेशी राज में ही अपना हित है और उसके विरुद्ध कार्य करना अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मारने जैसा है। ऐसे सारे विचार विजित लोगों की अगली पीढ़ी में भर देने चाहिए। उनके मन को ही मारकर या भरमाकर उन्हें ऐसा निष्क्रिय बना दें कि अगर किसीने शस्त्र आदि साधन हाथ में दे भी दिए तो क्रांति करने की इच्छा ही उन विजितों के मन में न उपजे। विजित होने की भावना की चुभन भी धीरे-धीरे उनके मन से नष्ट हो जाए और 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा'—ऐसी चापलूसी वे भक्तिभाव से करने लगें। अंग्रेजों का राज थोड़ा स्थिर हो जाने के बाद से मैकाले आदि कूटनीतिज्ञों ने इस कूटभाव से अंग्रेजी शिक्षा और ईसाई मिशनरियों की स्थापना सन् १८५७ के पूर्व ही चालू कर दी थी। सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध के बाद धर्मांतरण करानेवाली मिशनरियों की गतिविधियाँ तो काफी हद तक रुक गईं, परंतु सारे हिंदुस्थान में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार व्यापक स्तर पर बढ़ता गया।

ब्रिटिश राजसत्ता हिंदुस्थान में चिरस्थायी और भयविहीन रहे तथा सन् १८५७ के जैसे सशस्त्र विद्रोह की संभावनाएँ समाप्त हो जाएँ, इसके लिए अंग्रेजों ने जो-जो उपाय किए, उनके परिणाम अलग-अलग प्रांतों पर वहाँ के ऐतिहासिक, सामाजिक और स्वाभाविक भेदों के कारण अलग-अलग ही हुए। इसलिए यहाँ सन् १८६० से १८८४ तक की राजनीतिक परिस्थिति और उसके संदर्भ के प्रवाह में आनेवाले कुछ अन्य उपायों का विश्लेषण अपने अभिप्रेत दृष्टिकोण से मैं प्रांतश: करूँगा।

☐

प्रकरण–३

राजनीतिक परिस्थिति का विश्लेषण

(सन् १८६० से १८८४ तक)

बंगाल, मद्रास, आंध्र, कर्नाटक, गुजरात, बिहार और संयुक्त प्रांत

बंगाल

लगभग पाँच सौ वर्षों तक मुसलमानों के राज में असहनीय धार्मिक और सामाजिक अत्याचारों से दबी बंगाली हिंदू जनता अंग्रेजों के आक्रमण का पहले ही कोई सबल विरोध नहीं कर पाई थी। वहाँ की मुसलमान जनता भी अंग्रेजों की तुलना में इतनी दुर्बल, बुद्धिहीन और डरपोक हो गई थी कि एक भी उल्लेखनीय लड़ाई लड़े बिना ही अंग्रेजों ने वह प्रदेश हथिया लिया। सदियों से मुसलिम गुलामी में रह रही बंगाली हिंदू जनता जब सहज ही अंग्रेजों की गुलामी में चली गई, तब उन दो गुलामियों की तुलना करना ही उसके हाथ में रह गया था। मुसलमानों की गुलामी में निरंकुश तानाशाही और असह्य धर्म-छल तुलनात्मक रूप से अंग्रेजी राज में काफी कम हुआ था। इसीलिए नई सरकार बंगाली हिंदुओं को अधिक रास आई। अंग्रेजों के आगे मुसलमानी धर्मोन्माद ढीला पड़ गया। दुर्बलों के आगे अपनी शान बघारनेवाले मुसलमान अंग्रेजों के तलुवे चाटने लगे। इस तरह बंगाल में हिंदू और मुसलमान—दोनों ही अंग्रेजों के सामने भीगी बिल्ली बन गए। स्वतंत्रता-प्राप्ति की महत्त्वाकांक्षा तो दूर, सामान्य राजनीतिक प्रवृत्ति भी बंगाल में कुल मिलाकर अंग्रेजी शासन के पहले दशक में ही समाप्तप्राय हो गई थी।

इसी कारण जब सन् १८५७ के स्वातंत्र्य-युद्ध का प्रचंड दावानल आधे

हिंदुस्थान में भड़क रहा था, तब बंगाली जनता में नाममात्र की भी क्रांति की कोई चिनगारी नहीं भड़की। जिसका प्रचलित नाम 'बंगाल आर्मी' था, उस सरकारी सेना के विभाग में क्रांतिकारी षड्यंत्र हुआ और हिंदुस्थान की अन्य सेनाओं की तरह बंगाल आर्मी भी विद्रोह की राह पर चल पड़ी थी, यह सच है, पर 'बंगाल आर्मी' नाम का वास्तविक अर्थ ज्ञात न होने से अनेक लोगों की यह धारणा बनती है कि बंगाल ने भी सन् १८५७ के संघर्ष में भाग लिया था। यह धारणा गलत है। 'बंगाल आर्मी' का अर्थ कोई बंगाली सैनिक-बहुल सेना का विभाग नहीं था। सेना में सैनिक के रूप में उस समय का बंगाली समाज कभी भरती नहीं होता था। अतः उनकी बंगाली पल्टन कभी नहीं बनी। 'बंगाल आर्मी' नामक सेना वास्तव में अंग्रेजों द्वारा बंगाल में रखा हुआ सैनिक विभाग था। उसमें उत्तर प्रदेश के पुरबिया ब्राह्मण, कुछ पुरबिया मुसलमान और कुछ गैर-बंगाली सैनिक ही भरती थे। उससे बंगाली लोगों का कोई संबंध नहीं था।

बंगाल में जिस समय अंग्रेजी शिक्षा का प्रारंभ हुआ, उस समय मुसलिम समाज ने उस ओर झाँककर भी नहीं देखा। उनके मुल्ला-मौलवी मसजिद में जो कुछ कहते थे, उसीमें वे रँगे रहे। इसलाम का यथासंभव प्रचार, हिंदू-द्वेष और अंग्रेजों के स्वर में स्वर मिलाना—इसके अतिरिक्त अन्य कोई राजनीति बंगाली मुसलमानों में शेष नहीं थी। परंतु बंगाली हिंदू समाज ने अंग्रेजी शिक्षा में बहुत वेग से प्रगति की। इस कारण अंग्रेजों को नई राज-व्यवस्था स्थापित करने के लिए जो दूसरी श्रेणी के अधिकारी और लिपिकों की फौज चाहिए थी, वह मिलती गई। इसके विपरीत अंग्रेजी-शिक्षितों को छोटी-बड़ी जो नौकरियाँ तेजी से मिलती गईं, उसके कारण विद्यालयों-महाविद्यालयों में नामांकन के लिए भगदड़ मची रही। अनेक बंगाली हिंदू युवकों ने सीधे विलायत जाकर ब्रिटिश विश्वविद्यालयों से उपाधियाँ प्राप्त कीं। बड़ी-बड़ी सरकारी नौकरियाँ, वेतन, सम्मान, अधिकार—ये सब उन्हें मिलने लगे। इस तरह अंग्रेजी-शिक्षितों का एक नया वर्ग समाज में उत्पन्न हुआ। डॉक्टर, बैरिस्टर, संपादक, न्यायाधीश प्रभृति लोग उसमें से निकलते रहे। इससे वही वर्ग बुद्धिमान, मानवान और धनवान होता चला गया। समाज का नया नेतृत्व भी उसी वर्ग के हाथों में सहजता से चला गया। अंग्रेजों को यही चाहिए था। जिस कूट उद्देश्य से अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार अंग्रेजों ने चालू किया था, उसके अनुसार ही इस अंग्रेजी-शिक्षित समाज का मन भी अंग्रेजों ने जीत लिया था। अंग्रेजी शासन के कारण इस वर्ग की उन्नति होने से उनमें अंग्रेजी शासन के प्रति अपनापन बढ़ने लगा। यह शासन ऐसा ही बना रहे तो अपना अर्थात् देश का हित है, ऐसी उनकी भावना होती गई। वे राजनिष्ठ से अधिक ब्रिटिशनिष्ठ बन गए थे। समाज में

प्रमुखता, नेतृत्व और मार्ग प्रदर्शकत्व उन्हींको प्राप्त हो जाने से समाज में भी ब्रिटिश राजसत्ता के लिए अपनापन और निष्ठा की पकड़ बढ़ती गई। हम किसी परकीय विजेता के दास हैं, यह वेदना ही मिट गई। इसीलिए कुछ अपवादों को छोड़ दें और सामूहिक भावना की बात सोचें तो राजनीतिक असंतोष या राजनीतिक आंदोलन जैसा कुछ उस समय बंगाल में अस्तित्व में नहीं था। फिर क्रांति या सशस्त्र क्रांति की बात तो संभव ही नहीं थी। उस काल में अंग्रेजों को उस प्रांत से कोई विशेष चिंता नहीं थी।

सन् १८६० से १८८४ तक की अवधि में बंगाल में अंग्रेजी-शिक्षित वर्ग के नेतृत्व में यदि कोई आंदोलन जोर-शोर से चला था तो वह धार्मिक और समाज-सुधार का आंदोलन था। राजा राममोहन राय, टैगोर, केशवचंद्र सेन आदि प्रसिद्ध नेताओं की दो पीढ़ियों के प्रयास से बंगाल में 'ब्रह्मसमाज' का प्रचार, प्रतिष्ठा और प्रभाव बहुत बढ़ गया था। अंग्रेजी पढ़े हिंदू तरुणों में से बहुसंख्य के मन पर ब्रह्मसमाज के धर्ममत और आचार का प्रभाव था। बंगाल के हिंदू-समाज के आंदोलन के कारण धार्मिक, शैक्षणिक एवं सामाजिक जागृति व्यापक स्तर पर बड़े परिमाण में आई और अनेक प्रगामी सामाजिक सुधार हिंदू समाज के गले उतारे गए, यह बात सत्य है। परंतु ब्रह्मसमाज के प्रवर्तक एवं प्रमुख नेताओं से लेकर सर्वसाधारण युवा-से-युवा सदस्यों तक की मनोभूमिका में ब्रिटिश निष्ठा की जड़ें इतनी गहरी उतर गई थीं कि उनका रहन-सहन और आचार-व्यवहार ही नहीं, बल्कि उनके धार्मिक विचार भी पाश्चात्य जूठन और उधार लिया हुआ पाथेय लगे।

परंतु मिशनरियों से अधिक हिंदू समाज की दुर्दशा जब ब्रह्मसमाजी करने लगे—और वह भी हिंदुत्व पर चढ़े कलुष को साफ कर हिंदू समाज को अधिक तेजस्वी तथा ओजस्वी बनाने की अपनत्व-भरी महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होकर नहीं, अपितु हम हिंदू ही नहीं हैं, हमारा ब्रह्मसमाज तो एक नए धर्म का आविष्कार है और हम हिंदू समाज का भाग न होकर एक अलग स्वतंत्र समूह हैं, हिंदू समाज से फूटकर निकल जाने की बेशर्म धमकियाँ देते हुए—तब सनातन हिंदू समाज भी हड़बड़ाकर जागा और ब्रह्मसमाज का कट्टर विरोध करने लगा।

मिशनरी आरंभ से ही ब्रह्मसमाज को बढ़ावा दे रहे थे। हिंदू समाज को ढीला करने का अपना काम ब्रह्मसमाजी हिंदुओं द्वारा होता देखकर मिशनरियों को गुदगुदी होती थी। 'ब्रह्मसमाजी है' का अर्थ था कि वह ब्रिटिशनिष्ठ है। ऐसा विश्वास होने से ब्रिटिश शासन भी बड़े-बड़े ब्रह्मसमाजी नेताओं को मान-मान्यता देता था, समाज के प्रतिनिधि के रूप में उनको गौरवान्वित करता था।

ऐसी स्थिति में ब्रह्मसमाज का प्रभावी विरोध करने का एक ही अस्त्र

सनातनियों के हाथों में था और वह था जाति-बहिष्कार! आज यह अस्त्र पूर्व काल के अनेक आयुधों की तरह ही कुंठित हो गया है और फेंक भी दिया गया है। यह उचित ही है। तब भी उस काल में उस अस्त्र की धार के सामने मैं-मैं कहनेवाले अनेक नकली सुधारक थरथर काँपते थे। इस बहिष्कार की आँधी के चलते ही हिंदुओं के घरों में अशांति फैल गई। नाते-रिश्ते टूटने लगे। यह स्थिति कितने भयानक मोड़ पर जा पहुँची, इसका आकलन करने के लिए कालांतर में उदित उग्र राजनीतिज्ञ के रूप में ख्यात और देशभक्त के रूप में प्रसिद्ध विपिनचंद्र पाल का उदाहरण पर्याप्त है।

विपिनचंद्र पाल की आत्मकथा के अनुसार, बंगाल का लगभग पूरा अंग्रेजी-शिक्षित वर्ग उपर्युक्त सामाजिक एवं धार्मिक संघर्ष में ही भ्रमित और भारित पड़ा था, उसमें प्रभावी राजनीतिक चेतना उत्पन्न ही नहीं हुई थी। पाल बाबू की युवावस्था की कथा भी वैसी ही थी। उनकी युवावस्था का सारा उत्साह, शक्ति और समय ब्रह्मसमाज के प्रचार, आंदोलन और उसके उपपंथों के झगड़ों में नष्ट होता रहा। अपनी आयु के तीस वर्ष तक उन्होंने राजनीति में कोई रुचि नहीं ली थी। हर नए धर्म या पंथ में कुछ काल बाद अपरिहार्य रूप से जो फूट पड़ती है, वैसी फूट ब्रह्मसमाज में भी पड़ी और उपपंथों की स्थापना हुई। पाल बाबू उन उपपंथों में से एक में सक्रिय होकर युवा वय में ही 'ब्रह्मो' हो गए। उस समय ऊपर वर्णित जाति-बहिष्कार की परंपरा आरंभ हो गई थी। तरुण पाल जितने कट्टर ब्रह्मसमाजी थे, उनके पिता उतरती आयु में भी उतने ही कट्टर सनातनी थे। उन्हें अपने इकलौते पुत्र का 'ब्रह्मो' हो जाना जरा भी पसंद नहीं था। उन्होंने उन्हें परिवार और घर से निकाल दिया। इतना ही नहीं, 'उसे और उसकी संतान को भी मेरी मृत्यु के बाद मेरी संपत्ति का उत्तराधिकार नहीं मिलेगा'—ऐसा अपने मृत्यु-पत्र (वसीयतनामा) में साफ-साफ लिख दिया।

विपिन बाबू ने एक विधवा से ब्रह्मसमाजी रीति से विवाह किया था। उसे और उसकी संतान को पाल बाबू के पिता ने एक पैसा भी नहीं दिया। इस कारण विपिन बाबू को दरिद्रता से सतत संघर्ष करना पड़ा। कुछ वर्षों बाद जब उनके पिता ने खटिया पकड़ी, तब मृत्यु-शय्या से उन्होंने विपिन बाबू को अपनी संपत्ति में से कुछ अंश दिया, परंतु अपने इकलौते पुत्र के घर आने पर भी उन कृतनिश्चयी वृद्ध पिता ने मरते-मरते तक उस धर्म-बहिष्कृत पुत्र के हाथ का जरा भी अन्न-जल ग्रहण नहीं किया। सनातनी और समाजियों में जब ऐसा तीव्र संघर्ष चल रहा था, तब एक ओर विधवा विवाह, अंतरजातीय विवाह, समुद्रगमन आदि सामाजिक सुधार विरोध के बावजूद हिंदू समाज में मान्य होते चले गए। दूसरी ओर अपने उपपंथों की

मारामारी से तथा सनातनियों के प्रबल विरोध के कारण ब्रह्मसमाज हतबल, अनुपयोगी और शक्तिहीन होता चला गया। हिंदू समाज में से टूटकर अलग होनेवाले अनेक पंथों की जो गति हुई, वैसी ही गति ब्रह्मसमाज की भी हुई और वह हिंदू समाज में विलीन हो गया। वह सब कैसे हुआ, उसका विवरण यहाँ देना अनुपयुक्त है।

बंगाल का मुखर वर्ग इस तरह ब्रह्मसमाज के अधीन हो जाने से सन् १८८४ तक अधिकतर पूरे मन से ब्रिटिशनिष्ठ ही बना रहा। इस मत के समर्थन में एक ही साक्ष्य प्रस्तुत कर रहा हूँ। चूँकि वह अधिकृत है, इसलिए पर्याप्त भी है। ब्रह्मसमाज के उस काल के प्रमुख पीठाचार्य केशवचंद्र सेन—जिनकी ख्याति बंगाल भर में गूँज रही थी, जिनका शब्द बंगाल का प्रतिनिधि-शब्द माना जाता था—का मत, जिसे ब्रह्मसमाज के उस काल के कट्टर प्रचारक विपिनचंद्र पाल ने अपनी आत्मकथा के पृष्ठ ३१५ पर लिखा है, यहाँ ज्यों-का-त्यों उद्धृत है—Keshava Chandra and his Brahmo Samaj practically left the political field alone. If anything Keshava's politics accepted the British subjection of India as due to the intervention of God's special providence for the salvation of India.

इसका आशय है कि केशवचंद्र सेन और उनके ब्रह्मसमाज ने राजनीति के क्षेत्र में पैर भी नहीं रखा। उनका यदि कोई राजनीतिक सिद्धांत था तो यही कि हिंदुस्थान में स्थापित ब्रिटिश शासन हिंदुस्थान के हित के लिए कृपालु ईश्वर का दिया हुआ विशेष वरदान है।

कुछ मिशनरियों और ब्रिटिश सरकारी अधिकारियों ने ब्रह्मसमाज और उसके नेताओं का जो इतना बड़ा यशोगान उस समय किया, वह यों ही नहीं था। मैंने ऊपर जो लिखा है कि अंग्रेजों ने अंग्रेजी की शिक्षा जिस कूट उद्देश्य से चालू की थी, उनका वह उद्देश्य बंगाल के अंग्रेजी-शिक्षित वर्ग की दो-तीन पीढ़ियों तक तो सचमुच सफल ही रहा।

ब्रह्मसमाज की कला जैसे-जैसे उतरती गई, वैसे-वैसे बंगाल के अंग्रेजी-शिक्षित हिंदू समाज में राजनीतिक भावना जाग्रत होती गई। इस प्राथमिक राजनीतिक जागृति का श्रेय यदि किसीको प्रमुखता से दिया जा सकता है तो वह सुरेंद्रनाथ बनर्जी को दिया जाना चाहिए। बंगाल के आद्य राजनीतिक गुरु देशभक्त सुरेंद्रनाथ बनर्जी ही थे। परंतु उनके पूर्व चरित्र से यही सिद्ध होता है कि अपनी उम्र के तीस वर्षों तक अन्य अंग्रेजी-शिक्षितों की तरह ही उन्हें भी राजनीति का ऐसा ज्ञान नहीं था, आकर्षण तो बिलकुल ही नहीं था।

सुरेंद्रनाथ बीस वर्ष की उम्र को पार करने के पहले ही सन् १८६८ में सिविल

सर्विस की परीक्षा—जो उस समय की सबसे बड़ी परीक्षा मानी जाती थी—के लिए इंग्लैंड गए। तब तक राजनीति से उनका परिचय भी नहीं था। इंग्लैंड में भी पढ़ाई के सिवाय उन्होंने इधर-उधर ताक-झाँक नहीं की। परीक्षा उत्तीर्ण करके वे आई.सी.एस. हो गए। अर्थात् सरकारी नियमानुसार किसी-न-किसी उच्च अधिकारवाले पद पर उनकी नियुक्ति निश्चित थी। वे इसका इंतजार करते रहे, पर उन्हें यह सूचित किया गया कि 'तुमने अपनी वास्तविक आयु छिपाकर और परीक्षा के लिए नियत उम्र तक उसे घटाकर अपराध किया है।'

इस आरोप से मुक्त होने के लिए उन्हें बहुत कष्ट उठाने पड़े। परंतु अंत में वे निर्दोष सिद्ध होकर आरोप-मुक्त हुए। इसके बाद उनकी नियुक्ति बंगाल में सीधे मजिस्ट्रेट के पद पर हो गई। परंतु 'हम गोरों के साम्राज्य में एक 'नेटिव' (देसी) मनुष्य हमारी कुरसी से कुरसी मिलाकर ऐसे बड़े पद पर बैठे' यह बात उस काल के सत्ताभिमानी अंग्रेज अधिकारियों को काँटे की तरह चुभने लगी। उन्होंने शीघ्र ही सुरेंद्रनाथ को घात में लेने के लिए उनके कामकाज में एक चूक को निमित्त बना दिया। उसके आधार पर सरकार ने सुरेंद्रनाथ को अधिकारी पद से अपदस्थ कर दिया और इंडियन सिविल सर्विस की नौकरी के लिए अपात्र घोषित कर दिया।

इस असह्य अपमान और अन्याय के आघात से सुरेंद्रनाथ का स्वाभिमान जाग्रत हुआ। आंग्ल सत्ता द्वारा स्वदेश को पददलित होते हुए देखकर उस राष्ट्रीय अपमान से स्वाभिमान की जो ज्योति सुरेंद्रनाथ के हृदय में नहीं सुलग पाई, वह ज्योति आंग्ल सत्ता द्वारा किए गए वैयक्तिक अपमान से प्रज्वलित हो उठी। इन सब अपमानों का मूल इस देश की राष्ट्रीय दासता में है, यह सत्य उस अपमान से जगी ज्योति के प्रकाश में उन्हें साफ-साफ दिखाई देने लगा और सरकारी नौकरी का रास्ता छोड़ उन्होंने अपने को स्वदेश सेवा के लिए समर्पित करते हुए राजनीति में प्रवेश किया। परंतु उनकी राजनीति किस प्रकार की थी? राज्य की नहीं, राज्यक्रांति की तो बिलकुल नहीं। राज तो अंग्रेजों का ही रहे! उसमें कुछ सुधार हो, इतना ही। कुल मिलाकर शपथपूर्वक कही जा सकनेवाली ब्रिटिशनिष्ठ राजनीति। स्वयं सुरेंद्रनाथ महाशय ने अपनी राजनीति की रूपरेखा आत्म-चरित्र में अनेकशः चित्रित की है।

उस समय ऐसे बंगाली राजनीति के स्वरूप को आज अपने शब्दों में कहने की अपेक्षा उस समय के बंगाली नेताओं की भाषा में कहना अधिक यथातथ्य होगा। इसके लिए तत्कालीन 'गरम' नाम से प्रसिद्ध मुखपत्र—जिसके गरम पक्ष के कारण ब्रिटिश शासन ने उस पत्र पर राजद्रोह का मुकदमा चलाकर उसे बंद करने तक का विचार किया था—ऐसे एक बंगाली वृत्तपत्र में सरकारी आपत्तियों का उत्तर देने के लिए लिखे लेख का एक भाग विपिनचंद्र पाल के आत्म-चरित्र के

पृष्ठ २८१-२८२ पर दिया हुआ है, उसे ही यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ। वह बंगाली पत्र लिखता है—

'अंग्रेज हमसे किस तरह की राजनिष्ठा की अपेक्षा करते हैं, वह हमें मालूम नहीं। हमें इतना ही ज्ञात है कि अंग्रेजी शासन हमारे लिए हितकारक होता आया है। किसी भी राज्य में और कभी भी इस देश में ऐसा न्याय, ऐसी शिक्षा और ऐसी शांति का लाभ नहीं हुआ था। बहुत क्या, प्राचीन हिंदू काल में भी आज के ब्रिटिश राज जैसा न्याय, शिक्षा और शांति पूरे देश में नहीं थी! यद्यपि बहुत बातों में हम पिछड़े हैं, फिर भी हम कोई जंगली या निर्बुद्धि लोग नहीं है। अंग्रेजों से अनेक बहुमूल्य लाभ हमें हुए हैं, यह हम जानते हैं। किसी भी विजयी राष्ट्र ने किसी भी विजित राष्ट्र से कदाचित् ही इतना उदार व्यवहार किया हो, जितनी उदारता से ब्रिटिश शासक हमारे देश की प्रजा से व्यवहार कर रहा है। यह सब सच होते हुए भी इसके लिए अंग्रेजों के हाथों कभी पक्षपात नहीं होता या उनके द्वारा दिए वचनों का पालन किया ही जाता है—ऐसा हमें क्या मानना ही चाहिए?

'अंग्रेजी शासन ईश्वरीय वरदान है। स्वयं रामराज्य की अपेक्षा या चंद्रगुप्त, अशोक, विक्रमादित्य, श्रीहर्ष, पुलकेशी आदि हमारे हिंदू सम्राटों के शासन से भी अधिक हितकारी यह परकीय शासन है। अत: इस ब्रिटिश शासन के प्रति राजनिष्ठ रहना और ब्रिटिश सम्राट् का कृपाछत्र हिंदुस्थान पर वैसा ही अभंग रहे, इसकी प्रार्थना करना, कृतज्ञता की दृष्टि से भी अपना नैतिक कर्तव्य है।' सन् १८८४ तक बंगाल के धार्मिक एवं राजनीतिक नेताओं तथा उनके लाखों आंग्ल शिक्षित या अशिक्षित अनुयायियों की यह राजनीतिक निष्ठा थी, यह बात उस समय के बंगाल के प्रतिनिधि, प्रमुख और इसके साक्षी केशवचंद्र सेन, सुरेंद्रनाथ बनर्जी तथा विपिनचंद्र पाल के ऊपर दिए उद्गारों से पूर्णत: सिद्ध होती है। फिर भी कई लोगों को कदाचित् ऐसा लग सकता है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि उपरोक्त ढंग से व्यक्त की जानेवाली निष्ठा अंग्रेजी क्रिमिनल कोड की कैंची से बाहर बने रहने के लिए या राजनीति के एक दाँव के रूप में ऊपरी तौर पर प्रदर्शित की जाती हो? तो उस शंका के निवारणार्थ उस समय के प्रसिद्ध नेता विपिनचंद्र पाल का निम्नलिखित साक्ष्य देखें। अपने आत्म-चरित्र में इस शंका के विरुद्ध वे लिखते हैं—

'It was not merely a diplomatic move to save their skin. Educated Indian opinion in those days sincerely wanted the continuance of the British rule. The generation to which they belonged had not completely forgotten the last days of Moghal Empire marked by universal anarchy and disorder. The British

had replaced that reign of terror by a new reign of law. Their professions of loyalty to the British Government were therefore absolutely sincere not withstanding their criticism of the acts and policies of the Indian Government.' (Pal's autobiography, p. 291 to 293).

विपिन बाबू के उपर्युक्त विचार पूर्णतः यथार्थपरक हैं। उस अवधि में उनके स्वयं के विचार भी वैसे ही थे।

परंतु सन् १८६० से १८८४ तक की पीढ़ी की ही बात क्यों करें? मेरी स्वयं की पीढ़ी में ही ब्रिटिश सम्राज्ञी रानी विक्टोरिया अथवा ब्रिटिश सम्राट् 'नः विष्णुः पृथवीपतिः' इस शास्त्राधार से कितने ही लोगों द्वारा ईश्वरांश माने जाते रहे। जिन अंग्रेज लोगों ने हमारे ऊपर अनंत उपकार किए, उनका शासन उखाड़ फेंकने की इच्छा करना नैतिक अपराध है, पाप है। अंग्रेजी राज का कृपाछत्र हमपर ऐसा ही अटूट बना रहे, उसीमें हमारा परम कल्याण है—ऐसी निष्ठा रखनेवाले अनगिनत आंग्ल-शिक्षित नए पदवीधारी और पुराने शास्त्री पंडित, नेता तथा अनुयायी, वृद्ध एवं तरुण पूरे हिंदुस्थान में थे। उनमें से कितनों का विचार-परिवर्तन हुआ, इसके अनेक उदाहरण मेरे इस आत्म-चरित्र के आगामी वृत्तांतों में दिखेंगे।

मद्रास, आंध्र, कर्नाटक एवं गुजरात प्रांत

सन् १८६० से १८८४ तक के कालखंड में जो राजनीतिक परिस्थिति बंगाल में थी, वह पंजाब और महाराष्ट्र को छोड़कर मद्रास, आंध्र, कर्नाटक एवं गुजरात प्रांतों के उस कालखंड की राजनीतिक परिस्थिति एवं अंग्रेजी-शिक्षित मानसिकता की सर्वसाधारण रूपरेखा है। सन् १८५७ के स्वातंत्र्य-युद्ध के समय बंगाल की तरह मद्रास, आंध्र, कर्नाटक और गुजरात प्रांतों में राष्ट्रीय ध्येय से अनुस्फूर्त ऐसा क्रांतिकारी उठाव नहीं हुआ। हिंदुस्थान सरकार की सेना में इन सब प्रदेशों के लोगों की गिनने योग्य भरती कभी हुई ही नहीं थी। सन् १८५७ के बाद अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार मद्रास प्रांत में बहुत तेजी से और अन्य प्रांतों में धीरे-धीरे हुआ, परंतु वह बढ़ता ही रहा। इस कारण आंग्ल-शिक्षितों का जो नया वर्ग वहाँ उत्पन्न हुआ, वह भी बंगाल जैसा ही पूरा ब्रिटिशनिष्ठ था। बंगाल में ब्रह्मसमाज जैसी एक प्रबल धार्मिक एवं सामाजिक संस्था का उदय होने से, उसकी चुभन से पूरे बंगाली हिंदू समाज में बड़ी खलबली मची, विचारों में तेजी आई, आचार में कुछ अंश में उपयुक्त सुधार हुए, लेकिन वैसा कोई प्रबल धार्मिक और सामाजिक आंदोलन उस कालखंड में मद्रास, आंध्र, कर्नाटक और गुजरात प्रांतों में नहीं हुआ। सन् १८८४ के आसपास अंग्रेजी-

शिक्षितों में कुछ राजनीतिक जागृति आने लगी। मद्रास में 'महाजन सभा' सन् १८८१ में स्थापित हुई, परंतु उसकी दौड़ भी बंगाल की तरह अधिक-से-अधिक कहें तो ब्रिटिश राज के सुराज तक ही सीमित थी।

बिहार एवं संयुक्त प्रांत

सन् १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम के बाद दिल्ली से नीचे बुंदेलखंड तक तथा बिहार एवं संयुक्त प्रांत की सारी जनता राजनीतिक दृष्टि से अचेतन हो गई थी। लेकिन उसका कारण अलग था। उस प्रचंड क्रांतियुद्ध का रणक्षेत्र यही बना था। स्वदेश एवं स्वधर्म की स्वतंत्रता के लिए उस युद्ध में अंग्रेजों से लड़ते हुए यहीं की जनता ने अपना रक्त, अपनी शक्ति और अपने प्राण इतनी उत्कटता से अर्पित किए थे और उस क्रांतियुद्ध में उनकी पराजय होने के बाद अंग्रेजों ने उनपर इतने अत्याचार किए थे कि लड़ते-लड़ते रणभूमि में मूर्च्छित होकर गिरे हुए किसी वीर की भाँति ही सारा विस्तीर्ण प्रदेश-का-प्रदेश मूर्च्छित पड़ा था। फिर धीरे-धीरे उनकी संतानें अंग्रेजों द्वारा स्थापित विद्यालयों और महाविद्यालयों में अंग्रेजी पढ़ने लगीं। उनको अंग्रेजी सरकार के सेवा विभाग, न्याय विभाग तथा आरक्षी विभाग में नौकरियाँ, अधिकार, पद और उपाधियाँ मिलने लगीं। इस नियत क्रम से अन्य प्रांतों के आंग्ल-शिक्षित वर्ग की तरह संयुक्त प्रांत का यह वर्ग भी विचार एवं आचार से ब्रिटिशनिष्ठ बनता गया जो सन् १८५७ के क्रांतिकाल की पीढ़ी की भव्य भावना से बिलकुल विसंगत, अधिकतर विरोधी था। हर कोई स्वार्थों में खोया हुआ था। आगे फिर जो थोड़ी राजनीतिक जागृति हुई, वह भी पूरी तरह मंद थी।

ब्रिटिशनिष्ठ सुराज के आंदोलनों में बंगाल में जितनी जोश और जान दिखाई देती थी, सन् १८८४ तक इस प्रांत के आंग्ल शिक्षित वर्ग की दुर्बल राजनीतिक हलचल उतनी भी नहीं थी।

□

प्रकरण–४

राजनीतिक परिस्थिति का प्रांतीय विश्लेषण

(सन् १८६० से १८८४ तक)

पंजाब और देसी राज्य

पंजाब

बंगाल, मद्रास इत्यादि प्रदेशों में अंग्रेजी सत्ता अच्छी तरह जम जाने अर्थात् पचास-पचहत्तर वर्ष बीत जाने तक भी पंजाब प्रांत में अंग्रेजी शासन स्थापित नहीं हो पाया था। सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध के समय तक पंजाब की स्वतंत्रता का हरण हुए केवल नौ-दस वर्ष बीते थे। इसलिए अंग्रेजों को भी यह डर था कि पंजाब के सिख, जिनका राज कोई नौ-दस वर्ष पूर्व ही उनसे छीना गया था, अब उनके विरुद्ध विद्रोह कर सन् १८५७ के क्रांतिकारियों से मिले बगैर नहीं रहेंगे। क्रांतिकारियों ने भी सिखों को तरह-तरह से समझाया था कि 'अंग्रेजी सत्ता का जुआ' कंधे से उतार फेंकने का ऐसा स्वर्णिम अवसर फिर आनेवाला नहीं है। अंग्रेजों की सारी सेनाएँ हमसे लड़ने दिल्ली, लखनऊ और कानपुर की ओर भेजी गई हैं और पंजाब खुला पड़ा है। अतः तुम्हारी सिख पल्टनें यदि शेष मुट्ठी भर अंग्रेजों पर टूट पड़ेंगी तो पंजाब से अंग्रेजी सत्ता उखाड़ फेंकने में एक सप्ताह भी लगनेवाला नहीं है। इस प्रकार उन्हें सारे हिंदुस्थान से भगाया जा सकेगा।'

उस समय सिखों का कोई नेता नहीं था। जैसे किसी आदमी को अकस्मात् बुद्धिहीनता का दौरा पड़ जाता है, वैसे ही सिख समाज की बुद्धि भी कुंठित हो गई थी। उन्होंने अंग्रेजों से बदला लेकर अपना राज स्थापित तो किया नहीं, उलटे जिन लाखों क्रांतिकारियों ने दिल्ली से नर्मदा तक अंग्रेजी राज उखाड़ फेंका था, अपने उन

राष्ट्र-बंधुओं के पैरों में विदेशी शत्रु की बेड़ियाँ फिर पक्की करने के लिए युद्धभूमि में प्राणों की बाजी लगाकर अंग्रेजों का साथ दिया। अंत में क्रांतिकारियों को पराजित कर अंग्रेजों ने विजय पाई, उन्हें राज मिला, परंतु सिखों को क्या मिला? अंग्रेजी सेना में भरती और ब्रिटिश राज के 'राजनिष्ठ प्रजाजन' अर्थात् एकनिष्ठ दास की पदवी!

उस क्रांतियुद्ध की पराजय के बाद अन्य प्रांतों की तरह ही पंजाब में भी अंग्रेजी सत्ता निरंकुश होकर राज करने लगी। अंग्रेजी शासन की व्यवस्थाएँ चालू हो गईं और उनको चालू रखने के प्रयोजन से अंग्रेजी-शिक्षित लिपिक एवं द्वितीय श्रेणी के अधिकारियों की पूर्ति के लिए अंग्रेजी विद्यालय-महाविद्यालय खुलने लगे। बंगाल तथा मद्रास की पीढ़ियाँ जब अंग्रेजी-शिक्षित हो गए, तब पंजाब के लड़के ए.बी.सी.डी. सीखने लगे। तब तक सारा राजकाज उर्दू-फारसी में चलता था। अत: प्राथमिक शालाओं में मुसलमान शिक्षकों का ही बोलबाला था। बंगाल में जैसे अंग्रेजी पढ़ाने के बहाने हिंदू लड़कों पर ईसाई धर्म के संस्कार डालने के प्रयास मिशनरी शिक्षक करते थे, वैसे ही, अपितु उससे भी अधिक, अनिर्वचनीय और आपत्तिजनक ढंग से ये मुल्ला-मौलवी विद्यालयों और घरों में पढ़ाते समय हिंदू लड़कों पर इसलाम का प्रभाव डालकर उनका मुसलिमीकरण करने का प्रयास करते थे। बंगाल में अंग्रेजी शासन-काल की पहली-दूसरी पीढ़ी के शिक्षित हिंदू तरुणों का झुकाव जैसे ईसाई धर्म की ओर हो जाता था, वैसे ही पंजाब के हिंदू तरुणों का झुकाव मुसलिम धर्म की ओर हो जाता था। पंजाब में अंग्रेजी शिक्षा फैलने के कारण उस अंग्रेजी-शिक्षित हिंदू वर्ग पर बंगाल की तरह ही ब्रह्मसमाज का प्रभाव पड़ेगा, इस आशा से ब्रह्मसमाज ने पंजाब में भी एक शाखा आरंभ की थी। वह (ब्रह्मसमाज) अपने प्रचार में प्राय: हिंदू समाज की निंदा ही करता था, मुसलमानों या ईसाइयों की धार्मिक या सामाजिक पोलें खोलने की उसकी तनिक भी हिम्मत नहीं होती थी। ब्रह्मसमाज की ऐसी पक्षपातपूर्ण और कायरों जैसी हिंदू-निंदा से मुसलमानों एवं ईसाइयों के हाथ मजबूत ही होते थे। इससे हिंदुओं का धैर्य टूटता था। इस प्रकार जहाँ हिंदू समाज की अस्मिता क्षीण होती जा रही थी, वहाँ कैसी राजनीतिक जागृति और क्या अन्य बातें?

ऐसे घोर मानसिक और आत्मिक अंधकार में टटोलते चल रहे पंजाब के हिंदू समाज को मिला अकस्मात्—'मा भी: डरो नहीं'—ऐसा आश्वासन देनेवाला आकाशवाणी-सदृश स्वामी दयानंद सरस्वती का संदेश। निस्संदेह मुसलमानों और ईसाइयों की कैंची में फँसे पंजाब के हिंदू समाज को यदि किसी महापुरुष ने कम-से-कम धार्मिक और सामाजिक संकट से मुक्त कराया तो वह स्वामी दयानंद सरस्वती ही थे। उसमें भी सौभाग्य की बात यह कि दयानंद के आर्यसमाज की सारे

हिंदुस्थान में प्रबल अगुवाई यदि किसीने की, तो वह पंजाब के अंग्रेजी पढ़े-लिखे वर्ग ही थे। रोगी के लिए आवश्यक रामबाण औषधि उसे मिली और वह भी समय पर। पंजाब के संशयात्मा हिंदू समाज के लिए ब्रह्मसमाज मारक था। जमे-जमाए रोग पर वह पुराणोक्त कुपथ्य के समान था। उस परिस्थिति से उसको तारने में आर्यसमाज ही समर्थ हुआ।

ब्रह्मसमाज रूपी भवन का निर्माण परकीय संस्कृति की नींव पर हुआ था, परंतु आर्यसमाज मंदिर स्वकीय संस्कृति की नींव पर खड़ा था। इसलिए एक ओर मुसलमानी प्रचार-आक्रमण और दूसरी ओर अंग्रेजी शिक्षा के स्वत्व-घातक कुसंस्कार—इन दोनों को मार गिराने में सापेक्षत: समर्थ, प्रबल सिद्धांत और अग्रगामी सुधार पर आधारित स्वामी दयानंद का आर्यसमाज ही उस परिस्थिति में पंजाब के हिंदुओं का युगधर्म बनने के योग्य था। परिणाम भी वही हुआ। जिनके भी मन पर आर्यसमाज का प्रभाव पड़ता था, वे हिंदू सिर्फ स्वधर्म ही नहीं, स्वराष्ट्र के भी कट्टर उपासक बन जाते थे। कुल मिलाकर यही कहा जाएगा कि अंग्रेजी पढ़ा-लिखा हिंदू वर्ग आर्यसमाजी हो गया। वह नव चैतन्य से भर गया। उनमें से अनेक प्रमुख लोगों ने स्वधर्म प्रचारार्थ संन्यासी बनकर समाज-सेवा स्वीकार की। बड़ी-बड़ी शिक्षण-संस्थाएँ स्थापित कीं। आर्यसमाज के ऐसे सावेश प्रचार में वहाँ का बुद्धिशील वर्ग तद्रूप और तल्लीन हो गया।

सारे ही हिंदू नेताओं का ध्यान इस धार्मिक आंदोलन में पूरी तरह लग जाने से पंजाब में प्रचलित राजनीतिक जागृति लाने के कार्य में इस वर्ग की ओर से उदासीनता बरती जाने लगी। आर्यसमाज भी धार्मिक और सांस्कृतिक संस्था थी, यह बात सच थी। स्वामी दयानंद के 'सत्यार्थ प्रकाश' में राजनीति भी धार्मिक कर्तव्य ही है। इतना ही नहीं, अपितु स्वराज नीति ही आर्यों की वास्तविक राजनीति है, यह बात स्पष्टता से उस ग्रंथ के एक स्वतंत्र समुल्लास में आदेशित है। इसीलिए पहले से ही अंग्रेजों की दृष्टि आर्यसमाज पर थी। अंग्रेज सरकार के कोप से अपनी संस्था को कोई हानि न हो, ऐसा कोई कारण भी अंग्रेज सरकार को न मिले, इसलिए आर्यसमाज के नेताओं ने पहले ही जताते हुए ऐसा बंधन अपने ऊपर लाद लिया था कि आर्यसमाज केवल धार्मिक और सामाजिक संस्था है, उसका राजनीति से कोई लेना-देना नहीं है। आर्यसमाज के प्रमुख नेताओं से लेकर सामान्य सभासदों तक कोई भी प्रचलित राजनीति में ऐसी भागीदारी न करे जो अंग्रेजी राजसत्ता की दृष्टि में चुभे, यह प्रतिबंध इस समाज ने स्वयं ही स्वीकार किया था।

इस तरह सन् १८६० से १८८४ तक की पंजाब की स्थिति राजनीतिक

दृष्टि से देखें तो कहा जा सकता है कि सिख समाज अपनी ब्रिटिश निष्ठा के कारण ब्रिटिश सेना का भरती-क्षेत्र बन गया था। मुसलिम समाज अवसर मिलते ही हिंदू समाज को तो डंक मारता रहा, पर शक्तिशाली ब्रिटिश सरकार के आगे दीन बना रहा जबकि प्रबुद्ध हिंदू समाज धार्मिक, शैक्षणिक और सामाजिक आंदोलनों में सम्मिलित हुआ और प्रचलित राजनीति से दृढ़तापूर्वक निर्लिप्त बना रहा। परिणामत: सन् १८८४ तक बंगाल में सुरेंद्र बाबू की प्रेरणा से राजनीतिक प्रगति सुराज की माँग तक आ पहुँची थी, जबकि पंजाब में राजनीतिक हलचल भी शुरू नहीं हुई थी।

इसमें एक अपवाद भी था और वह भी 'सौ चोट सुनार की तो एक चोट लुहार की' वाले न्याय की भाँति। इस सारी राजनीतिक उदासीनता का बदला एक ही प्रहार से लेनेवाले गुरु रामसिंह कूका के सन् १८७० से १८७४ तक चले सशस्त्र क्रांतिकारी आंदोलन का वृत्त हम सुसंगत स्थान पर देंगे। यहाँ इतना ही कहना काफी है कि जिस प्रकार मध्य रात्रि के अंधकार में बिजली चमक जाने के बाद भी अँधियारा बना रहता है, उसी प्रकार क्रांति की यह आग क्षण में लगी और क्षण में बुझ गई; पंजाब राजनीतिक अंधकार में वैसा ही सोया रहा।

उस समय पंजाब की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थिति की उपर्युक्त रूपरेखा सही है या नहीं, यह देखने के लिए पंजाब के अर्वाचीन राजनीतिक गुरु के रूप में सम्मानित लाला लाजपतराय के आत्म-चरित्र का कुछ भाग यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

"मेरे पिताजी बचपन में जिस विद्यालय में पढ़ते थे, उसका मुख्याध्यापक एक कट्टर मुसलमान मौलवी था। सभी (हिंदू) लड़कों पर उसका प्रभाव इतना अधिक था कि उनमें से बहुत से लड़के धर्म-परिवर्तन कर मुसलमान हो गए थे। जिन्होंने खुले रूप में धर्म नहीं बदला, वे भी अपने धर्म पर विश्वास उठ जाने के कारण मन से मुसलमान हो गए थे। मेरे पिताजी दूसरे वर्ग में आते थे। वे दैनिक नमाज पढ़ते थे। 'रोजा' रखते थे। वे हिंदू धर्म और आर्यसमाज के कट्टर शत्रु थे और समाचारपत्रों में उसके विरुद्ध तीखे लेख लिखते थे। मेरी माता सर्वधर्मपरायण सिख परिवार की थीं। मेरी माता को मेरे पिता 'ऐसा करो, वैसा करो, नहीं तो मैं खुल्लमखुल्ला मुसलमान हो जाऊँगा' कहकर डाँटते रहते थे। बचपन में मुझे भी पिताजी ने थोड़ा-बहुत कुरान पढ़ाया। उनकी देखा-देखी मैं भी नमाज पढ़ता था, मुसलमानों के रोजा (उपवास) भी करता था। विद्यालय में मुझे अरबी, फारसी भाषाओं और इसलाम धर्म की शिक्षा दी जाती थी। इन सब बातों से मुझे लगने लगा था कि हिंदू और सिख—दोनों ही धर्ममत अंधविश्वास और मूर्खतापूर्ण किस्से-

कहानियों से ओत-प्रोत हैं।

'सन् १८८२ से पंडित गुरुदत्त से मेरी मित्रता बढ़ने लगी। इस मित्रता से धर्म-संबंधी मेरे विचारों को गति मिली और उन्हें राजनीतिक स्वरूप मिला। जैसे-जैसे यह भावना बलवती होती गई, मैं इसलाम धर्म के संस्कारों से दूर होने लगा।'

इसके पश्चात् पंडित गुरुदत्त के समान ही लाला हंसराज, लाला साईंदास आदि आर्यसमाज के महान् त्यागी विद्वान्, संस्कृतज्ञ और स्वधर्मनिष्ठ नेताओं से लाजपतराय का परिचय हुआ। इससे बाल्यकाल से उनके मन पर जमी धार्मिक पाखंड की काई दूर होती गई। आर्यसमाजी वाङ्मय के अध्ययन से उनको प्राचीन भारतीय इतिहास और वैदिक धर्म के मूल तत्त्वों का सत्य ज्ञान हुआ। मुसलिम और ईसाई उपदेशकों की बातें कितनी निंदनीय होती हैं, यह बात समझ में आने लगी। उनका राष्ट्रीय स्वाभिमान जाग उठा। किसी प्राणलेवा संकट से बचकर पुनर्जन्म होने जैसा आनंद लाजपतराय को प्राप्त हुआ। वे लिखते हैं—'मैं फिर से हिंदू हो गया! पाठक ध्यान दें कि जिसका बचपन मुसलमानी वातावरण में बीता, तरुणाई के प्रारंभ में जो ब्रह्मसमाजी बना, वही मैं पंडित गुरुदत्त, लाला हंसराज आदि की सहायता से प्राचीन आर्य संस्कृति एवं धर्म का भक्त बना! मैं फिर से हिंदू हो गया।

'राष्ट्र की एकता के लिए पूरे भारत में नागरी लिपि और हिंदी भाषा का प्रचार होना आवश्यक है, ऐसा जब मुझे लगने लगा, तब अंबाला में जाकर मैंने उर्दू के विरुद्ध भाषण दिया। पंजाब में उस समय अधिकतर सरकारी कामकाज, बाजार, समाचारपत्र आदि की भाषा उर्दू ही थी। संस्कृत का ज्ञान और नागरी लिपि तो शिक्षित हिंदू वर्ग भी भुला बैठा था—पंडित वर्ग तो नामशेष ही हो गया था। हिंदी भाषा और नागरी लिपि का प्रचार होना चाहिए, यह बात मैंने बड़े आग्रह से व्याख्यान में कही। उसपर टीका हुई। मैंने नागरी वर्णाक्षर सीखना चालू किया। हिंदी पर ही सारा ध्यान केंद्रित करने के लिए मैंने अरबी-फारसी पढ़ना पूरी तरह बंद कर दिया। पंडित गुरुदत्त के प्रोत्साहन से मैंने संस्कृत भी सीखनी चाही, परंतु सीख नहीं पाया।'

पंडित गुरुदत्त की तरह ही लाला साईंदास भी वैदिक धर्म और संस्कृति के कट्टर प्रचारक थे। लाजपतराय लिखते हैं—''लॉर्ड रिपन के सार्वजनिक सत्कार के समय बनारस के पंडितों ने लॉर्ड रिपन की गाड़ी स्वयं खींची, यह सुनकर लाला साईंदास को बहुत दुःख हुआ। पंडितों के इस कृत्य से हिंदू धर्म के मुख पर कालिख लग गई, ऐसा उन्होंने कहा।'

लालाजी आगे लिखते हैं—'कुल मिलाकर परिस्थिति ऐसी होते हुए भी मेरे राजनीतिक विचार अधिक स्पष्ट नहीं थे। आर्यसमाज के मंच से जो व्याख्यान मैंने

उस अवधि में दिए, उनमें मैं ब्रिटिश सरकार की स्तुति करता था। मुसलमानों के अत्याचारों से अंग्रेजों ने हमें मुक्त किया, ऐसा मुझे लगता था। साधारण जनता का भी मत ऐसा ही था। सन् १८८३ से १८८५ के मध्य तक मेरे इन राजनीतिक विचारों में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ; उनमें परिवर्तन होने जैसा कोई अवसर भी नहीं आया।'

बंगाल में अंग्रेजी शासनकाल में राजनीतिक आंदोलन के जन्मदाता जैसे सुरेंद्रनाथ बनर्जी थे, वैसे ही पंजाब के आधुनिक राजनीतिक आंदोलन के आद्य गुरु लाला लाजपतराय थे। उन्होंने अपने आत्म-चरित्र में प्रामाणिकता और स्पष्टता से जो कहा है, उससे सन् १८८४ तक अर्थात् १८७४ में पंडित रामसिंह कूका के अनुयायियों द्वारा अंग्रेजों के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह प्रारंभ करने के दस वर्ष बाद भी यदि स्वयं लाजपतरायजी को ऐसा लगता था कि 'अंग्रेजों का राज ही ठीक है' तो पंजाब की सामान्य जनता और अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों का मन भी वैसा ही था, इसमें क्या आश्चर्य!

देसी राज्य

सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध को दबाने के लिए जिस किसी प्रकरण में अंग्रेजों को हार खानी पड़ी, उसमें से पहली मुख्य बात यह थी कि अंग्रेज सरकार भारतीय लोगों के धर्म में प्रत्यक्ष या परोक्ष हस्तक्षेप नहीं करेगी, यह बात अंग्रेज सरकार ने मान ली। जैसे पहले मिशनरियों के प्रचार में अंग्रेज अधिकारी खुला प्रोत्साहन और सुविधा देते थे या स्वयं ही मिशन का कार्य करते थे, वैसा अब अधिकतर बंद हो गया। दूसरी बात यह कि डलहौजी ने दत्तक प्रकरण में हस्तक्षेप कर देसी राज हड़पने की जो जोरदार मुहिम चला रखी थी, वह बंद करके अंग्रेज सरकार ने 'दत्तक अधिकार' मान्य किया तथा यह बात भी स्वीकार की कि देसी राज्यों के अस्तित्व को सहसा चोट नहीं पहुँचाई जाएगी। उसी कारण विशेष आपत्तिजनक विरल प्रकरण छोड़ दें तो अंग्रेज सरकार ने देसी राज्यों का अस्तित्व समाप्त करने का साहस फिर नहीं किया। सन् १८५७ के युद्ध में अंग्रेजों से लड़ने के दौरान हजारों लोगों द्वारा किए गए प्राण-दान के फलस्वरूप ही शेष देसी राज्यों के प्राण बचे। उनको जीवन की नई संधि मिली, मगर प्राण पर बीते हुए उस संकट का जो भयानक प्रभाव देसी राज्यों पर हुआ, उससे ब्रिटिश सत्ता पहले से अधिक प्रबल और सुदृढ़ हो गई। उसने देसी राज्यों के पैरों में इतनी बेड़ियाँ डालीं कि उन महाराजाओं को सार्वदेशिक राजनीतिक प्रश्न पर मुँह खोलने की हिम्मत नहीं हो पाती थी। इतना ही नहीं, अपने राज्य में जनता का किसी राजनीतिक प्रवृत्ति से दूर

का भी संबंध बन सके, ऐसा संस्था या ऐसे शब्द भी कोई न निकाले, इसके लिए अधिकतर राजे-महाराजे स्वयं कड़ी निगरानी रखते थे। ब्रिटिश साम्राज्य के गौरव एवं अपनी अथाह राजनिष्ठा के भव्य प्रदर्शन का कोई भी अवसर वे और उनकी जनता खाली नहीं जाने देते थे। कुछ अपवाद छोड़ दें तो देसी राज्यों में ब्रिटिश-विरोधी राजनीतिक आंदोलन तो क्या, सामान्य स्वराष्ट्र-भक्ति का अंकुर भी नहीं फूट पाया था, यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

□

प्रकरण–५

राजनीतिक परिस्थिति का प्रांतीय विश्लेषण

(सन् १८६० से १८८४ तक)

महाराष्ट्र

इस ग्रंथ के लिए हिंदुस्थान के प्रमुख प्रांतों की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति का आवश्यक अवलोकन करने के बाद अब अंत में महाराष्ट्र की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति का भी संक्षिप्त अवलोकन करें। महाराष्ट्र को अंत में लेने का कारण यह है कि अन्य प्रांतों में न दिखनेवाली जो अधिकतर राजनीतिक विशेषताएँ महाराष्ट्र में हैं, उनका सीधा संबंध इस ग्रंथ के अगले भाग से है।

बंगाल, मद्रास और अनेक प्रांतों में अंग्रेजी राजसत्ता स्थापित होने के कई शतक पूर्व तक वहाँ मुगलों के अत्याचारों का नंगा नाच हो रहा था। अत: धर्मोच्छेदक एवं तानाशाही मुगल शासन चला गया और सापेक्षत: ठीक–ठाक विधिसम्मत अंग्रेजी राज आया। वहाँ की सामान्य जनता को पहले यह कैसे अच्छा लगा और अंग्रेजों के विरुद्ध असंतोष क्यों नहीं हुआ, यह पहले साधार कहा जा चुका है। परंतु महाराष्ट्र की सामान्य जनता की मन:स्थिति अंग्रेजी राज आने के आरंभ से समूहत: विपरीत थी।

केवल महाराष्ट्र ही नहीं, बल्कि अधिकांश हिंदुस्थान पर अधिकार जमाने के लिए अंग्रेजों को यदि किसी सबल शक्ति से लड़ना पड़ा था तो वह मराठी साम्राज्य ही था। हिंदुस्थान की स्वतंत्रता के लिए अंग्रेजों से प्रखर युद्ध दो हिंदू शक्तियों ने किया था। पहले और लंबे समय तक हिंदुस्थान भर के लिए मराठे लड़े और अंत में केवल पंजाब के लिए हमारे शूर धर्मबंधु सिख लड़े। इन दोनों युद्धों में अधिक संगठित और क्षमतावान ब्रिटिश जीते तथा मराठे और सिख हारे।

उपर्युक्त दोनों युद्धों में सिख तो कुल दस-बीस वर्षों में ही अपने पराभव को इतना भूल गए कि अपना पंजाब राज्य छीन लेनेवाले ब्रिटिशों की सेवा के लिए उन्होंने पूरे मन से अपनी निष्ठा समर्पित कर दी। इसके विपरीत पूर्णता में देखें तो अपने पराभव और ब्रिटिश सत्ता की स्थापना का काँटा मराठों के मन में सतत चुभता ही रहा। महाराष्ट्र की सर्वसामान्य जनता को भी—'ह्या घरांत शिरला प्रबल शत्रु पारखा' (यह घर में घुसा प्रबल शत्रु परदेसी है)—इसका घाव रहा। अपने हाथ में आया हुआ अखिल भारत का प्रभुत्व, प्रस्थापित की हुई हिंदू पदपादशाही इन अंग्रेजों ने देखते-देखते छीन ली, इसकी महाराष्ट्र को मन-ही-मन बड़ी चिढ़ थी। अपने वैभव और पराभव की ताजा स्मृति तब तक किसी भी तरह बुझ नहीं पा रही थी। रामेश्वर से अटक तक मैदान मारते उनके अश्व-दल अभी तक उनको स्वप्न में दिखते थे। सिंधु नदी का पानी पी चुके उनके हजारों विजयी घोड़ों की टापों की ध्वनि अभी भी उनकी नींद उड़ाती थी। ब्रिटिशों से हुआ अपना यह वैर वे भूले नहीं थे। उस वैर के कारण ही सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध में नाना साहब, बाला साहब, तात्या टोपे, रानी लक्ष्मी बाई प्रभृति पराक्रमी नेताओं ने रणांगण में उन ब्रिटिशों का रक्त बहाते लगभग तीन वर्ष तक भयंकर लड़ाई लड़ी। उनकी पराजय हुई। उन्हें नि:शस्त्र किया गया। ब्रिटिशों ने उन्हें सेना में भी नहीं लिया। सैनिक परंपरा और सैन्य गुण घटने लगे। दरिद्रता, दुष्काल तथा दुर्दशा के चक्र में वे पिसते रहे। परराज का दु:ख था, पर स्वराज प्राप्त करने का कोई रास्ता दिखाई नहीं दे रहा था। फिर भी मराठी स्वराज और साम्राज्य के समय जिन्होंने बड़े-बड़े पराक्रम किए और मान-सम्मान भोगा, उन राजा-महाराजा, सरदार, जागीरदार, वतनदार, शास्त्री पंडित, गडकरी, मानकरी, शिलेदार, बारगीर इत्यादि लोगों के पुत्र या पौत्र, जो गाँव-गाँव में बिखर गए थे, में से अधिकतर ब्रिटिशों के विरुद्ध मन-ही-मन सुलग रहे थे जिन्होंने स्वराज छीन लिया था। परंतु वे ब्रिटिशों के कड़े शासन में अकर्मण्य, अवश, असंगठित और अवाक् थे।

सारांश यह कि संपूर्ण महाराष्ट्र राज्य पर तो ब्रिटिशों द्वारा पूर्णत: अधिकार कर लिया गया था, परंतु अभी महाराष्ट्र का मन पूर्णत: जीता नहीं गया था।

पराजितों का मन जीतने के लिए अंग्रेजों ने हिंदुस्थान भर में अंग्रेजी शिक्षा एवं मिशनरी-प्रचार की जो योजना बनाई थी, उसका प्रयोग महाराष्ट्र में भी किया गया। परंतु मद्रास, बंगाल आदि प्रांतों में जो प्रयोग अपेक्षा के अनुकूल सफल हुआ, वह महाराष्ट्र में उतना सफल नहीं हुआ। इतना ही नहीं, ब्रिटिशों को दस-बीस वर्षों में ही यह चिंता सताने लगी कि इस योजना से ब्रिटिश-द्रोह बढ़ रहा है।

महाराष्ट्र में अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों का जो नया वर्ग अंग्रेजों ने बनाया,

स्थूल रूप में उसके तीन पक्ष थे।

पहला पक्ष, जैसा बंगाल के प्रकरण में हमने 'ब्रिटिशनिष्ठ पक्ष' वर्णित किया था—उस तरह का अंग्रेजी-शिक्षित महाराष्ट्रीय 'ब्रिटिशनिष्ठ पक्ष' था। स्वराज गया तो यह अच्छा ही हुआ; हिंदुस्थान के कल्याण के लिए ईश्वर ने हमें ब्रिटिश राज वरदान में दिया है। उनकी सत्ता और कृपाछत्र हमपर कम-से-कम तीन-चार शतक तो रहे ही, इसीमें हमारा कल्याण है। हमारे सारे पूर्वज अनाड़ी, धर्म के विषय में अंधविश्वासी और मूर्ख थे। नाना फड़नवीस आज होता तो वह पागल ही माना जाता। सन् १८५७ में हुआ विद्रोह स्वदेश पर पड़ी आपत्ति ही थी। तब के उन अधम विद्रोहियों ने राक्षसी अत्याचार का जो कृतघ्न राजद्रोह किया, उससे हमारे राजनिष्ठ मुँह पर कालिख पुत गई, परंतु क्षमाशील ब्रिटिशों ने हमारे महापापों को क्षमा कर हमारे हाथों में अपनी रानी का घोषणा-पत्र दे दिया। वह हमारा 'मैग्नाकार्टा' है। अंग्रेज न्यायी हैं। हमारा उद्धार कर वे हमें हमारा राज लौटा देंगे। परंतु वे कृपालु होकर वैसा करने की जल्दबाजी न करें।

ये थे वे सूत्र जो वे ईश्वरप्रदत्त व्यवस्था (Providential Dispensation) वाले पक्ष की पाटी पर पूजते थे। वे उसका जाप नित्य करते थे।

उदाहरणार्थ, इस पक्ष के एक धुरंधर राव साहब मंडलीक सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध के लिए कहते थे, 'यह जो मूर्खता के कारण विस्फोट हुआ, वह हमारे लिए संकट ही है। राज्य में सुधार करने तथा न्यायाकांक्षी को न्याय देने की व्यवस्था करने की कंपनी की इच्छा है। पर अब इस 'शिपायांच्या बंडामुळे' (सिपाही विद्रोह) से हम कितने पिछड़ जाएँगे, पता नहीं।'

उस समय के दूसरे विद्वान् विनायक कोंडदेव ओक ने सन् १८५७ के विद्रोही सिपाहियों को 'शिपायांच्या बंडामुळे' अनुप्रासयुक्त अभद्र भाषा में 'भंड, गुंड, पुंड' आदि कहा था। रायबहादुर गोपालराव हरि देशमुख ने गणना करके लिखा था—'अंग्रेजों में साधारण व्यक्ति भी हिंदुओं से हजारगुना श्रेष्ठ है।' (मुसलमानों की अपेक्षा वह कितना गुना श्रेष्ठ है, यह कहने की हिम्मत रायबहादुर महोदय को नहीं हुई।) 'वर्तमान में अंग्रेज हिंदुओं से सौगुना चतुर हैं और वह चतुराई हिंदू लोगों को मिले, इसलिए यह देश ईश्वर ने उनके हवाले किया है।' (शतपत्री)। इस तरह विचार करनेवालों के पक्ष में कुछ बड़े विद्वान्, कुछ सच्चे देशभक्त और बाकी पेटू और अवसरवादी डॉक्टर, बैरिस्टर, आई.सी.एस. सरकारी नौकरी के अभिलाषी आदि छुटभैये लोग थे। फिर भी जैसे बंगाल, मद्रास आदि प्रांतों में अधिसंख्य अंग्रेजी-शिक्षित इस ब्रिटिशनिष्ठ पक्ष के थे और उनमें अपवाद कम ही थे, वैसी स्थिति महाराष्ट्र की नहीं थी, उसके बिलकुल विपरीत थी। अंग्रेजी-शिक्षितों में भी

ब्रिटिशनिष्ठ पक्ष अधिक नहीं था। परंतु ब्रिटिश सरकार जान-बूझकर उन्हें तथा उनके द्वारा स्थापित संस्थाओं को, उनके द्वारा प्राप्त आवेदनों को ही सारी जनता के वास्तविक प्रतिनिधि, लोकमत-प्रदर्शक मानती थी, सार्वजनिक समस्याओं में इनके शिष्टमंडलों की ही बात सुनती थी। देना-लेना कुछ नहीं, पर सुन लेना। सरकार के दरबार में उन्हें 'आइए, बैठिए!' कहा जाता था।

उनके पक्ष में पूरी तरह सम्मिलित न होने पर भी नेतृत्व की माला जिसके गले पड़ी और जिसने उसे स्वीकार किया था, उस एक महान् व्यक्तित्व का उल्लेख स्वतंत्र रूप से करना आवश्यक है। उनका नाम था रायबहादुर महादेव गोविंद रानडे। यह बात सच है कि Providential Dispensation (विधिलिखित राजव्यवस्था) शब्द का उच्चारण वे भी बार-बार करते थे। अंग्रेजों का शासन ईश्वर के वरदान रूप में हमें मिला है; वह हमारे हित में ही है, ऐसा वे भी कहते रहते थे। वे ब्रिटिश सेवा में न्यायाधीश के ऊँचे पद पर आसीन थे और वह नौकरी छोड़ना उन्हें उचित नहीं लगता था अथवा राजद्रोही या राजनीतिक कार्यकर्ताओं की काली सूची में उनका पक्ष न आए, इसलिए वह पद छोड़ना नहीं चाहते थे। परंतु हाँ, उपर्युक्त वाक्य उनके केवल मुँह से ही निकलते थे या उसके तार हृदय से भी जुड़े थे, यह निश्चित रूप से आज भी नहीं कहा जा सकता। वह चाहे जो हो परंतु रायबहादुर न्यायमूर्ति रानडे द्वारा ऐतिहासिक, अर्थशास्त्रीय, सामाजिक, धार्मिक एवं विशेषत: राजनीतिक राष्ट्र-जीवन के अंग-प्रत्यंग में नवजीवन का संचार करने के लिए छोटी-बड़ी संस्थाओं की स्थापना कर, उन्हें चलाकर, बिखरे समाज को संगठित कर उसे सक्रियता की ओर अग्रसर करने के लिए जितनी महान् लोक-सेवा की गई, उन उपकारों को महाराष्ट्र ही नहीं, हिंदुस्थान भी कभी भुला नहीं सकता। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखने लायक है कि 'ब्रिटिशनिष्ठ' समझे जानेवाले और 'रायबहादुर', 'न्यायमूर्ति' आदि ब्रिटिश अलंकरणों से शोभित रानडे के तार 'सशस्त्र क्रांतिनिष्ठ' वासुदेव बलवंत फड़के से जुड़े थे, यह संशय स्वयं अंग्रेजों को भी हुआ था। इन सबसे उनके Providential Dispensation वादी ब्रिटिशनिष्ठा के अंतरंग पर मर्मभेदी प्रकाश पड़े बिना नहीं रहता।

महाराष्ट्र के अंग्रेजी-शिक्षितों का दूसरा वर्ग उपर्युक्त ब्रिटिशनिष्ठ वर्ग की तुलना में संख्या में अधिक, योग्यता में समान, सच्चे स्वदेशनिष्ठों का वर्ग था। स्वराज चला गया, यह बात उनके हृदय पर चोट करती थी। अंग्रेजी राज भगवान् की करनी न होकर शैतान की करनी है, वह वरदान नहीं, एक भीषण शाप है! देश के पैरों में पड़ी बेड़ियाँ टूटने का असंभव काम यदि संभव हो तो उसीको 'ईश्वरीय वरदान' कहा जा सकता है। यह थी इस पक्ष की भूमिका और यह भूमिका अंग्रेजों

की कूटनीति के अनुसार अंग्रेजी शिक्षा से भी मंद नहीं पड़ी, उलटे अंग्रेजी इतिहास और साहित्य के अध्ययन से इसमें और उफान आया। हिंदुओं की स्वधर्मनिष्ठा हिलाने के लिए मिशनरी लोग बाइबिल की पुस्तकें मुफ्त में बाँटते रहे। विद्यालयों में उसे जबरन पढ़ाते रहे। परंतु इस वर्ग के लोग वही बाइबिल उनके मुँह पर फेंककर उन्हें परेशान करते। हिंदुओं के पुराणों को यदि कोई मिशनरी 'कपोलकल्पित कथा' कहता तो ये लोग बाइबिल के पहले अध्याय 'सृष्टि की उत्पत्ति' से 'यीशू की उत्पत्ति' तक के अध्यायों में वर्णित कुमारी के पुत्र होने तक की सारी कथाएँ कपोलकल्पित सिद्ध कर उलटा उनसे प्रश्न करते थे।

इस प्रकार वे मिशनरियों का मुँह बंद कर देते थे। अंग्रेजी नहीं पढ़े पंडित लोग यह वाक्ताड़न उतने कौशल से नहीं कर पाते थे, क्योंकि बाइबिल उनकी पढ़ी हुई नहीं होती थी। परंतु अंग्रेजी-शिक्षित लोग बाइबिल के साथ फ्रांसीसी क्रांतिकारियों सदृश अन्य ईसाइयों या अन्य बुद्धिवादी अध्येताओं की तरह बाइबिल की सचाई के संबंध में लिखी टीकाओं का भी अध्ययन कर मिशनरियों की खाल खींचने के लिए तैयार रहते थे। स्वधर्म, स्वदेश, स्वभाषा और स्वसंस्कृति के अभिमान से इस वर्ग के हृदय धड़कते रहते थे। अंग्रेजी शिक्षा से बुझ जाने की अपेक्षा वह अधिक ही प्रभावी होता चला गया। उनको यथाशीघ्र समाज में सुधार भी अपेक्षित था। अंग्रेजी शिक्षा से हुए अनेक लाभों को वे नकारते नहीं थे। अपने पूर्वजों के संबंध में तथा प्राचीन इतिहास के बारे में कोई वाहियात निंदा करे तो उसे वैसा ही मुँहतोड़ उत्तर वे देते थे; परंतु वे अपनी न्यूनता, जिसके कारण स्वराज-हानि हुई, को दुर्लक्षित नहीं करते थे।

किसी भी शर्त पर अंग्रेजी शासन की दासता का जुआ अपनी गरदन पर ढोते हुए उनका आभार क्यों माना जाए? क्या ये अंग्रेज कोई देवदूत हैं? या हमने मरी माँ का दूध पिया है? ऐसे सीधे प्रश्न पूछकर और वह अपने लिए हितकर है, ऐसी निष्ठा के विपरीत यह स्वदेशनिष्ठ वर्ग ब्रिटिशनिष्ठ वर्ग के उपदेशों और आचरण की खिल्ली उड़ाया करता था। वे अंग्रेजी राज के कारण होती देश की दुर्दशा, बढ़ती दरिद्रता, अकाल आदि की बातें जनता से कहकर अंग्रेजों के प्रति घृणा उत्पन्न करते। फिर भी अंग्रेजों के राज को सशस्त्र क्रांति से उखाड़ फेंकने का प्रयास करना या सोचना या आकांक्षा रखना हिंदुस्थान जैसे असंगठित और शस्त्रविहीन देश के लिए पापकारक या असमर्थनीय तो नहीं, परंतु मूर्खतापूर्ण एवं आत्मघाती अवश्य लगता था। उक्त परिस्थिति में अंग्रेज सरकार के विरुद्ध लोगों में यथासंभव असंतोष फैलाना, उसके लिए निर्भीक हो जेल भी जाने के लिए तैयार रहना, जगह-जगह सरकार का संगठित विरोध करने का धैर्य और क्षमता जनता में उत्पन्न करना—परंतु

वह विरोध विधान और विधि (Constitutional & Legal) की सीमा का उल्लंघन न करे, हिंदुस्थान भर में ऐसा प्रचंड आंदोलन चलाया जाए तो आज नहीं तो कल संवैधानिक (Constitutional) प्रकृति का ब्रिटिश लोकमत जाग्रत होगा और कुछ तो उनके स्वयं के हित में और कुछ उनके जाति भाइयों द्वारा हिंदुस्थान भर में हो रहे अन्याय से उपजे खेद के कारण ब्रिटिश सरकार हिंदुस्थान की माँगें मानने लगेगी, रानी की घोषणा के अनुसार हिंदुस्थानी जनता से ब्रिटिश नागरिकों की तरह ही समता-बंधुता से व्यवहार करने लगेगी। इतना होने पर फिर भविष्य के बारे में भविष्य में सोच लेंगे, ऐसा कार्यक्रम था दूसरे वर्ग के देशनिष्ठ लोगों का। यही उनके पक्ष का कार्यक्रम, नीति और धुँधला आशावाद था। मन में कुछ भी हो, फिर भी यह स्वेदशनिष्ठ वर्ग 'स्वराज' अर्थात् अंग्रेजी राज नष्ट कर स्थापित किया गया स्वयं का राज इस अर्थ में 'स्वराज' शब्द का अपने लोक-आंदोलन में उच्चारण नहीं करता था, क्योंकि वैसा करना अंग्रेजी दंडविधान की सीमा में उस समय तो सहज ही धकेला जा सकता था। वैधानिक मर्यादा में अपना सारा आंदोलन चले, इसलिए इस पक्ष के नेता बार-बार जोर देकर कहते थे, 'हम बादशाह के उतने ही राजनिष्ठ प्रजाजन हैं, जितने ब्रिटिशवासी। इसलिए झगड़ा राजा द्वारा नियुक्त मंत्रियों, अधिकारियों, सेवकों आदि से है, राजा से नहीं।'

महाराष्ट्र के अंग्रेजी-शिक्षितों का ही तीसरा वर्ग क्रांतिनिष्ठ, सशस्त्र क्रांतिकारी वर्ग था। पहले दोनों वर्गों—ब्रिटिशनिष्ठ या स्वदेशनिष्ठ- में से कोई भी 'हमारा राजा' कहता तो उसका अभिप्राय होता 'राजा? जो ब्रिटिशों का राजा, वह हमारा राजा?'—'घर में घुसे चोर को क्या राजा कहेंगे?' क्रोधपूर्वक ऐसा पूछनेवाले वर्ग का कहीं कोई पता-ठिकाना नहीं था। परंतु जहाँ उनका अस्तित्व न हो, ऐसा स्थान भी नहीं था। जिस सशस्त्र क्रांतिकारी प्रवृत्ति को मार डालने के लिए अंग्रेजों ने अंग्रेजी विद्यालय, महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय खोले, उन्हीं संस्थाओं में इस वर्ग के छिपे क्रांतिकारी रहते थे। प्रत्यक्ष अंग्रेजी सरकार की नौकरी करनेवालों में उनके अनुयायी गुप्त रूप से रहते थे। अंग्रेजों द्वारा आत्मरक्षार्थ बनाई गई विधि की सीमा में ही रहकर बनाए हुए विधि-विधान की मर्यादा का उल्लंघन न करते हुए हम राजनीतिक आंदोलन करेंगे, ब्रिटिशों को झुकाएँगे—उपरोक्त स्वराजवादी दूसरे वर्ग का यह कथन ऐसा था, जैसे दादी की कहानी के राक्षस के प्राण जिस किसी वस्तु में हों, वही वस्तु सुरक्षित रखते हुए उस राक्षस को मारने की आशा करना। क्रांतिनिष्ठ वर्ग इस सोच को मूर्खतापूर्ण मानता था।

ब्रिटिश-निष्ठा उत्पन्न करने के लिए अंग्रेजी की शिक्षा देने की जो नीति ब्रिटिशों ने हिंदुस्थान में चलाई, वह नीति बंगाल, मद्रास आदि में सफल रही,

परंतु महाराष्ट्र के क्रांतिकारी वर्ग पर उस नीति का परिणाम उलटा ही हुआ। उनमें इस विद्या को सीखने से ब्रिटिशनिष्ठा अंकुरित होने की बजाय ब्रिटिश-द्वेष पनपा। हिंदुस्थान की दुर्दशा करनेवाली ब्रिटिशों की कारगुजारियाँ उन्हें ब्रिटिश ग्रंथों से ही अधिक विस्तार से ज्ञात हुईं। अंग्रेजी पढ़ने से उन्हें यूरोप और अमेरिका के स्वतंत्रता-संग्रामों की कथाएँ पढ़ने को मिलीं। इससे उनकी दृष्टि विशाल, उनका ध्येय व्यापक, उनका ज्ञान अधुनातन हो गया। *अंग्रेजी शिक्षा से होनेवाले लाभ आत्मसात् कर वह शिक्षा-व्यवस्था हिंदुस्थान में लागू करने के पीछे अंग्रेजों का जो कूट उद्देश्य था, उसे उन्होंने मार गिराया। अंग्रेजी दाँव उनके ऊपर ही उलट दिया।*

फिर भी यह ध्यान में रखना होगा कि इस वर्ग की यह सशस्त्र क्रांतिनिष्ठा केवल अंग्रेजी शिक्षा से उत्पन्न नहीं हुई थी। अंग्रेजी शिक्षा ने उत्प्रेरक का कार्य अवश्य किया। उनके स्फूर्ति-प्रदाता देव थे श्रीकृष्ण, श्री शिवाजी महाराज और उनकी भवानी तलवार। मुसलिम पादशाही को पदाक्रांत कर हिंदू पदपादशाही को स्थापित करनेवाला मराठों का इतिहास था उनका पंचम वेद। सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध के अमर सेनानी नाना साहब, तात्या टोपे, झाँसी की रानी आदि की ताज वीरगाथाओं का गायन यद्यपि अंग्रेजों के कड़े नियंत्रण में असंभव था, फिर भी वे कानो-कान प्रवाहित होती थीं और हृदय में आग सुलगाती थीं। वह क्रांतियुद्ध महाराष्ट्र में भी चलाने की गुप्त मंत्रणा सन् १८५७ में चल रही थी। देर थी, तो महाराष्ट्र में केवल तात्या टोपे की संगठित सेना के घुसने की। निजाम के देशद्रोही विश्वासघात के कारण तात्या टोपे का आगे बढ़ना असंभव हो गया। नर्मदा पार कर जाने के बाद उसे फिर लौटना पड़ा। इससे महाराष्ट्र के उनके अनेक साथी पकड़े गए। त्र्यंबकेश्वर के किलेदार जोगलेकर तथा वैसे ही कुछ बड़ों को फाँसी दे दी गई। फिर भी इस संकट से जो बच गए या वे मराठाजन जो ब्रह्मावर्त या दक्षिण में लड़े या उस कार्य में लगे रहे, वे अब नाना वेश और नाना युक्तियों से महाराष्ट्र में भूमिगत रहकर जीवनयापन कर रहे थे। वे लोग भी गुप्त रूप से इन नव अंग्रेजी-शिक्षित देशभक्तों में संघर्षशील युवकों को यह चेतना दे रहे थे कि मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए अंग्रेजों से पुन: लड़कर देखो।

अंग्रेज इस देश से केवल न्यायबुद्धि से जानेवाले नहीं, उन्हें तो सशस्त्र क्रांति से ही भगाना होगा—यह क्रांतिपक्षवालों का आद्य सिद्धांत था। 'अरे, ऐसी क्रांति असंभव है, वह तुम्हारी मूर्खता है, यूँ ही मरना चाहते हो।' उन्हें ऐसा कुछ उपदेश कोई ब्रिटिशनिष्ठ या स्वदेशनिष्ठ देता तो वे उसका आभार मानते हुए कहते, 'मरण? हमारी मातृभूमि के सिंहासन पर उसका शत्रु चढ़ बैठा हो और हम जीवित

अवस्था में उसे देखें, यही हमें मरण से अधिक दुःखदायी लगता है। संभव हो अथवा असंभव, हम सफल हों या विफल, अपनी शक्ति से जितना हो सकेगा, उतना प्रतिशोध तो हम लेंगे ही। प्रतिशोध लेते समय जो मरण आएगा, वह इस पौरुषहीन जीवन की तुलना में हमें अधिक आकर्षित करेगा, क्योंकि सफल क्रांति की आग हुतात्माओं की जलती चिता की आग से ही भड़कती है। हम अपना कर्तव्य पूरा करेंगे, चाहे कोई अन्य हमारे पीछे आए या न आए!'

□

प्रकरण–६

अंग्रेजों की छावनी में

(सन् १८६० से १८८४ तक)

अब तक सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध के बाद की हिंदुस्थानी जनता की राजनीतिक मन:स्थिति एवं आंदोलनों की बात प्रांतानुसार की। उसी समय हिंदुस्थान पर स्वामित्व स्थापित करनेवाले अंग्रेज सत्ताधारियों की छावनियों में कौन से विचार-प्रवाह चल रहे थे, अब इसपर भी थोड़ा सा विचार करें।

उस समय अंग्रेज राजकर्ताओं के दो गुट थे। पहला और बहुसंख्यक गुट केवल डंडाशाही का पक्षधर था। सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध में अंग्रेजों द्वारा संपादित महान् विजय का नशा इस गुट के अधिकारियों के सिर चढ़कर बोल रहा था। उन्हें भारतीय जनता झाड़ की पत्ती लगती थी। वे गर्जना करते—हमने हिंदुस्थान जीता है तलवार की धार से और उसकी रक्षा भी हम तलवार के बल पर ही करेंगे। हम शासक हैं और हिंदुस्थान हमारा पद-दलित दास है। भारतीय लोगों के मन में हम विजेता अंग्रेजों के लिए प्रेम हो या द्वेष; उन दुर्बलों के दिलों में हमारे विरुद्ध चोरी-चोरी कुछ हलचल हो या और कुछ, उसकी चिंता हमें नहीं है। हम जो कहेंगे, वह नीति और जो चलाएँगे, वह रीति। उसके विरुद्ध ये टूँ-टाँ कुछ भी न करें, नहीं तो हम उन्हें कीड़े-मकोड़ों की तरह मसल देंगे। हिंदुस्थान पर ब्रिटिशों का राज बनाए रखना हो तो हमारा शासन ऐसा कड़ा चाहिए, जैसे तलवार पर फौलाद का चढ़ा पानी।

'तलवार से राज्य जीते जाते हैं, यह सच होते हुए भी तलवार की धार पर उनकी रक्षा हमेशा नहीं होती।' अंग्रेज शासक वर्ग का दूसरा गुट, जो अल्पसंख्यक होने पर भी अनुभवी और राजकाज में वर्षानुवर्ष के घुटे-मँजे कूटनीतिज्ञों का गुट था, डंडाशाही गुट को समझाते हुए कहता था, 'पराजितों द्वारा ब्रिटिशों के विरुद्ध

आंदोलन करते ही उसे नष्ट कर डालने की दंडशक्ति तो ब्रिटिशों की कलाई में होनी ही चाहिए। परंतु विजेता राज करता रहे, यह भाव पराजितों के मन में आए—ऐसा जादू चलाकर उनपर राज करने के साथ ही यथासंभव उनका मन भी जीतने की कार्यवाही करते रहना, हिंदुस्थान जैसे विस्तीर्ण देश पर ब्रिटिशों का शासन चिरकाल तक बनाए रखने का सरल और सस्ता उपाय है। लॉर्ड डलहौजी द्वारा चलाई गई डंडाशाही के कारण मराठों और सिखों से लड़ते समय जितना ब्रिटिश रक्त सौ वर्ष में भी नहीं बहा, उतना दो वर्ष के अंदर सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध ने बहाया। इसे हमें इतनी जल्दी नहीं भूलना चाहिए!'

इस दूसरे गुट के अंग्रेज कूटनीतिज्ञों की नीतियों के अनुसार सन् १८५७ का क्रांतियुद्ध समाप्त होने पर भारतीय लोगों का मन जीतने के लिए अंग्रेज शासकों ने अंग्रेजी पढ़ाने आदि के जो उपाय किए, उसकी चर्चा पिछले प्रकरणों में हमने की है। उन उपायों का कुछ परिणाम उनकी नीति के अनुसार हुआ और ब्रिटिश शासन का सहयोग पूरे मन से करनेवाला ब्रिटिशनिष्ठ भारतीय वर्ग सभी प्रांतों में उत्पन्न हुआ। सामान्य जनता की क्रांतिकारी-चेतना मृतप्राय होकर इधर-उधर शांत दिख रही थी, यह देखकर अंग्रेज कूटनीतिज्ञों को बहुत शांति मिली थी। उनकी नीति का सुपरिणाम देखकर इंग्लैंड की जनता और शासक वर्ग में इस पक्ष की नीतियों का महत्त्व भी बढ़ गया था। फिर भी इस पक्ष को हिंदुस्थान के संबंध में निश्‍चितता कभी भी नहीं लगती थी। ऊपरी शांति पर उनका विश्वास नहीं था। कहीं 'खट्ट' की ध्वनि होते ही इस पक्ष के कान खड़े हो जाते, वह देखने लगता और कहता कि क्या सन् १८५७ के एक वर्ष पूर्व भी ऐसी ही शांति इस देश में नहीं थी? हम लोग सभी ओर 'सब ठीक है' की रिपोर्ट ही तो भेजा करते थे। इस पक्ष में सन् १८५७ की आग में झुलसे बड़े-बड़े सैनिक और नागर अंग्रेज अधिकारी थे। धीरे-धीरे इस पक्ष का नेतृत्व जिन श्रीयुत् ए.ओ. ह्यूम के पास जानेवाला था, उन्हींकी एक कथा उदाहरणार्थ प्रस्तुत है।

ह्यूम की कुलकथा

सन् १८५७ में १० मई को मेरठ (सं.प्रा.) में क्रांतिकारी सैनिकों ने अंग्रेज सरकार के विरुद्ध विद्रोह किया, वहाँ के अंग्रेज अधिकारियों को काट डाला और एक सप्ताह के अंदर दिल्ली पर चढ़ाई कर भारतीय सेना की सहायता से वहाँ के ब्रिटिश अधिकारियों को तलवार से मौत के घाट उतारकर और दिल्ली जीतकर हिंदुस्थान की स्वतंत्रता की खुली घोषणा कर दी। उसके बाद पूर्व संकेतानुसार एक के बाद एक दूसरे नगरों में विद्रोह होने लगे। ऐसे समय श्रीयुत् ह्यूम इटावा के

मजिस्ट्रेट एवं कलक्टर थे। उन्होंने विद्रोह का समाचार सुनकर, अपने परम विश्वसनीय तथा राजनिष्ठ भारतीय सैनिकों को चुनकर एक संरक्षक टुकड़ी बनाई और असिस्टेंट मजिस्ट्रेट मि. ड्यानियल को वह टुकड़ी सौंपकर इटावा नगर के सारे रास्ते रोक रखने को कहा। इस व्यवस्था के बाद भी कुछ क्रांतिकारी सैनिक, नगर में घुसकर एक मंदिर में ठहरे हुए हैं। पहले के अनुभवों के आधार पर ह्यूम साहब ने सोचा कि मैं आगे आऊँगा तो नगर के अपने राजनिष्ठ भारतीय प्रजाजन मेरी सहायता करने आगे आ जाएँगे। इसी विश्वास से कुछ सैनिकों को लेकर ह्यूम ड्यानियल के साथ उस मंदिर पर आक्रमण करने पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि उनके पीछे सहायता के लिए आनेवाले राजनिष्ठ प्रजाजन मंदिर को घेरकर खड़े हैं और उस मंदिर में बैठे क्रांतिकारियों की जय-जयकार कर रहे हैं। उनको भोजन-पानी पहुँचाने का कार्य जोर-शोर से चल रहा है। ह्यूम ने सोचा, कोई बात नहीं। अपने साथ चुने हुए विश्वसनीय सेना के जवान हैं ही। उस टुकड़ी को मंदिर पर हमला करने का कड़ा आदेश देकर ड्यानियल मंदिर की ओर बढ़ा। परंतु उसके पीछे कौन गया? केवल एक भारतीय सैनिक! और मंदिर से क्रांतिकारियों की टुकड़ी ने गोलीबारी आरंभ कर दी। क्षण भर में ही दोनों वहीं ढेर हो गए। यह दृश्य देखते ही ह्यूम साहब ने आज्ञा-भंग करनेवाले भारतीय 'राजनिष्ठ' सैनिकों को लताड़ना भूलकर पलटकर जो भागना आरंभ किया तो अपनी छावनी के तंबू में घुस जाने तक भागते ही रहे।

एक-दो दिन में ही समाचार फैला कि पड़ोस के मैनपुरी और अलीगढ़ नगरों में भी विद्रोह करके नागरिकों ने ब्रिटिश सत्ता से मुक्ति पा ली है और ब्रिटिश लोगों की हालत खराब है। इसी समाचार के साथ इटावा में विद्रोह की खुली घोषणा हो गई। २२ मई को ब्रिटिशों की भारतीय सेना एक हाथ में पलीता और दूसरे हाथ में कृपाण लिये ब्रिटिश छावनी पर टूट पड़ी। उन्होंने कोषागार लूटे, बंदीगृह खोल दिए और अंग्रेज सैनिक, अधिकारी, पादरी, व्यापारी, औरतें, बच्चे— सारे गोरों को चेतावनी दी कि यदि वे तत्काल इटावा छोड़कर चले नहीं गए तो उनका कत्ल कर दिया जाएगा।

इस भीषण अंतिम आदेश को सुनकर अंग्रेज भय से काँपने लगे। अपने बाल-बच्चे लेकर या उन्हें छोड़कर सब भागने लगे, परंतु किस रास्ते जाएँ और कहाँ जाएँ! रास्ते में गोरा मिलते ही 'मारो फिरंगी को' की आवाज उठती। मार-काट होती। भागनेवाले गोरों में भी सबसे कठिन समस्या वहाँ के कलक्टर, मजिस्ट्रेट ह्यूम की थी! उन्हें सब पहचानते थे। अंग्रेजी राज का वही मुख्य अधिकारी था, परतंत्रता का प्रमुख प्रतीक था, इसलिए सबका क्रोध उसपर था। फिर भी चार-पाँच भारतीय सैनिकों को उसपर दया आ गई। उन्होंने 'साहब को दूर भगा देते हैं' कहकर उन्हें

क्रांतिकारियों के कब्जे से ले लिया, पर साहब का रंग गोरा था और गोरे रंग के दिन पूरे हो चुके थे। जीवित रहने के लिए रंग चाहिए था काला। वह कठिन था—काला रंग लगाकर भागते गोरे इसलिए पकड़े जाते कि कहीं बदन पर से काला रंग भागमभाग में छूट जाता तो गोरा तुरंत पहचाना जाता और उसकी या तो दुर्गति होती या वह मारा जाता। अतः ह्यूम साहब के लिए दोहरी सावधानी जरूरी थी। उन्होंने मुँह पर काला रंग लगाया, फिर साड़ी पहनी और उसपर बुरका ओढ़ा। तब वे सैनिक उन्हें बचाने के लिए तैयार हुए और राजमान्य राजेश्री ह्यूम बाई को इस प्रकार गुप-चुप बाहर निकालकर बहुत दूर छोड़ आए। प्राण हथेली पर लिये घूमते साहब को एक अंग्रेज सैनिक टुकड़ी मिली और वे बच गए।

अपने प्राणों पर बन आई इस घटना का जो डर ह्यूम साहब के मन में बैठा, वह जीवन भर उनको बेचैन किए रहा और इसका चिरंतन परिणाम उनकी राजनीति पर भी पड़ा। सन् १८५७ जैसा सशस्त्र क्रांति का संकट अंग्रेजी सत्ता को फ़िर से न झेलना पड़े, इसके लिए क्या उपाय किए जाएँ—यह चिंता उन्हें हमेशा सताती रही। हिंदुस्थान की जनता की शांति दिखावटी होती है। इस विशाल देश की कोटि-कोटि जनता के भीतर कब किस कारण कोई क्रांति की चिनगारी भड़क जाए, इसका कोई नियम नहीं, यह उनका अनुभवसिद्ध पक्का विचार हो गया था और 'सब ठीक है' कहनेवाले ब्रिटिश अधिकारियों की 'ढोल की पोल' का वे इसीलिए हमेशा विरोध करते थे।

'कौवा बैठे और डाली टूटे' वाली कहावत पंजाब में उसी समय चरितार्थ हुई। जिस पंजाब प्रांत के बारे में सारे ब्रिटिश अधिकारी 'सब ठीक है' कहते थे, वहीं ह्यूम जैसे विचारों के अधिकारियों को जो डर सताता था, वह सच हो गया और सन् १८७२ में ऊपर से शांत दिखाई देती जनता के मन में एक सशस्त्र क्रांति की चिनगारी भड़क उठी।

□

प्रकरण–७

कूका-विद्रोह

आज तक के ज्ञात इतिहास से विदित होता है कि अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध सन् १८५७ के बाद प्रथम महत्त्वपूर्ण सशस्त्र क्रांतिकारी संघर्ष कूका पंथ का ही था। यहाँ उसकी विस्तृत जानकारी देने के लिए स्थान नहीं है। उसका आवश्यक सारांश देना ही पर्याप्त होगा।

सन् १८२४ में जन्मे पंडित रामसिंह कूका ने अपनी तरुणाई में महाराजा रणजीत सिंह की सेना में एक सैनिक के रूप में नौकरी की थी। उस स्वधर्मीय शासन का विध्वंस अंग्रेजों ने किया। इसका इतना दुःख कूका को हुआ कि वे अन्यों की भाँति अंग्रेजी सेना में भरती नहीं हुए। वे अपने गाँव भैणी आकर धर्मोपदेश करने लगे। शीघ्र ही उनकी ख्याति एक साधु के रूप में फैल गई और उनको गुरु माननेवालों का एक पंथ बन गया। उस पंथ का नाम 'नामधारी पंथ' पड़ गया। उनके उपदेशों में गोवध-निषेध की काफी प्रधानता थी। वे कहते कि कसाई के हाथों कटती गाय को अपने प्राण देकर भी बचाना तुम्हारा धार्मिक कर्तव्य है। शिष्यों को यह उपदेश वे आग्रहपूर्वक देते थे।

ऐसा कहते हैं कि साधु रामदास नामक कोई मराठी साधु उन्हें मिले। उन्होंने गुरु रामसिंह को ऐसा परामर्श दिया कि गोवध-निषेध आदि जिस धर्म-मत को वे प्रतिपादित करते रहते हैं, वह स्वधर्म कार्य स्वराज-स्थापना के बिना नहीं हो सकता। वह परामर्श मन में पैठ जाने के कारण गुरु रामसिंह ने अपने धार्मिक पंथ को अति सावधानी से राजनीतिक रूप देने का उपक्रम किया। पहले उन्होंने अंग्रेजी शासन से केवल निःशस्त्र असहयोग करने का आदेश दिया और अंग्रेजी न्यायालयों, रेलगाड़ियों और अंग्रेजी शिक्षा देनेवाली संस्थाओं का बहिष्कार आरंभ करवाया। उन्होंने अपने नामधारी या कूका पंथ का एक स्वतंत्र डाक विभाग चालू किया।

उनके इस आंदोलन के कारण पंजाब के अंग्रेजी शासक वर्ग ने सन् १८६४-६५ में उनपर कुछ कड़े बंधन लगाए। परिणामत: प्रकट आंदोलन रोके जाने से यथानियम उसका रूपांतरण गुप्त आंदोलन में हो गया। गुरु रामसिंह ने पंजाब प्रांत के बारह मंडल (जिले) मानकर प्रत्येक पर एक-एक गुप्त मंडलाधिप (कलक्टर) नियुक्त किया। सेना में भी उन्होंने धर्म की आड़ में राजनीतिक प्रचार चालू किया। इसी बीच सन् १८६९ में उनके कुछ नामधारी कूका शिष्यों की टक्कर गायों को काटने के लिए ले जा रहे मुसलिम कसाइयों से हो गई। उनसे झगड़ा होने पर कूकाओं ने उन्हें मार डाला और गाएँ मुक्त करवा दीं। अंग्रेजी शासन ने उन कूकाओं की धर-पकड़ के लिए इधर-उधर दौड़-भाग और मार-पीट चालू करवाई।

अपने पंथ पर आए इस संकट को टालने के लिए रामसिंह कूका ने स्वत: ही उन शिष्यों को आत्मसमर्पण करने का आदेश दिया और सरकार को सूचित किया कि इस घटना का कोई संबंध पंथ से नहीं है। सरकार ने समर्पित शिष्यों को फाँसी दे दी। यह प्रकरण समाप्त होते-होते जनवरी, १८७२ में कुछ मुसलमानों ने एक नामधारी कूका को पकड़ा, मारा-पीटा, उसके सामने एक गाय काटी और उसके रक्त से उस कूका को सिर से पैर तक पोता।

गुरु रामसिंह के दरबार में उस शिष्य ने जब यह कथा कही, तब सैकड़ों कूके क्रोध और संताप से भड़क गए। उन्होंने धर्मशत्रु से तत्काल प्रतिशोध लेने की शपथ ली। गुरु रामसिंह उन्हें 'ठहरो-ठहरो' कहते रहे, परंतु वे सब शस्त्र प्राप्त करने के लिए मालेर कोटला नामक मुसलमानी रियासत की ओर चल पड़े। मलौध का किला जीतकर वहाँ से शस्त्र प्राप्त करके वे सब मालेर कोटला नगर पर टूट पड़े। मालेर कोटला की सहायता अंग्रेजों को करनी ही थी; उन्होंने मेजर कारेन की टुकड़ी भेजी। नामधारी कूका अत्यंत वीरता से लड़े। उनमें से बहुत तो रणक्षेत्र में मारे गए। जो जीवित पकड़े गए, उन साठ-सत्तर नामधारियों को बड़ी ही निर्ममता से नगर के चौक पर तोपों के मुँह से बाँधा गया। तोपें दागी गईं और उनकी काया के चिथड़े-चिथड़े ऊँचे उड़कर चारों ओर बिखर गए। वे धर्मवीर हिंदू जब तोपों के मुँह से बाँधे जा रहे थे, तब भी अपने गुरु रामसिंह की अखंड जय-जयकार कर रहे थे।

गुरु रामसिंह ने अपने शिष्यों द्वारा मालेर कोटला पर हमला बोलते ही तुरंत अंग्रेजी सरकार को लिख भेजा कि मेरा आदेश न माननेवाले और विद्रोह करनेवाले इन लोगों से मैंने गुरु-शिष्य का नाता तोड़ डाला है। परंतु अंग्रेज ऐसी स्वीकारोक्ति को तो माननेवाला था नहीं। उसने उन्हें अचानक पकड़ा और किसी तरह की न्यायिक प्रक्रिया न कर सन् १८१८ के रेगुलेशन के अधीन सीमा-पार ब्रह्म देश भेज दिया। स्वराज की प्राप्ति के लिए अपने प्राण संकट में डालनेवाले उस महान् गुरु का

अंत निर्वासन के बाद उसी कैद में सन् १८८५ में हो गया। उनका नामधारी पंथ अभी भी जीवित है, परंतु केवल एक पंथ के रूप में।

गुरु रामसिंह कूका के सशस्त्र विद्रोह का या नामधारी धर्मवीरों के बलिदान का कोई उल्लेखनीय प्रभाव उस समय पंजाब की जनता पर नहीं पड़ा। अंग्रेजी सेना के सिख सैनिकों या बाहर के सिख समाज की कोई सहानुभूति कूका पंथ से नहीं थी। इसके विपरीत दसवें गुरु गोविंदसिंह के बाद किसी व्यक्ति को 'गुरु' न माना जाए, सिखों के इस धर्ममत के विरुद्ध रामसिंह कूका को उनका पंथ 'गुरु' मानता था और वे भी स्वयं को 'गुरु' मानते थे। इस कारण भी उनपर और उनके नामधारी पंथ पर सिख समाज का रोष था। इस संकुचित दृष्टि के कारण सिखों में नामधारियों के आत्म-बलिदान से कोई लगाव नहीं उपजा। मुसलमान तो कूका पंथ के जन्मजात दुश्मन थे ही। अंग्रेजों के द्वारा कूकाओं का सत्यानाश किया जाना मुसलमानों को इसीलिए अच्छा लगा। वे तो इसे अंग्रेजों का उपकार ही मानने लगे। अंग्रेजी पढ़े-लिखे हिंदू वर्ग की स्थिति क्या थी, यह पूर्व में वर्णित है ही। सारांश यह कि इस सशस्त्र विद्रोह से पंजाब में नई चेतना का किंचित् भी संचार न हुआ, मानो किसी चट्टान पर चिनगारी-भर आ पड़ी हो। चिनगारी स्वयं ही बुझ गई। चट्टान का पत्थर पत्थर ही बना रहा।

पंजाब के बाहर भी इस क्रांतिकारी विद्रोह का कोई सार्वजनिक हल्ला-गुल्ला उस समय नहीं हुआ। धर्मवीर गुरु रामसिंह निर्वासित रहते हुए ब्रह्म देश में ही मर गए, यह हिंदू जाति के दस-पाँच समाचारपत्रों में कदाचित् आया हो, न आया हो। फिर उस घटना पर अग्रलेख या गौरव-प्रकाशन किए जाने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। स्वदेश और स्वधर्म के उद्धार हेतु उस महान् व्यक्ति के अलावा रणक्षेत्र में लड़े, मरे या तोपों से उड़ाए गए उनके जिन शूर अनुयायियों ने अपने प्राणों की बलि चढ़ाई, उनके लिए इस देश में उनके देशबंधुओं और धर्मबंधुओं ने सार्वजनिक कृतज्ञता का एक आँसू भी नहीं बहाया। उनके नामधारी पंथ के भावुक शिष्यों में एक ऐसी ममतामयी श्रद्धा आज भी अस्तित्व में है कि गुरु रामसिंह की मृत्यु का समाचार असत्य है और अंग्रेजों ने केवल दुष्टबुद्धि से वह समाचार फैलाया है। वास्तव में हमारा गुरु अभी भी जीवित है।

रामसिंह कूका की वीरगाथा को प्रकाश में लाने का पहला अवसर मुझे मिला। इंग्लैंड जाने के बाद सन् १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम का इतिहास लिखने के उद्देश्य से जब मैं उस समय की अंग्रेजी पुस्तकों, पुस्तिकाओं आदि—जो कुछ मिला, को पढ़ने लगा, तब दो-तीन पुराने लेखों में कूका या नामधारी पंथ के सशस्त्र विद्रोह के बिखरे हुए उल्लेख मुझे दिखे। उन्हें एकत्र करके मैंने रामसिंह के

आंदोलन की सारणी बनाई। 'इंडिया हाउस' में प्रति सप्ताह 'फ्री इंडिया सोसायटी' की ओर से मेरे जो व्याख्यान होते थे, उनमें से एक व्याख्यान में मैंने गुरु रामसिंह और उनके द्वारा सन् १८५७ के बाद अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध किए गए प्रथम सशस्त्र विद्रोह का इतिहास बनाई हुई उस सारणी के आधार पर बताया था।

उपलब्ध जानकारी के अनुसार, गुरु रामसिंह के चरित्र पर पहला सार्वजनिक व्याख्यान मेरे द्वारा इंग्लैंड में दिया गया। उन नामधारी धर्मवीरों को हमने उस सभा में जो सार्वजनिक कृतज्ञता के पुष्प अर्पित किए, वही पुष्पांजलि पहली श्रद्धांजलि थी। तब से मुझे जब-जब अवसर मिला, मैंने संभाषणों, व्याख्यानों और लेखों में गुरु रामसिंह कूका के चरित्र की जानकारी सार्वजनिक रूप से दी। इसी कारण आज हिंदुस्थान में क्रांतिकारियों का अभिमान रखनेवालों द्वारा लिखे गए ऐतिहासिक साहित्य में धर्मवीर और देशवीर कूकाओं के आत्मयज्ञ का कृतज्ञतापूर्ण उल्लेख थोड़ा-बहुत आ गया है।

अंग्रेजी सरकार के अंतस्थ वृत्त में कूका-विद्रोह के कारण बहुत-कुछ हलचल पैदा हुई। डंडाशाही के 'सबकुछ ठीक है' वाले जो अधिकारी थे, उनको मि. ह्यूम के कुटिल और कूटनीति के पक्षवालों ने सुनाना चालू किया—'देखा, हिंदुस्थानी जनता की दिखावटी शांति कैसी होती है? उसका यह प्रत्यक्ष उदाहरण है।'

सौभाग्य से कूकाओं का पहला झगड़ा धार्मिक कारणों से मुसलमानों से ही हुआ। इससे उनकी योजना फूट गई और मुसलमानों की सहानुभूति भी अंग्रेजों को मिल गई, अन्यथा सन् १८५७ के संकट की छोटी पुनरावृत्ति देखने को मिलती या नहीं, यह अतीत के गर्त में समा गया। फिर भी अंग्रेज कूटनीतिज्ञों का अंग्रेजी-शिक्षितों या जिन्हें वे 'अंग्रेजियत के प्रभाववाले' कहते थे, पर विश्वास बना रहा क्योंकि कूका सशस्त्र संघर्ष में सम्मिलित अधिकतर लोग अशिक्षित थे। उलटे उस अंग्रेजी-शिक्षित वर्ग को ही घेरकर और संगठित कर उनके द्वारा सामान्य जनता में ब्रिटिश राजनिष्ठा का प्रचार कराने की योजना बनाई जा रही थी, पर अंग्रेजी-शिक्षित भारतीय वर्ग पर जो विश्वास अंग्रेजों का था, उसे भी दो-तीन वर्षों में ही एक बलवत्तर झटका लगा।

□

प्रकरण–८

क्रांतिवीर वासुदेव बलवंत फड़के

मैंने पहले ही कहा है कि उपर्युक्त अवधि में महाराष्ट्र में अंग्रेजी-शिक्षित वर्ग में ही एक सशस्त्र क्रांतिनिष्ठ पक्ष गठित होकर ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध गुप्त कार्यवाहियाँ करने लग गया था। अंततः उस पक्ष के नेता क्रांतिवीर वासुदेव बलवंत फड़के ने अंग्रेजों द्वारा छीनी गई अपने देश की स्वतंत्रता पुनः प्राप्त करने के लिए सन् १८७८ में स्पष्ट रूप से सशस्त्र क्रांति की घोषणा कर दी।

जिन पाठकों को वासुदेव बलवंत फड़के की सशस्त्र क्रांति का रोमांचक वर्णन विस्तार से जानना हो, वे श्रीयुत् वि.श्री. जोशी द्वारा लिखित प्रसिद्ध मराठी पुस्तक 'वासुदेव बलवंत फड़के यांचे चरित्र' पढ़ें। उसमें सारा इतिहास साधार, साद्यंत तथा सरसतापूर्वक वर्णित है। तथापि यहाँ वासुदेव बलवंत फड़के के चरित्र में से कुछ घटनाओं का उल्लेख आवश्यक है।

वासुदेव बलवंत ने अपना एक आत्म-चरित्र सन् १८७१ के आसपास लिखा था। वे दैनंदिनी (डायरी) भी लिखा करते थे। उन्हें जब सरकार ने पकड़ा, तब उनके सामान में उपर्युक्त दोनों वस्तुएँ मिली थीं। इसके सिवाय उनपर और उनके साथियों पर चले न्यायिक प्रकरण से भी उनके क्रांतिकारी विचार और आचार पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उपर्युक्त आधार पर वासुदेव बलवंत पर लिखा 'सुशील यमुना' या ऐसे ही किसी नाम का एक उपन्यास मैंने पढ़ा था, ऐसा कुछ स्मरण आता है। वह उपन्यास रायबहादुर महादेव गोविंद रानडे के प्रोत्साहन से लिखा गया था। इसके अतिरिक्त क्रांतिवीर फड़के के सशस्त्र विद्रोह के संबंध में प्रचलित अनेक दंतकथाएँ भी हम बच्चे उस समय के प्रौढ़ों से बड़ी उत्सुकता से सुनते थे। हमारे क्रांतिप्रवण हृदय उस वीरगाथा को सुनकर स्फूर्ति पाते थे। मैं पढ़ने के लिए जब नासिक में आया और अपनी गुप्त संस्था की एक प्रचारात्मक प्रकट शाखा

'मित्र मेला' की स्थापना की, तब उसकी एक बैठक की थी। उक्त बैठक में हमने अपनी क्रांतिकारी गुरु-परंपरा के जो चित्र लगाए थे, उनमें एक चित्र फड़के का भी था जिसे हम एक दरजी की दुकान से लाए थे। दरजी ने वह चित्र बड़े भक्ति-भाव से एक परदे की आड़ में टाँग रखा था।

वासुदेव बलवंत का जन्म सन् १८४५ में हुआ था। जब वे बारह-तेरह वर्ष के थे, तब उत्तरी हिंदुस्थान में सन् १८५७ का क्रांतियुद्ध पूरे जोरों पर था। क्रांतियुद्ध के नाना साहब पेशवा, तात्या टोपे, रानी लक्ष्मीबाई, कुँवर सिंह आदि नेताओं और संग्राम की वीरगाथाओं की चर्चा महाराष्ट्र के हाट-बाजार तथा गली-नुक्कड़ पर कुछ प्रकट और कुछ चुपके-चुपके होती थी। वासुदेव बलवंत के घर में भी उनके पिता तथा चाचा की मित्र-मंडली में उन वीरगाथाओं की चर्चा जोर-शोर से होती थी। समाचार लाने और फिर उसे पूरे जोश से मित्र-मंडली को सुनाने का काम वासुदेव के पिता बलवंत बड़े उत्साह से किया करते थे। बालक वासुदेव तल्लीन होकर पिता के चेहरे की ओर टकटकी लगाकर देखते हुए कथा सुनता था और मन-ही-मन स्वप्न देखा करता था कि बड़ा होने पर अंग्रेजी राज समाप्त कर स्वदेश को स्वतंत्र करवाएगा।

वासुदेव को फिर एक विद्यालय (हाई स्कूल) में अंग्रेजी पढ़ाई गई। विद्यालय छोड़ने के बाद भी वासुदेव अंग्रेजी पढ़ता रहा। उसने उस भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। वह अंग्रेजी अच्छी तरह बोल भी लेता था। उसने कुछ वर्ष तक इधर-उधर छोटी-मोटी नौकरी की। सन् १८६५ में वह सेना के वित्त विभाग (मिलिटरी फाइनेंस डिपार्टमेंट) में लिपिक हो गया। यह नौकरी पुणे में थी, इसलिए वह पुणे आया और यहाँ उसके स्वदेश-भक्ति रूपी इस्पात पर पुणे के राजनीतिक वातावरण की धार चढ़ी।

सरकारी नौकरी करते हुए उनके मन को बेचैन करनेवाली एक व्यक्तिगत घटना भी घटित हुई। उनकी माँ, जो शिरढोण नामक गाँव में रहती थीं और जिन्हें वासुदेव बलवंत बहुत प्रेम करते थे, गाँव में ही अस्वस्थ हो गईं। उनसे तत्काल मिलने जाने के लिए उन्होंने अधिकारियों से अवकाश माँगा, परंतु अनुमति देने में वे अधिकारी टालमटोल करने लगे। यह स्थिति देखकर वे बिना अनुमति के ही पुणे से गाँव चले गए। वहाँ पहुँचे तो उन्हें ज्ञात हुआ कि उनकी माँ का देहावसान हो चुका है। यह सुनकर उनके दुःख का पारावार नहीं रहा। 'मेरी माँ इस जन्म में अब मुझे कभी नहीं दिखेंगी', यह बात उन्हें बहुत चुभी। इसका भी उन्हें बहुत दुःख हुआ कि उनकी माँ अपने अंतिम समय अपने पुत्र का मुँह भी नहीं देख पाईं। वे पुणे लौटे, नौकरी पर गए, किंतु उनका भीषण झगड़ा उस अधिकारी से हुआ, जिसके द्वारा

अनुमति न दिए जाने के कारण वे तत्काल गाँव नहीं जा पाए थे। इस अन्याय के विरुद्ध उन्होंने बंबई सरकार से अपील की। परंतु एक सामान्य लिपिक की बात कौन सुनता? फिर, जब उनकी माँ के वार्षिक श्राद्ध का दिन आया, तब भी उनका अवकाश स्वीकार नहीं हुआ। इससे उन्हें न केवल अत्यधिक दुःख हुआ, अपितु अवकाश न देनेवाली अंग्रेज सत्ता की समस्त राज-व्यवस्था के प्रति ही अत्यधिक घृणा उनके मन में भर गई। अन्याय का बदला किस तरह लिया जाए, उनका संतप्त मन यही सोचने लगा।

वासुदेव बलवंत का मन मूल में ही स्वराष्ट्र-भक्ति एवं स्वराज-निष्ठा से ओत-प्रोत था। उनके संतप्त मन में इस घटना से जैसे तूफान खड़ा हो गया और फिर व्यक्तिगत जीवन से ऊपर उठकर राष्ट्र-जीवन के साथ एकात्मता स्थापित करने का विचार आया। उनका व्यक्तिगत क्रोध उदात्त होकर राष्ट्रीय क्रोध में बदल गया। उन्होंने संकल्प लिया और फिर स्वयं को स्वदेश-सेवा के लिए अर्पित कर दिया। उन्होंने देश को स्वतंत्र कराने के लिए अपना प्राण न्योछावर करने तक की ठानी।

स्वदेश की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने का निश्चय करते ही वासुदेव बलवंत ने रायबहादुर रानडे के व्याख्यान के कारण सन् १८७२-७३ में उभरे पहले स्वदेशी आंदोलन के लिए स्वयं को समर्पित कर दिया। अनेक लोगों की तरह उन्होंने भी स्वदेशी वस्त्र और अन्य वस्तु उपयोग में लाने का व्रत लिया। वे सरकारी नौकरी पर भी स्वदेशी कपड़ों में ही जाते। इससे भी उनको संतोष न हुआ तो वे स्वदेशी का प्रचार करने के लिए व्याख्यान भी देने लगे। उनके व्याख्यान तीखे होते थे। व्याख्यान के लिए डोंडी भी वे स्वयं पीटते थे। पुणे में गली चौक में थाली पीट-पीटकर वे घोषणा करते—'भाइयो-बहनो, सुनो! आज शनिवार बाड़े के सामने मेरा व्याख्यान है। हमारा देश स्वतंत्र होना चाहिए। अंग्रेजों को भगा देना चाहिए—यह सब कैसे हो, यही मैं अपने व्याख्यान में कहूँगा!!' इन व्याख्यानों के साथ ही युवकों के लिए उन्होंने एक अखाड़े की भी स्थापना की। वे स्वयं बड़े व्यायाम-निपुण थे। उनका शरीर कसा हुआ था। वे घोड़ा दौड़ाते थे। साथ ही खड्ग, खंजर, पटा, पिस्तौल, बंदूक, बरछी आदि शस्त्र चलाने में भी निपुण थे। लोगों को सबकुछ सिखाने का उपक्रम उन्होंने चालू किया। इस अखाड़े में जिन युवकों की भीड़ होती थी, उनमें अधिकतर अंग्रेजी-शिक्षित ही थे। उनके अखाड़े के एक छात्र का नाम था—बाल गंगाधर तिलक।

बिना शस्त्र स्वराज नहीं

'बिना शस्त्र धारण किए स्वराज नहीं मिलेगा'—उनका बार-बार यही कहना

होता था। सन् १८७६-७७ के अकाल से क्रोधित लोगों में लूट, चोरी, डकैती आदि का क्रम तेजी से चल रहा था। उनमें से भील, रामोशी प्रभृति कुछ साहसी जातियों के लोगों को वासुदेव ने अपना साथी बना लिया। धीरे-धीरे दो-तीन सौ सशस्त्र लोगों की मुट्ठी भर सेना उनके पास हो गई। अपनी गुप्त संस्था के गद्रे, साठे आदि सुशिक्षित लोग भी उनके साथ थे। अन्य सुशिक्षित एवं प्रतिष्ठित अनुयायियों द्वारा गुप्त सहायता देने का वचन भी उन्हें प्राप्त हुआ। इस तरह सन् १८७९ के प्रारंभ में सशस्त्र विद्रोह करने का निश्चय उन्होंने किया। उसी के अनुसार 'हमें अंग्रेजों का राज पलटकर हिंदुस्थान में स्वतंत्र लोकसत्तात्मक स्वराज की स्थापना करनी है'—यह सार्वजनिक घोषणा करके वासुदेव बलवंत ने सशस्त्र क्रांति का रणसिंहा फूँक दिया।

ऐसी क्रांतिकारी सेना बनाने के लिए धनवानों से पैसा माँगने पर कोई भी नहीं देता, यह अनुभव जब उन्हें हुआ, तब उन्होंने गाँव-गाँव में छापे मारना प्रारंभ कर दिया। सरकारी कोषागार लूटने का भी उनका विचार था। उनकी टोलियाँ जब डकैती करने लगीं, तब चारों ओर आतंक फैल गया। पुलिस दल भी उनका सामना करने से कतराने लगा। बंबई सरकार ने इस समस्या से निपटने के लिए मेजर ड्यानियल को नियुक्त किया। मेजर अपनी सेना की टुकड़ी लेकर वासुदेव बलवंत को पकड़ने चला। वासुदेव बलवंत घोषणा करते थे—'हम कोई भूखे-नंगे डकैत नहीं हैं, देश के स्वतंत्रता-संग्राम के लिए निकले सशस्त्र क्रांतिकारी हैं!' अंग्रेजी-शिक्षित वर्ग के अनेक सरकारी नौकर, शिक्षक, छात्र, बड़े अधिकारी तथा कुछ समाचारपत्रों के संपादक भी बलवंत से जुड़े हुए थे। वे भी 'फड़के' के लिए लोक-सहानुभूति उत्पन्न करते रहे। इस कारण मेजर ड्यानियल की कुछ चल नहीं पा रही थी। उधर वासुदेव बलवंत का आतंक बढ़ता ही जा रहा था। लोग उन्हें प्यार से 'दूसरा शिवाजी' भी कहने लगे। उनके दल के सैनिक उन्हें 'महाराज' कहते थे। उनकी टोली के एक सदस्य का विशेष उल्लेख यहाँ करना आवश्यक है। उस सदस्य का नाम था—दौलत रामोशी।

सरदार दौलतराव

महाराष्ट्र में 'रामोशी' नामक एक जाति है। इस जाति के बहादुर जवान अधिकतर चोर-डकैतों के दल में घुसे रहते थे। वासुदेव बलवंत की प्रेरणा से उनमें से कितने ही स्वधर्म के अभिमान से देश की स्वतंत्रता के लिए लड़नेवाले स्वयं-सैनिकों की पात्रता पा गए। उन्हीं में से एक था दौलतराव रामोशी। वह वासुदेव बलवंत का इतना तत्त्वनिष्ठ एवं एकनिष्ठ अनुयायी बन गया कि उन्होंने उसको

'सरदार दौलतराव' की उपाधि दी और उसे स्वतंत्रता सैनिकों के एक दल का प्रमुख बना दिया। मेजर ड्यानियल ने पहले उसी का पीछा करना आरंभ किया। मेजर ड्यानियल पीछे-पीछे और दौलतराव लूटमार करते हुए आगे-आगे। यह क्रम लंबा चला। परंतु एक बार एक पहाड़ी, जिसे 'ठिसुबाई की टेकड़ी' कहा जाता था, के पास दोनों का आमना-सामना हो गया। जब लुका-छिपी का दाँव खेलना असंभव लगने लगा, तब सरदार दौलतराव ने ड्यानियल पर गोलियों की वर्षा आरंभ कर दी। ड्यानियल के सैनिक कसे हुए प्रशिक्षित थे। उनके पास गोला-बारूद भी भारी मात्रा में था। गोलीबारी में दोनों ओर के सैनिक हताहत होते-होते दौलतराव की टुकड़ी लगभग समाप्त हो गई। दौलतराव के किसी सहयोगी ने कहा, 'अब हम स्वयं ड्यानियल की शरण में जाएँ—यह उचित है' परंतु उन्होंने उत्तर दिया, 'नहीं, मैं अंग्रेजों के हाथों जीवित पड़नेवाला नहीं।'

लड़ते-लड़ते अकस्मात् ड्यानियल और वे आमने-सामने आ गए। दौलतराव ने शीघ्रता से बंदूक छोड़ पिस्तौल से ड्यानियल पर गोली चलाई, परंतु वह चूक गई, जबकि ड्यानियल की गोली दौलतराव के हृदय में लगी और वे धराशायी हो गए। स्वदेश-स्वातंत्र्यार्थ अंग्रेजों से लड़ते-लड़ते जिन हिंदू वीरों ने **'अभिमुख शस्त्राघाती समरमखामागि राहिले काय'** *(अभिमुख शस्त्राघात पर, समरमख में कभी हटे नहीं थे)* आत्माहुति दी, उनकी नामावली में क्रांतिवीर सरदार दौलतराव रामोशी का नाम शीर्ष पर लिखा जाना चाहिए।

ब्रिटिश शासन की बंबई सरकार को जल्दी ही यह समझ में आ गया कि बात हलकी-फुलकी नहीं है। इसलिए केवल एक मेजर ड्यानियल और उसकी सैनिक टुकड़ी कुछ नहीं कर पाएगी। तब बंबई सरकार ने तीन-चार और अधिकारियों को कर्नल क्रिस्पिन, मेजर फुल्टन, कैप्टन ब्रेन आदि अधिक संख्या में सैनिक देकर फड़के के स्वतंत्रता-संग्राम को रोकने के लिए भेजा। बंबई सरकार ने वासुदेव बलवंत को पकड़ने के लिए बड़ा पुरस्कार भी घोषित किया। इस घोषणा के उत्तर में वासुदेव बलवंत की अपनी सरकार ने भी घोषणा की कि जो कोई बंबई के गवर्नर सर रिचर्ड टेंपल, पुणे के कलक्टर और सेशन जज का सिर काटकर ला देगा, उसे पुरस्कार दिया जाएगा। इस घोषणा-पत्र पर वासुदेव बलवंत का मोटे अक्षरों में बड़ा ही शानदार हस्ताक्षर था और उस हस्ताक्षर के नीचे लिखा था—'पेशवा का नया मुख्य प्रधान—वासुदेव बलवंत फड़के।'

वासुदेव बलवंत ने यह भी घोषणा की कि अब हम हर यूरोपी पर हमला करके देश के शत्रुओं को मारेंगे। सन् १८५७ के संग्राम की पुनरावृत्ति होगी। पूरे देश में संघर्ष होगा।

क्रांतिकारियों का यह घोषणा-पत्र बड़े-बड़े नगरों में दीवारों पर क्रांतिकारियों में से कौन, कब चिपका जाता था, कभी ज्ञात नहीं होता था। वासुदेव बलवंत की सारी धमकियाँ खोखली नहीं होतीं, यूरोपीय बस्तियों में यह आतंक था। इसी समय केशव रानडे आदि क्रांतिकारियों द्वारा पुणे में, जहाँ अंग्रेजों के बड़े दफ्तर थे, दो बाड़ों—विश्रामबाग बाड़ा और बुधवार बाड़ा—को आग लगा दी गई। इन दोनों भवनों में रखे सारे कागज-पत्र जलकर राख हो गए। इस घटना से पुणे पर वासुदेव बलवंत के संभावित आक्रमण की एक अफवाह उड़ी। बंबई में भी यही अफवाह उड़ी। सन् १८५७ के दिनों की आग में झुलसे सारे नगर-ग्रामनिवासी यूरोपीय डर गए। अलग-अलग रहनेवाले यूरोपीय लोगों ने अपने बाल-बच्चे सुरक्षित स्थानों पर भेज दिए। जो समूह में रहते थे, उन्होंने शस्त्र और गोला-बारूद का प्रबंध कर लिया। वासुदेव बलवंत की इस धूमधाम के समाचार देसी अखबारों से देश भर में फैल गए। यही नहीं, इंग्लैंड के 'डेली टेलीग्राफ', 'मॉर्निंग पोस्ट', 'टाइम्स' आदि समाचारपत्रों में भी फड़के फड़कने लगे।

पार्लियामेंट में भी महाराष्ट्र के सशस्त्र विद्रोह को लेकर प्रश्न किए गए। उस समय के समाचारपत्रों की कतरनों को यहाँ उद्धृत करने से ही उस समय की परिस्थिति की कल्पना अधिक स्पष्ट होगी। इसलिए मैं कुछ बानगी नीचे दे रहा हूँ—

ऐंग्लो-इंडियन पक्ष के 'बॉम्बे गजट' में लिखा था—

'The rumours that have been flying about Western India for the past few months have now received ample confirmation. The rumours ascribe to certain members an ambition on their part to renew in Western India those tactics by which Shivaji in days gone by succeeded eventually in sapping the power of the them mighty Mughal Empire. A little of martial law would do Poona a great deal of good. The Mutiny (of 1857) attained its dangerous proportion mainly because we ignored it at the beginning. There should be no mistake of that sort in Poona now.' (Bombay Gazette; 15 May, 1879)

'We are sorry that the Government should be away from the presidency at a time of panic and Bombay was almost panic stricken when it heard on Tuesday last of the dacoity at Palaspe, which is only a few miles from this place.' (Native opinion;

18.5.1879, Bombay.)

'A feeling of extreme uneasiness at the exploits of the decoits is becoming very general. The people in the city and cantonment of Poona are greatly alarmed. Accounts of dacoities continue to be received in nearly all parts of the presidency. Even the Europeans residing in the railway lines are frightened into sending their wives and children away for safety.' (Bombay Gazette; 19.5.1879)

'लंदन टाइम्स' ने भी भारत में उठते बवंडर के समाचार छापते हुए ऐसा मत व्यक्त किया था—'These armed gangs seem to form a part of a regular organization under the command of one Vasudeo Balwant lately a clerk in the Finance Department.'

इसी समाचारपत्र ने एक संपादकीय में लिखा था—'The manifesto sent to the Bombay Governer resembles the insolence of Irish Ribandism. It talks of organizing another Mutiny (of 1857) and invents as its patron a mysterious potentate on whom it bestows the name of Shivaji the Great, founder of Maratha Empire.' (London Times; 19.5.1879)

मद्रास के 'इंडियन डेली न्यूज' ने इसी मई माह में लिखा—'The people of Poona and Satara have a history of dacoits ripening into successful rebellions, a living history repeated in their folk songs. Vasudeo Balwant's true character has not yet been comprehended. If he be capable of half burning the capital of Maharastra and of filling all the country with terror at the expectation of his name, the reward (for his capture) appears to be too small.' आदि-आदि।

कलकत्ता के Statesman ने लिखा है—'It is not strange that the recent incendiarism at Poona should have excited the keenest interest and enxiety throughout the country... where conflagrations have come to be recognised as serious rebellion...' (21.5.1879)

अंत में अंग्रेजी सैनिक दलों के चारों ओर से घेर लेने के बाद मेजर ड्यानियल

ने २० जुलाई को वासुदेव बलवंत और उनके साथियों को पकड़ा। उनपर एवं उनके चुने हुए साथियों पर अंग्रेजों की सरकार के विरुद्ध सशस्त्र युद्ध घोषित करना, डाके डालना आदि के आरोप लगाकर न्यायिक कार्रवाई चालू की गई। कारागृह में वासुदेव बलवंत को कष्ट दिए गए। उन्होंने आत्महत्या का भी प्रयास किया, परंतु वह विफल हुआ। पुणे में न्यायालय के आसपास सैकड़ों लोग उनके दर्शन पाने के लिए खड़े रहते थे। वे सब वासुदेव बलवंत की जय-जयकार भी करते थे। उन दिनों उन्हें कोई विधिज्ञ (वकील) मिलना कठिन था, पर 'जगत् काका' के नाम से ख्यात गणेश वासुदेव जोशी ने वकातलनामा प्रस्तुत किया।

अभियोग चालू हो जाने पर वासुदेव बलवंत ने वकील की सलाह के अनुसार कहा, 'मैंने आत्मवृत्त तीव्र आवेग में लिखा है, वह साक्ष्य के लायक नहीं है। रामोशी डकैती डालते ही हैं, उनको पकड़कर सरकार के सुपुर्द करने हेतु मैंने उनसे मित्रता की। विद्रोह करने का मेरा विचार नहीं था। साक्षीगण पुलिस के डंडे के भय से झूठ बोल रहे हैं।' सरकारी शिकंजे से छूटने के लिए वकील ने जो-जो सिखाया, वह उन्होंने कहा, पर अंत में इस नाटक का निर्वाह नहीं कर पाए और जो कुछ सत्य था, वही उन्होंने कहा—विधिक प्रकरण में साक्षीगणों ने कहा कि वासुदेव बलवंत हमसे कहा करते थे कि 'मुझे ब्रिटिश राज उलटकर हिंदू राज स्थापित करना है।'

स्वयं वासुदेव बलवंत द्वारा लिखा हुआ आत्मवृत्त और दैनंदिनी सरकार की ओर से साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत की गई। वासुदेव बलवंत ने भी अपने अंतिम वक्तव्य में निर्भय होकर उसका अनुवाद किया—उन्होंने कहा, 'ऐ मेरे सर्व हिंदुस्थानवासी बंधुओ! आपके कल्याण के लिए मैंने अपने प्राण झोंक दिए हैं। ऐसा करके मैं कोई विशेष कार्य कर रहा हूँ, ऐसा नहीं है। क्या दधीचि ऋषि ने देवों के कल्याण के लिए अपनी हड्डियाँ निकालकर नहीं दी थीं? वैसे ही मेरे प्राण लेकर ईश्वर आप सबका कल्याण करे, यही उससे मेरी प्रार्थना है।'''मेरे देशबंधुओं पर अंग्रेजों द्वारा किए गए नानाविध अत्याचारों पर विचार करते-करते मेरा मन अंग्रेजी सत्ता का नाश करने के लिए मचलने लगा। प्रात:काल से संध्याकालपर्यंत और रात्रि में तथा नींद में भी मेरा निरंतर वही विचार चलता रहता था। मध्य रात्रि में मैं उठ बैठता और देर तक इसपर विचार करता रहता कि ब्रिटिशों का नाश कैसे किया जा सकता है। जिस भूमि की कोख से मेरा जन्म हुआ, उसीसे सारे जन्मे। वे दाने-दाने के लिए तरसते हुए मरें और हम कुत्ते की तरह पेट भरें, यह मुझसे सहन नहीं होता था। मैंने इसलिए अंग्रेजों के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह छेड़ा, नौकरी पर लात मारी और स्वराज के लिए लूटमार से धन भी एकत्र करने का निश्चय

किया।''इस तरह अच्छे आधार पर खड़ा छोटा विद्रोह कर अपना राज क्यों न प्राप्त किया जाए। इस तरह सब ओर से सशस्त्र प्रयास होने पर यदि चमत्कार होता तो प्रजासत्तात्मक राज्य की स्थापना का मेरा उद्देश्य पूरी तरह सिद्ध हो जाता। फिर आकाश से स्वयं ईश्वर ही उतरकर अंग्रेजों को बचाता तो बचाता, पर यह न हो सका। मुझे सफलता नहीं मिली, परंतु ईश्वर जानता है, यह सब मैंने देश के लिए किया। ऐ हिंदुस्थानवासी लोगो, मुझसे आपको कोई लाभ न हुआ। मैं अपना उद्देश्य प्राप्त नहीं कर सका, इसके लिए आप मुझे क्षमा करें।'

अभियोग की सारी कार्यवाही के अंत में वासुदेव बलवंत को आजीवन कारावास का दंड दिया गया। इसके बाद विधिक सच-झूठ का सहारा लेकर एक अपील भी उन्होंने की। अपील में उन्होंने कहा था—मैंने विद्रोह कभी किया ही नहीं। मैं तो ब्रिटिश राज का राज्यनिष्ठ नागरिक था। शिवाजी ने भी 'मैं मुसलिम बादशाह का एकनिष्ठ सेवक हूँ' ऐसे स्वाँग कई बार किए थे। उनकी अभ्यर्थना (अपील) अस्वीकार हुई। सरकार ने उन्हें आजीवन कारावास भोगने के लिए 'अदन' भेज दिया।

वहाँ कारावास में रहते हुए इस वीर व्यक्ति ने एक रात हाथ-पैर की बेड़ियाँ तोड़ डालीं, कोठरी के द्वार उखाड़ डाले और कारागृह की दीवार पर चढ़कर भाग गया। प्रात:काल होते ही इस अद्भुत साहस की कथा अधिकारियों ने पढ़ी। तुरंत ही इधर-उधर घोड़े दौड़ाए गए। दौड़कर कई कोस दूर पहुँचे उस क्रांतिकारी वीर को दिन ढलते फिर से पकड़ लिया गया। वह पुन: कारागृह में बंद कर दिए गए। एक-दो वर्षों में उनका वह बलवान शरीर दुर्बल हो गया और सन् १८८३ में वह पराक्रमी देशभक्त तिल-तिलकर कारागृह में ही मर गया।

उनके संबंध में देशवासियों के मन में क्या था, वह उस परिस्थिति में अंग्रेजी कानूनों की भयानक जकड़न में जितना अधिक स्पष्टता से कहा जा सकता था, उतना पूरी सदयता से 'अमृत बाजार पत्रिका' ने कह डाला। उस समाचारपत्र के संपादक ने लिखा है—'Vasudeo Balwant Phadake possesses many of the traits of those high souled men who are now and then sent in this world for the accomplishment of great perposes. ...The noble feelings of a Washington a Tale (of Switzerland) and a Garibaldi animated his breast and if he is not appreciated in this country. ...His heart overflowed with love for India. Whatever he had he was willing to offer for his country, even his life. The every idea of establishing a Republic shows the

unselfish nature of his mind. He had no intention to establish a Raj of his own. ...Forget for a moment that Phadake led bands of dacoits and sought the subversion of British Government and then he stands before you as a being as superior to the common herd of humanity as the Himalayas to the Satpura Range.' (A.B. Patrica; 15.11.1879)

इस सशस्त्र विद्रोह के साठ-सत्तर सदस्यों को काला पानी भेजा गया। कुछ यों ही मर गए। अनेक की गृहस्थी उजड़ गई और आश्चर्य यह कि अंग्रेजों के विरुद्ध छेड़े गए इस सशस्त्र विद्रोह में एक भी अंग्रेज का रक्त नहीं बहा, अंग्रेजों का घर-बार नहीं लूटा गया। इसका कारण मुख्य रूप से यही था कि क्रांतिकारियों का कार्यक्रम ही दिशा भूल गया था। अंशत: इसे 'योगायोग' ही कहा जाएगा।

रामसिंह कूका और वासुदेव बलवंत

सन् १८५७ के बाद १८८४ तक अंग्रेजी शासन के विरुद्ध इन दो उल्लेखनीय क्रांतिकारी विद्रोहों में स्वरूपत: ही कुछ विभेद था। गलती से ठोकर लगकर फटा हुआ बम और निशाना साधकर फेंका गया बम, इसमें जो भेद होता है, वही भेद इनमें था। अंग्रेजों का विश्वास जिस वर्ग पर था, उस अंग्रेजी-शिक्षित एवं सरकारी सेवक वर्ग में से ही वासुदेव बलवंत और उसके क्रांतिकारी अनुयायी आगे आए। अंग्रेजी राज उलटकर मातृभूमि को स्वतंत्र करने और उस स्वतंत्र हिंदुस्थान में प्रजासत्तात्मक राज की स्थापना करने के लिए हम शस्त्र उठा रहे हैं, ऐसी घोषणा उस समय के भारतीय नेताओं को असभ्य, अभद्र और अवाच्य लगनेवाली थी, पर अंग्रेजों को सर्पदंश की तरह प्राणघातक लगनेवाली विषबुझी भाषा में घोषणा कर वासुदेव बलवंत ने क्रांतिकारी विद्रोह किया था। उसमें भी परिस्थिति ऐसी कि कूका आंदोलन को स्थानीय सहायता और सद्भाव न मिलने के कारण 'तेरी भी चुप, मेरी भी चुप' के बहाने अंग्रेज उस विद्रोह का उल्लेख कहीं न करके छिपाने में सफल हो गए। इस कारण सशस्त्र विद्रोह की परंपरा पंजाब में जड़ नहीं जमा सकी, परंतु महाराष्ट्र में रामोशी, किसान तथा पशुपालकों से लेकर स्वयं को ब्रिटिशनिष्ठ कहलानेवाले बड़े-बड़े और धनवान नेताओं तक ने अपनी-अपनी तरह से वासुदेव बलवंत को देशवीर के रूप में सम्मान और मान्यता दी। इन सब कारणों से इस सशस्त्र विद्रोह का हल्ला-गुल्ला न केवल स्वदेश में, बल्कि विलायत में भी हुआ और इस कारण सशस्त्र क्रांति की परंपरा महाराष्ट्र में जड़ जमा सकी।

□

प्रकरण–९

वासुदेव बलवंत का सशस्त्र संघर्ष

(अंग्रेजी सत्ता पर हुई प्रतिक्रिया)

हिंदुस्थान का राजकाज जिन नागर और सैनिक ब्रिटिश अधिकारियों के हाथों रहता था, उनमें से दंडनैतिक वर्ग भी इस क्रांतिकारी विद्रोह से भयभीत हुए बिना न रह सका। राज्य-व्यवस्था को खतरा उत्पन्न हो गया है, यह उनको मानना पड़ा। किंतु सदैव ऐसी हाँक लगाते रहना उस वर्ग के लिए कठिन हो गया था।

अंग्रेज अधिकारियों के दूसरे वर्ग, जो पहले से ही डंडाशाही वर्ग को 'देखो सावधान रहो, नहीं तो फिर सन् १८५७ की भाँति प्राण संकट में पड़ेंगे' कहता आ रहा था, को अपनी दूरदृष्टि की शान बघारने और हिंदुस्थान का राजकाज अपनी कही कूटनीति से चलाने का अवसर वासुदेव बलवंत के सशस्त्र विद्रोह के कारण प्राप्त हुआ। महाराष्ट्र में जिस वर्ग को ब्रिटिशनिष्ठ वर्ग समझते थे, उस अंग्रेजी-शिक्षित वर्ग में ही ब्रिटिश द्रोह पनप रहा है, यह तथ्य सशस्त्र विद्रोह से स्पष्ट हो जाने से सारे ब्रिटिश कूटनीतिज्ञ भयभीत हो गए थे। वह ब्रिटिश द्रोह का छूत अन्य प्रदेशों के ब्रिटिशनिष्ठ अंग्रेजी-शिक्षित वर्ग में न फैल पाए, इसके लिए उन्होंने तत्काल साम-दाम-दंड-भेद का मायाजाल फैलाना शुरू कर दिया। इस ऐंग्लो-इंडियन वर्ग के नेता थे ए.ओ. ह्यूम। इन ह्यूम साहब का चरित्र उनके ही वर्ग के उनके एक साथी ने लिखा है। उस चरित्र में ह्यूम की उस समय की वैचारिक दशा का यह चित्र हमें देखने को मिला है—

'Looking over India during the period with the help of information at his (Hume's) disposal (he had served as chief secretary to the Viceroy) Hume became convinced that concerted action by responsible friends of India was necessary to counteract

the dangerous currents of opinions and to turn the gathering political consciousness of educated Indians into pacific and fruitful channels. When Lyton left (1880 A.D.) the country after a term during which famine, frontier wars and administrative Vagaries had combined to produce a mass of ugly feelings, the outlook was exceedingly disquieting...

'Hume realised that the existing Government administered by foreign officials on outocratic lines was dangerously out of tune with the people. There was a great gulf between the foreign beaurocracy self centered on the heights of Simla and the millions living on the plain below. And about the year 1878-79 economic combined with political troubles were actively at work throughout India. ...While in schools and colleges the leaven of Western education was working among the intellectuals teaching lessons of political History and now it was only through storm and stress that the British people had won for themselves the blessings of freedom.

'Hume knew there was imminent risk of a popular outbreak of which Indian leaders were blissfully ignorant. The new wine was fermenting in old bottles and that any time the bottles might burst.

'There existed no recognized channel of communication between the rulers and the ruled. The absence of which found the Government imprepared to meet the emergency in 1857.'

उपर्युक्त उद्धरण का अनुवाद देने की आवश्यकता नहीं है। इन अंग्रेज कूटनीतिज्ञों के विचारों के संबंध में हमने पहले जो कहा, वही इसमें कहा गया है। केवल उसे उनके अपने शब्दों का आधार होना चाहिए। इसलिए हमने उपरोक्त उद्धरण दिए हैं। उसमें वासुदेव बलवंत के सन् १८७८-७९ के सशस्त्र विद्रोह और सत्तांतरण का स्पष्ट उल्लेख है। अंग्रेजी सत्ता को वास्तविक डर ऐसे ही सशस्त्र क्रांतिकारी विद्रोह का है। ऐसे साधनों की ओर भारतीय लोगों का ध्यान न जाए, इसलिए उनकी दिशा परिवर्तित करने के लिए क्या-क्या लालच दिए जाएँ, अंग्रेजी सत्ताधिकारियों और कूटनीतिज्ञों की यह चिंता उपर्युक्त उद्धरण में स्पष्ट है। इस

संबंध में अंग्रेजी सलाहकारों के बीच गहन चर्चा के उपरांत यह तात्कालिक गुप्त नीति निश्चित हुई थी कि अंग्रेजी-शिक्षितों एवं सरकारी सेवकों का जो एक ब्रिटिशनिष्ठ, प्रभावी, संपन्न और मुखर वर्ग हिंदुस्थान के सभी प्रांतों में अस्तित्व में है, उसे संगठित करने के लिए उनकी एक अखिल भारतीय संस्था स्थापित की जाए। इस ब्रिटिशनिष्ठ भारतीय संस्था के हाथों से ही जनता में उदित हो रही क्रांतिकारी प्रवृत्ति की पुरानी जड़ें आसानी से खोदकर निकाली जा सकती हैं और नए अंकुर पैदा होना असंभव किया जा सकता है, ऐसा विश्वास अंग्रेजी कूटनीतिज्ञों को हो गया था। अतः इस वर्ग के नेता श्री ह्यूम ने सन् १८८३ में सरकारी सेवा से मुक्त होते ही यह काम अपने हाथों में लिया।

पहले उन्होंने हर प्रांत के ब्रिटिशनिष्ठ भारतीय नेताओं से अपने मन की बात छिपाते हुए विचार-विनिमय किया। उस समय देश में स्थापित हो चुकी या स्थापित हो रही भारतीय राजनीतिक संस्थाओं का भी अनुमान उन्होंने लगाया।

ऐसी संस्थाओं में आयु और कर्तव्य से अग्राधिकार-प्राप्त संस्था थी पुणे की 'सार्वजनिक सभा'। रायसाहब श्री रानडे प्रभृति अनेक अंग्रेजी-शिक्षित बड़े नेताओं ने सन् १८७० में वह राजनीतिक संस्था स्थापित की थी। लोगों में बड़े प्रेम और आदर से 'जगत् काका' कहलाए जानेवाले गणेश वासुदेव जोशी उस सभा के सबसे कर्मठ देशभक्त कार्यकर्ता थे। उनका पूरा जीवन मानो इसी सभा के लिए समर्पित था। वासुदेव बलवंत फड़के भी उस सभा में थे। कोरी भाषणबाजी से अपना मन उचट जाने तक वे उस सभा के सक्रिय कार्यकर्ता थे। वैसे तो वह संस्था विधि की मर्यादाओं में कार्यरत संस्था थी, पर सन् १८७४ में ही उसने एक ऐसा प्रस्ताव पारित किया था, जो उस समय किसी भी कार्यरत राजनीतिक संस्था को नहीं सूझ-सँभल रहा था। प्रस्ताव था कि हिंदुस्थान के प्रतिनिधि ब्रिटिश पार्लियामेंट में लिये जाएँ और भारत का राजकाज उनके विचार से चलाया जाए। इस सार्वजनिक सभा के अनुकरण में बंबई के फीरोजशाह मेहता, तैलंग, तैयबजी आदि तत्कालीन नेताओं ने 'बॉम्बे प्रेसीडेंसी एसोसिएशन' नामक संस्था स्थापित कर राजनीतिक आंदोलन प्रारंभ किया। उसमें भी रानडे का सहयोग था। मद्रास में उसी तरह की संस्था 'महाजन सभा' सन् १८८१ में और बंगाल में सुरेंद्रनाथ बनर्जी के नेतृत्व में 'बंगाल नेशनल लीग' नामक संस्था स्थापित हुई। भविष्य में इन प्रादेशिक संस्थाओं से किसी अखिल भारतीय राजनीतिक संस्था का जन्म होने की संभावना थी। पुणे और बंबई में उसके लिए चर्चाएँ भी शुरू हो गई थीं। सुरेंद्रनाथ बनर्जी ने सन् १८८३ में 'इंडियन नेशनल एसोसिएशन' (Indian National Association) नामक संस्था की स्थापना की। उसकी शाखाएँ हिंदुस्थान भर में खोलने के उद्देश्य से पंजाब का

एक प्रचार-दौरा भी उन्होंने किया था। (बाद में कांग्रेस की स्थापना हो जाने पर वह संस्था कांग्रेस में ही विलीन कर दी गई।)

केवल भारतीय नेताओं की अगुवाई से ऐसी कोई संस्था स्थापित हो, यह बात अंग्रेज कूटनीतिज्ञों को पसंद नहीं थी। वह श्रेय उन्हें स्वयं लेना था और दूसरा यह कि सुरेंद्रनाथ जैसे कितने ही ब्रिटिशनिष्ठ नेता हों, पर थे तो वे भारतीय ही। केवल भारतीय नेताओं के हाथोंवाली संस्था की तुलना में ऐंग्लो-इंडियन अधिकारियों के नियंत्रण की संस्था पर ब्रिटिश राज की स्थिरता बनाए रखने की जिम्मेदारी सौंपना ब्रिटिश अधिकारियों की दृष्टि में अधिक निरापद था। इसलिए सन् १८८४ में ही ह्यूम साहब, जो जल्दी से मिल सकते थे, ने ऐसे सहयोगियों को घेरकर उपरोक्त नीति के आधार पर एक अखिल भारतीय राजनीतिक संस्था स्थापित करने की डोंडी चारों तरफ पिटवा दी। उस संस्था का नाम रखा 'दि इंडियन नेशनल यूनियन' (The Indian National Union) जिसकी मूल प्रतिज्ञा थी—Unswerving loyalty to the Crown. (ब्रिटिश राजमुकुट के प्रति अडिग निष्ठा)।

इस संस्था पर प्रभुत्व बनाए रखने की ब्रिटिश अधिकारियों की इच्छा का विरोध किसी भारतीय नेता ने नहीं किया। हाँ, ब्रिटिश वायसराय द्वारा इस योजना का विरोध हुआ। वह आश्चर्यजनक समाचार मैं आगे दूँगा।

कल तक ब्रिटिश सत्ता के बड़े-बड़े पदों पर आसीन होकर जो ह्यूम शासन चलाते थे, उन्हीं ह्यूम के सेवानिवृत्त होते ही भारतीय प्रजा का पक्ष लेकर लोक-कल्याण के लिए उनके साथ आकर मिलना और भारतीय प्रजा की अगुवाई स्वीकार करने की कृपा करना, ब्रिटिशनिष्ठ अंग्रेजी-शिक्षित भारतीय लोगों के लिए बड़ी उदारवादी घटना थी। इसलिए उन्होंने ऐसे अधिकारियों पर धन्यवाद और अभिनंदन की खूब वर्षा की। इस संस्था के संविधान में ब्रिटिश राजमुकुट के प्रति अडिग निष्ठा की जो धारा ह्यूम साहब की योजना में थी, वह इन भारतीय नेताओं की स्वयं की निष्ठा का पुनरुच्चार ही थी। ह्यूम साहब की ओर से यदि वह धारा न भी जोड़ी जाती तो भारतीय देशभक्त स्वयं ही उसे जोड़ देने का कार्य करते, क्योंकि वह उनकी इच्छा थी, बंधन नहीं।

इस अंतराल में ह्यूम साहब ने अपनी योजना और हमने पहले जिसकी चर्चा की, उसके निहित उद्देश्य के संबंध में सरकार की मंत्रिपरिषद् के उच्च पदासीन अंग्रेजी अधिकारियों और उस समय के वायसराय लॉर्ड डफरिन आदि से गुप्त विचार-विनिमय किया था। इस अखिल भारतीय संस्था का स्वरूप केवल राजनीतिक न होकर सामाजिक भी हो, इस संबंध में गहन चर्चा अंग्रेज कूटनीतिज्ञों ने की थी। परंतु लॉर्ड डफरिन का आग्रह था कि इस संस्था का स्वरूप राजनीतिक

ही होना चाहिए। उसी तरह यह भी निश्चय किया गया कि ह्यूम साहब ने जल्दी-जल्दी में प्रयोग हेतु जिस संस्था की स्थापना की घोषणा की है, उस 'इंडियन नेशनल यूनियन' का विसर्जन कर उन्हीं नीतियों के आधार पर और अधिकाधिक भारतीय नेताओं को लेते हुए तथा उनकी पूरी सहमति प्राप्त करते हुए अखिल भारतीय स्वरूप की एक नई संस्था स्थापित की जाए जिसका नाम 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' हो।

वायसराय की प्रेरणा और आशीर्वाद से जन्मी कांग्रेस के आगे-पीछे ब्रिटिश नेतृत्व के हाथों से निकल जाने की संभावना को यथाशक्ति असंभव करने के लिए ह्यूम साहब ने सुझाया कि इस नई संस्था के वार्षिक अधिवेशन में संस्था का अध्यक्ष पद उस प्रांत के गवर्नर को दिए जाने की पद्धति विकसित की जाए, जहाँ अधिवेशन हो। परंतु लॉर्ड डफरिन ने यह योजना स्वीकार नहीं की, क्योंकि उन्होंने इस नई राजनीतिक संस्था की योजना को जिस उद्देश्य से प्रेरित किया था, वह उद्देश्य इस तरह सीधे-सीधे सरकारी संस्था बनाने से सफल होनेवाला नहीं था। गवर्नर जैसे बड़े अधिकारी संस्था के अध्यक्ष बने रहने पर सामान्य जन यही सोचते कि यह सरकारी संस्था है और फिर भारतीय जनता पर उसका प्रभाव विपरीत पड़ता। यदि उसका अध्यक्ष पद जनता के देशभक्त नेता को दिया जाता है और फिर भी 'ब्रिटिश राज हिंदुस्थान के कल्याण के लिए चिरायु रहे' आदि घोषणाएँ होती रहेंगी, तभी वह भारतीय जनता की अधिक प्रिय संस्था हो पाएगी। दूसरा महत्त्वपूर्ण लाभ यह था कि भारतीय लोगों द्वारा गाए जानेवाले स्तुति-गीत यूरोप, अमेरिका आदि की जनता के आगे गवाकर ब्रिटिश साम्राज्य की वाहवाही दुनिया भर में फैलाना कहीं अधिक सरल होगा। यह किस प्रकार संभव था, इसपर विचार करते हैं।

हर प्रांत के सारे-के-सारे ब्रिटिशनिष्ठ लोगों—जिनमें नेता, सेवानिवृत्त छोटे-बड़े ब्रिटिश और भारतीय अधिकारी, राजनीतिक संस्थाएँ, देश के प्रमुख विधि व्यवसायी, डॉक्टर, संपादक, वित्ताधीश और विद्याधीश थे, ने इस नई संस्था में सम्मिलित होने के वचन दिए। उसका पहला अधिवेशन बंबई में आयोजित करने का दायित्व रानडे, तैलंग, फीरोजशाह आदि वहाँ के मान्य नेताओं ने स्वीकार किया। उसका अध्यक्ष पद किसको दें? किसी शासकीय अधिकारी को नहीं दें, यह बात तो लॉर्ड डफरिन ने पहले ही स्पष्ट कर दी थी। इसीलिए ह्यूम साहब ने स्वयं पीछे रहकर भारतीय नेताओं को आगे किया। उन भारतीय नेताओं ने लॉर्ड डफरिन से निवेदन किया कि नई भारतीय संस्था के पहले अधिवेशन के लिए तो हम बंबई प्रांत के तत्कालीन गवर्नर लॉर्ड रे का ही चयन कर रहे हैं। अतः अपनी

सहमति देने की कृपा करें।

लॉर्ड डफरिन ने फिर से स्पष्ट तौर पर उस अनुरोध को अस्वीकार करते हुए सूचित किया कि जन्म ले रही इस हिंदुस्थानी संस्था का अध्यक्ष पद किसी हिंदुस्थानी व्यक्ति द्वारा ही स्वीकार किया जाना उचित होगा, सरकार यही समझती है। ऐसा क्यों? इस गुप्त विषय पर लॉर्ड डफरिन ने कुछ भी नहीं कहा। परंतु उस हिंदुस्थानी भोली जनता को ऐसा लगा कि ये ब्रिटिश लोकसत्ता की परंपरा के अनुयायी होने के कारण ही हमपर इतना भरोसा कर रहे हैं और यह सोचकर तो वे सब बड़े ही प्रभावित और संतुष्ट थे। भारतीय नेता कह रहे थे कि हमें ब्रिटिश नेतृत्व ही चाहिए। ब्रिटिश वायसराय कह रहे थे—'रहने दें, रहने दें, भारतीय नेतृत्व ही कांग्रेस की शोभा बढ़ाएगा।' इस तरह ह्यूम आदि साहबों का खेल रंग लाने लगा।

सन् १८६० से १८८४ तक के कालखंड में अलग-अलग प्रांतों में राजनीतिक परिवर्तन किस-किस तरह होता गया, यहाँ तक हमने यही बातें विशेषकर कहीं और इस ग्रंथ की पृष्ठभूमि के लिए जो आवश्यक था, उसका विश्लेषण भी किया।

अब हमें इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना से लेकर सन् १८९५ के अंत तक की राजनीतिक परिस्थिति का विश्लेषण करना है।

□

प्रकरण–१०

अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा की स्थापना

पूर्वोक्त कथन के अनुसार अंग्रेजी कूटनीतिज्ञों की योजनानुरूप रंगभूमि की सजावट पूरी होते ही सन् १८८५ में इंडियन नेशनल कांग्रेस का पहला अधिवेशन बंबई में हुआ। अध्यक्षता बंगाल के श्री व्योमेश चंद्र बनर्जी ने की। प्रारंभ में ही भारत की सम्राज्ञी महारानी विक्टोरिया के प्रति असीम और पूर्ण राजनिष्ठा का प्रदर्शन प्रतिज्ञापूर्वक किया गया—

'We pledge our unstinted and unswerving loyalty to Her Majesty the Queen Victoria, the Empress of India.'

इस पहले अधिवेशन से आगे अनेक वर्षों तक राजनिष्ठा का यह 'श्रीगणेशाय नमः' कहे बिना कांग्रेस पोथी पढ़ ही नहीं पाती थी। जैसा आरंभ, वैसे ही पहले अधिवेशन का अंत भी राजनिष्ठा तथा ह्यूम साहब की जय-जयकार से संपन्न हुआ। पूर्व में स्वयं सरकार के एक उच्च पदाधिकारी रहते हुए अखिल भारतीय महासभा को जन्म देकर तथा उसका नेतृत्व स्वीकार करके ह्यूम साहब ने जो साहस एवं न्यायप्रियता प्रदर्शित की और भारतीय लोगों पर जो उपकार किए, उनके प्रति अपनी कृतज्ञता कांग्रेस मंडप में एकत्र भारतीय प्रतिनिधियों एवं प्रेक्षकों ने Three Cheers for Hume की ध्वनि से मंडप का वह लघु आकाश गुँजाकर व्यक्त की। इस कृतज्ञता-ज्ञापन को स्वीकार करते हुए ह्यूम साहब तत्काल उठ खड़े हुए और कहा, 'देखिए, अब अंत में तीन बार ही नहीं अपितु तीन के तीन गुना और संभव हो तो उसके भी तीन गुना बार (Three times three and if possible three times that) भारत-सम्राज्ञी विक्टोरिया की जय-जयकार करें।' वैसा ही हुआ। आगे भी अनेक वर्षों तक हर कांग्रेस अधिवेशन के अंत में हिंद-सम्राज्ञी या सम्राट् की जय-जयकार प्रतिनिधियों तथा दर्शकों का गला सूखने तक चिल्ला-चिल्लाकर

की जाती रही।

कभी-कभी कांग्रेस के राजनिष्ठ देशभक्तों को ऐसी जय-जयकार के बाद कोई दयालु वायसराय या गवर्नर उनके सूखे गलों को तर करने के लिए शीतल पेय भी पिला देता था। कांग्रेस का दूसरा अधिवेशन कलकत्ता में हुआ था। इस अवसर पर लॉर्ड डफरिन ने कांग्रेस के सभी प्रतिनिधियों को सम्माननीय अतिथि के रूप में आमंत्रित कर एक शानदार उद्यान भोज भी दिया था। उसके बाद मद्रास में आयोजित कांग्रेस अधिवेशन के अवसर पर मद्रास प्रांत के अंग्रेज गवर्नर ने ऐसा ही एक उद्यान भोज देकर प्रतिनिधियों का सम्मान किया था।

ह्यूम साहब को कांग्रेस का महासचिव नियुक्त किया गया। जिन्होंने बड़े-बड़े सत्ता-पदों पर रहकर ब्रिटिशों की ओर से हिंदुस्थान पर निरंकुशतापूर्वक शासन किया था, सेवानिवृत्त होने के बाद उन्हीं ह्यूम, वेडर्बर्न आदि ऐंग्लो-इंडियन लोगों को तब कांग्रेस का अध्यक्ष पद भी दिया जाता था। हिंदुस्थान की तिजोरी से लाखों रुपयों की तो केवल भृति (पेंशन) पचानेवाले ऐंग्लो-इंडियन वर्ग के ये अध्यक्ष कांग्रेस की व्यास-पीठ पर से भाषण देते-देते जब हिंदुस्थान की दीन, दरिद्र एवं अकाल पीड़ित जनता के लिए करुणा से व्याकुल होते थे, तब 'अभिनय हो तो ऐसा' कहते हुए श्रेष्ठ अभिनेता भी मुँह में अँगुली दबा लेता था।

धीरे-धीरे कांग्रेस भी कुछ माँगें करने लगी। भारतीय लोगों को सरकारी विभागों में उच्चाधिकार पदों पर अधिक संख्या में नियुक्त किया जाए, 'कर' कुछ कम किए जाएँ, सरकारी सलाहकार समितियों में कुछ कम ही सही पर भारतीय लोग नियुक्त किए जाएँ, धीरे-धीरे विधिमंडल (धारा सभा) के लिए चाहे अति सीमित परंतु कुछ उपक्रम अवश्य किए जाएँ ताकि उसमें अपने दो-चार प्रतिनिधि भेजने का अधिकार जनता के वरिष्ठ स्तर के लोगों को मिले, ऐसी नितांत सेवाभावी माँगें होती थीं। इस तरह की माँगें कांग्रेस करे और उनमें से किसी नितांत निरापद माँग को ब्रिटिश सरकार ढिंढोरा पीटते हुए स्वीकार करे, यही ब्रिटिश कूटनीति थी। उसी तरह इन माँगों का प्रस्ताव करते समय भारतीय नेतृत्व सरकार की जो कुछ टीका करते, उससे भी कड़ी टीका ह्यूम, वेडर्बर्न आदि हिंदुस्थान के हितैषी, हिंदुस्थानी सरकार की करते थे। उसे सुनकर हमारी भोली-भाली ब्रिटिशनिष्ठ पीढ़ी को लगता कि इन ऐंग्लो-इंडियन नेताओं ने निस्संदेह केवल हिंदुस्थान के हित में ही कांग्रेस की स्थापना की है। बेचारे हमारे लिए स्वयं के अंग्रेज देशबंधुओं से और उनकी सरकार से भी ये लड़ रहे हैं!

कांग्रेस की स्थापना करने के पीछे क्या कूटनीतिक दाँव था, यह प्रकट करने का प्रसंग भी इस अंग्रेज कूटनीतिज्ञ वर्ग पर कभी-कभी आ ही जाता था। एक-दो

उदाहरण देखें। भारतीय नेतृत्व बड़े डरते हुए सरकार पर टीका करते या कोई सामान्य सी माँग प्रस्तुत करते थे, परंतु सरकारी अधिकारियों में ऐसा भी एक तीसमार खाँ डंडाप्रेमी पक्ष था जिसे लगता था कि इन सबसे सरकार की बड़ी अप्रतिष्ठा हो रही है। उनके एक नेता सर आक्लैंड ने कांग्रेस जैसी उपद्रवी संस्था स्थापित कर ब्रिटिश सरकार का वर्चस्व कम करने, भारतीय लोगों में असंतोष का बीज बोने तथा ब्रिटिश हित के विरुद्ध घातक कार्य करने के लिए ह्यूम जैसे लोगों की प्रखर आलोचना की। तब ह्यूम ने उन्हें जो उत्तर दिया, उसे ह्यूम के चरित्र लेखक वेडर्वर्न ने इस प्रकार लिखा है—

'There was no cause for fearing political danger from the congress. ...It is the British Government which has let loose forces which unless wisely guided and controlled must sooner or later involve consequences which are too dangerous to contemplate. And it is to limit and control them and direct them when there is yet time to do so...that this Congress movement was designed.'

उपर्युक्त छद्म वाक्यों का सीधा अर्थ इतना ही है कि हिंदुस्थान में सशस्त्र क्रांति की जो प्रवृत्ति वढ़ रही है, उसे यदि समय पर ही कांग्रेस की ब्रिटिश-निष्ठा की वेड़ियाँ नहीं पहनाई जातीं तो सन् १८५७ जैसे सशस्त्र युद्ध का कोई संकट अंग्रेजी सत्ता को फिर से आ घेरता। उस तरह के सशस्त्र क्रांतिवाद से भारतीय लोगों को विमुख करने के लिए ही तो कांग्रेस का मायाजाल पसारा गया था। ऐसे में उस कांग्रेस से ब्रिटिश शासन को कौन सा भय हो सकता है। उलटे ह्यूम कहते हैं कि It is necessary for the safety of the state. अर्थात् ब्रिटिश सत्ता को हिंदुस्थान में सुरक्षित रखने के लिए ही इसकी आवश्यकता है।

वास्तविक डर तो क्रांतिकारियों से था, कांग्रेस से नहीं

ब्रिटिश लोगों के मन पर उपर्युक्त धारणा को पुष्ट करने के लिए ये हिंदुस्थान के हितचिंतक उस समय एक अर्थपूर्ण उपमा का प्रयोग करते थे। आवरण त्यागकर जब उन्हें अपने हेतु का सत्य रूप प्रकट करना अनिवार्य ही हो जाता, तब वे स्पष्ट रूप से कहते, 'देखो, भाप-यंत्र में भाप को निरंतर बंद करते रहे तो कभी-न-कभी वह भाप, यंत्र फोड़कर बाहर चली आएगी। फिर क्या सारा यंत्र टुकड़े-टुकड़े होने से बचेगा? यदि ऐसा नहीं होने देना है तो अतिरिक्त भाप को नियंत्रण के साथ बाहर निकालने की व्यवस्था करने के लिए एक सुरक्षा-छिद्र (Safety Valve) होना

आवश्यक होता है। वैसी ही बात ब्रिटिश राजयंत्र की है। विदेशी राजकर्ता के विरुद्ध बढ़ते असंतोष को यदि सदा डंडाशाही से दबाना चाहो तो उसका क्रांतिकारी विस्फोट हुए बिना न रहेगा जो पूरे शासन-तंत्र के कब टुकड़े-टुकड़े कर देगा, कहा नहीं जा सकता। वैसा न हो, इसलिए उस असंतोष को मुखर करने का रास्ता बनाए रखना ही चाहिए। धीरे-धीरे बातें करते हुए उस असंतोष को बह जाने देने के लिए एक रास्ता, एक सुरक्षा-छिद्र रखना आवश्यक है। वह सुरक्षा-छिद्र हमने 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' के रूप में बनाया है।

एक ओर भारतीय लोगों से कहना कि उनके हित में ही हमने कांग्रेस की स्थापना की है और दूसरी ओर ब्रिटिश लोगों से कहना कि हिंदुस्थान में ब्रिटिश सत्ता चिरकाल तक अबाधित बनी रहे, इसी मुख्य हेतु से हमने कांग्रेस की स्थापना की है। ह्यूम ऐंड कंपनी का ऐसा दोमुँहापन देखकर क्या कांग्रेस के भारतीय देशभक्त क्रुद्ध हुए? नहीं। क्योंकि उस विसंगति में क्रोध आने जैसा कुछ था ही नहीं। ब्रिटिश राज हिंदुस्थान पर चिरकाल तक अकुंठित चलता रहे, क्योंकि .उसीमें हिंदुस्थान का कल्याण है, हो रहा है, होना है, ऐसी उन कांग्रेसी भारतीय देशभक्तों की स्वयं की निष्ठा थी। अत: ब्रिटिश सत्ता दृढ़ करना और हिंदुस्थान का कल्याण करना, ये एक ही सिक्के के दो पहलू थे, एक ही अर्थ के दो वाक्य थे। ह्यूम ने ब्रिटिश सत्ता को दृढ़ करने के लिए ही कांग्रेस की स्थापना की, ऐसा कहने का अर्थ 'भारतीय लोगों के हितार्थ कांग्रेस स्थापित की' ऐसा होता हैं; और भारतीय लोगों के हित में कांग्रेस की स्थापना की—ऐसा कहें तो 'ब्रिटिश सत्ता को दृढ़ करने के लिए कांग्रेस स्थापित की', ऐसा उसका अर्थ होता है। ऐसी पलायन-वृत्ति के उन कांग्रेसी ब्रिटिशनिष्ठ भारतीय देशभक्तों को ह्यूम जैसे ब्रिटिश नेता के दोमुँहे वक्तव्यों की यह विसंगति चुभती तो थी ही नहीं, उलटे वह विरोधाभास अलंकार का उत्तम उदाहरण है, ऐसा ही उनको लगता होगा।

फिर भी कांग्रेस का महासचिव ह्यूम अपने अंधभक्तों के कहे में नहीं रहता था। कांग्रेस में प्रस्तुत प्रस्तावों में ब्रिटिश हितों के विरुद्ध कभी गलती से भी कोई बोला तो ह्यूम आदि उसे वहीं रोक देते थे। कांग्रेस के तीसरे या चौथे अधिवेशन में मद्रास के हिंदी प्रतिनिधि ने यह बात सर्वाधिक आग्रहपूर्वक कही कि जिस विधि के अधीन हिंदुस्थान को नि:शस्त्र किया गया है, वह शस्त्रबंदी अधिनियम रद्द किया जाए और ऐंग्लो-इंडियनों की तरह भारतीय लोगों को भी शस्त्र रखने की अनुमति दी जाए।

यह प्रस्ताव सुनते ही ह्यूम साहब का माथा ठनका। हिंदुस्थान के हितचिंतक की नाटकीय भूमिका को भी वे भूल गए और बड़े रूखे स्वर में बोले, 'सन् १८५७

के काले संकट का अनुभव जिसको हुआ है, ऐसा कोई भी ब्रिटिश नागरिक फिर से भारतीय लोगों को पुन: शस्त्र देने का परामर्श नहीं देगा। यह मान्य होनेवाली बात नहीं है। कांग्रेस को अपनी मर्यादा का ध्यान रखकर ही बोलना चाहिए और ऐसे अनुत्तरदायी प्रस्ताव नहीं लाने चाहिए।'

ह्यूम साहब के मन पर सन् १८५७ का भारी आघात लगा था। इसीलिए वह उक्त प्रस्ताव के विरुद्ध इतना आवेशपूर्वक बोल सके। दूसरे ऐंग्लो-इंडियनों ने क्रोध से कहा कि ब्रिटिश जैसी शक्तिशाली सत्ता तुम्हारे हिंदुस्थान की सब शत्रुओं से रक्षा करने में समर्थ होते हुए तथा देश में शांति और सुव्यवस्था रखने का वचन महारानी द्वारा मैग्नाकार्टा में देने पर शस्त्रों की आवश्यकता ही क्या है? उनके इस क्रोध-भरे प्रश्न का वैसा ही उत्तर देने के लिए वासुदेव बलवंत जैसा कोई व्यक्ति वहाँ होना चाहिए था। पर ह्यूम की कांग्रेस में वैसा दुर्दम्य आदमी कहाँ से मिलता? कांग्रेस का सदस्य तो सभ्य ही हो सकता था। उन सभ्य सदस्यों में से अधिकतर लोगों ने हिंदुस्थान के हितैषी ऐंग्लो-इंडियन लोगों का वह संतप्त प्रश्न 'तुम्हें शस्त्रों की आवश्यकता ही क्या है?' सुनकर जो उत्तर घबराकर दिया, उसका सारांश इतना ही था कि बाघ या वैसे ही जानवर से ढोर-डंगर बचाने, जंगली सुअरों से खेती-फसल और चोर-डाकुओं से घर-द्वार की रक्षा करने के लिए ये शस्त्र चाहिए, अन्यथा हमें इन शस्त्र आदि से क्या लेना? दो-तीन सदस्यों ने कुछ कड़े शब्दों में जो उत्तर दिए, वे भी दयनीय ही थे। जैसे महारानी की घोषणानुसार हम भी ब्रिटिश साम्राज्य के निष्ठावान नागरिक हैं और शस्त्र रखना निष्ठावान नागरिकों का प्राथमिक अधिकार है।

मैग्नाकार्टा की विविध व्याख्याएँ

सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध के बाद घोषित पत्रक में ऐसे कुछ दो-चार आश्वासनपरक वाक्य थे कि विक्टोरिया महारानी ने अब ईस्ट इंडिया कंपनी का विसर्जन करके हिंदुस्थान का सारा राजकाज अपने हाथ में ले लिया है। इसलिए उसकी सारी प्रजा से समानता का व्यवहार किया जाएगा और उसका संरक्षण किया जाएगा।

कांग्रेस के अंग्रेज कूटनीतिज्ञों और हमारे ब्रिटिशनिष्ठ भारतीय देशभक्तों ने इन वाक्यों का जो एक से बढ़कर एक भाष्य किया, उनसे उस अवधि के समाचारपत्र और अन्य सामग्री भरी पड़ी है। उन सभी की तर्क-प्रणाली संक्षेपतः यह थी—

चूँकि ब्रिटेन और हिंदुस्थान दोनों की महारानी एक ही है। इसलिए पूरा साम्राज्य ही हम दोनों का सम्मिलित साम्राज्य है। यह सम्मिलित साम्राज्य है,

इसलिए हिंदुस्थान पर विदेशी राज्य है, ऐसा मानना या समझना मूलतः गलत है। उसमें भी महारानी के सन् १८५७ के बाद जारी घोषणा-पत्र में हिंदुस्थान को दिए ताम्रपट में ऐसा स्पष्ट अभिवचन दिया हुआ है कि उसके सब प्रजाजनों से समानता का व्यवहार किया जाएगा। अर्थात् वैधानिक दृष्टि से भारतीय प्रजाजन ब्रिटेन का प्रधानमंत्री भी हो सकेगा, जैसे ब्रिटिश प्रजाजन हमारा गवर्नर या गवर्नर जनरल हो सकता है। अतएव हमारा प्रश्न हिंदुस्थान को स्वराज अथवा स्वातंत्र्य मिलने का नहीं है, वह संवैधानिक दृष्टि से हमें मिला हुआ है ही! अब प्रश्न यही शेष रहता है कि उस विधि के अधीन कार्यवाही हो।

हिंदुस्थान में आनेवाले महारानी के कुछ अधिकारी क्रूर होते थे। जो उपद्रव होता था, वह उनके उस स्वभाव के कारण होता था। उन अधिकारियों के कपटपूर्ण व्यवहार की शिकायत करने, महारानी के और उसके मंत्रिमंडल को बताने के लिए विलायत शिष्टमंडल भेजना, अभी राजकाज चलाने के योग्य नहीं होने के कारण भारतीय लोगों की योग्यता बढ़ाना, अपनी राजनिष्ठा उत्कट और अटल रखना तथा उसे कलंकित करनेवाला सशस्त्र विद्रोह जैसा जघन्य राजद्रोही एवं देशद्रोही अपराध देश में किसीके द्वारा भी किए जाने पर अधिकारियों द्वारा उसका तत्काल अंत करना, इतना ही हमारा मुख्य कार्यक्रम है। एक वाक्य में कहें तो हमारा झगड़ा यहाँ की अफसरशाही से है, ब्रिटिश राजमुकुट से नहीं। हम हिंदुस्थानी लोग सम्राज्ञी या सम्राट् के अति राजनिष्ठ प्रजाजन हैं।

कांग्रेस के उस समय के अधिवेशनों में एक-से-एक वक्ता रानी के उस घोषणा-पत्र की चिंदी लेकर हाथ ऊपर उठाए गर्जना करता—यह देखो हमारा मैग्नाकार्टा। जिसने यह दिया है, वह कोई ऐसा-गैरा नहीं है, वह हैं 'देवीश्री विक्टोरिया सार्वभौमिनी'!!

परंतु वह मैग्नाकार्टा की चिंदी लिखकर देने के लिए ब्रिटिश महारानी को किसने विवश किया? कांग्रेस की उस दीन-दरिद्र वृत्ति या सन् १८५७ के सशस्त्र क्रांतियुद्ध के विकट रण ने? परंतु इस कार्य-कारण का उच्चारण तक कोई वक्ता नहीं करता था। अधिकतर भारतीय नेताओं को उसमें निहित मर्म का पता ही नहीं था। कदाचित् वह जानकारी भी नहीं थी। जिसे यह मर्म की बात ज्ञात थी, वह ह्यूम था। कांग्रेस का ह्यूम सदृश ऐंग्लो-इंडियन नेता उस प्रकरण में धूर्तता से चुप ही रहता था।

दादाभाई नौरोजी का साक्ष्य

उस समय के ईमानदार कांग्रेसी देशभक्तों में दादाभाई नौरोजी सिरमौर थे।

हमारे पारसी देशबंधुओं के लिए यह बात गौरवमयी है कि उनके समाज में उन दो पीढ़ियों में हिंदुस्थान के हित के लिए आजन्म प्रयास करनेवाले दादाभाई नौरोजी, फीरोजशाह मेहता, वाच्छा आदि प्रामाणिक, कर्तव्यशील और महान् देशभक्त हुए। हमने अभी तक हिंदुस्थान के उस समय के वातावरण की और विशेषकर कांग्रेस की ब्रिटिशनिष्ठ मनोवृत्ति का जो विश्लेषण किया है, उसकी वास्तविकता को साक्ष्य से पुष्ट करने के लिए हम उन्हीं दादाभाई नौरोजी का उद्धरण प्रस्तुत करना चाहते हैं। दादाभाई नौरोजी तब तक 'राष्ट्र पितामह' की पदवी से अलंकृत नहीं हुए थे। तब वे उतने वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध भी नहीं थे, जितने होने के बाद उन्हें ब्रिटिश निष्ठा के फल कड़वे लगने लगे थे। कांग्रेस के जन्म के समय से ही वे एक लोकप्रिय नेता के रूप में हिंदुस्थान भर में जाने जाते थे। अध्यक्ष के नाते उन्होंने कांग्रेस अधिवेशन में अपने भाषण में कहा—

'Our faith in the instinctive love of justice and fair play of the people of the united kingdom is not misplaced...I for one have not the shadow of doubt in dealing with such justice loving and fair minded people as the British. We may rest fully assured that we shall not work in vain. It is this conviction which has supported me against the difficulties. I have never faltered in my faith in the difficulties. I have never faltered in my faith in the British character and have always believed that the time will come when the sentiments of the British nation our Glorious Soverign proclaimed to us in our great character of the proclamation of 1858 will be realized.'

इसका भावार्थ यह है कि 'ब्रिटिश लोगों की स्वाभाविक न्यायबुद्धि पर एवं उनके सभ्यतापूर्ण व्यवहार पर हमने जो निष्ठा प्रकट की है, वह गलत नहीं है। जहाँ तक मेरा संबंध है, मैं कह सकता हूँ कि ब्रिटिशों जैसे न्यायप्रिय और सदाचारी लोगों से व्यवहार करते हुए मुझे कभी भी आशंका नहीं होती। इस निष्ठा से हम जो कार्य कर रहे हैं, वह कार्य विफल नहीं होगा, मुझे ऐसा विश्वास है। इस विश्वास ने ही सारी बाधाओं में मुझे सहारा दिया। ब्रिटिशों के शील से मेरा विश्वास कभी डिगा नहीं। मुझे हमेशा यह विश्वास रहा है कि एक दिन ऐसा आएगा, जब सन् १८५८ के घोषणा-पत्र में हमें दिए गए उस ताम्रपट में, उस मैग्नाकार्टा में, ब्रिटिश राष्ट्र और हमारी कृपावंत सार्वभौमिनी द्वारा उद्घोषित सद्भावना, शुभेच्छा सफल होकर रहेंगी।'

प्रौढ़प्रज्ञ एवं प्रमुख नेता दादाभाई की इस ब्रिटिश निष्ठा की छाप उस समय

की बीस-तीस वर्षीय भावी देशसेवकों की युवा पीढ़ी पर इतनी सुदृढ़ पड़ी कि कुछ वर्ष बाद स्वयं दादाभाई तो उस आशावाद से निराश हो गए, परंतु उनके शिष्यों के मन से ब्रिटिशनिष्ठा की भ्रांति किसी प्रकार भी नष्ट नहीं हो सकी। रानडे और दादाभाई के पट्टशिष्य देशभक्त गोखले का ही उदाहरण देखें। उस समय के और दस-बारह वर्ष बाद जब गोखले प्रौढ़ हो गए तथा कांग्रेस के मान्य नेता के रूप में प्रसिद्ध हो गए, तब उन्होंने अपने 'भारत सेवक समाज' के विधान में जिस प्रतिज्ञा को स्वीकार किया, वह थी—

'The members of this new society frankly accept the British connection as ordained in the inscrutable dispensation of providence for India's good.' अर्थात् इस नई संस्था के सदस्य ईश्वर की कृपा से हिंदुस्थान में स्थापित ब्रिटिश सत्ता को निष्कपटता से स्वीकार करते हैं, क्योंकि उसीमें हिंदुस्थान का कल्याण है।

ऐसे ब्रिटिशनिष्ठ देशभक्तों के नेतृत्व में एवं ब्रिटिश सरकार के प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग से कांग्रेस की शाखा-प्रशाखा का विस्तार प्रथम दशक में ही सारे हिंदुस्थान में हो गया। 'ब्रिटिशों के उपकार', 'हमारा मैग्नाकार्टा', 'हमारी सम्राज्ञी विक्टोरिया', 'माई-बाप सरकार', 'ब्रिटिश राज ईश्वरीय वरदान', 'हम केवल उसके राजनिष्ठ प्रजाजन', 'ब्रिटिश साम्राज्य चिरायु हो' इत्यादि कांग्रेसी परिभाषाएँ और घोषणाएँ उन ऐंग्लो-इंडियन नेताओं द्वारा पढ़ाई गईं तथा उस समय के भारतीय कांग्रेसी नेताओं और अनुयायियों द्वारा पूरे मन से स्वीकार की गईं। ये सब हिंदुस्थान के हर समाचारपत्र में प्रकाशित होती रहीं। देश के सारे मुद्रणपीठ एवं वाक्पीठ कांग्रेस ने हथिया लिये। ब्रिटिशनिष्ठा की तूफानी बाढ़ से पूरा देश सराबोर हो गया। हिंदुस्थान की एकमात्र प्रतिनिधि एवं मुखर संस्था कांग्रेस ही है, ऐसा ह्यूम जैसे ऐंग्लो-इंडियन कूटनीतिज्ञ नेता गरज-गरजकर दुनिया से कह सकें, ऐसी वस्तुस्थिति उत्पन्न हो गई। कांग्रेस स्वयं को 'केवल यही सर्वमान्य संस्था है', इतना ही कहकर संतुष्ट नहीं होती थी, अपितु सर्वमान्य होने से उसे जितना गौरव होता था, उससे दस गुना अधिक गौरव 'मैं राजमान्य भी हूँ' यह घोषणा करने से होता था। कांग्रेस में जो कोई भी नेता बन जाता, वह कुछ दिन बाद किसी ब्रिटिश शासन के विभाग के उच्चाधिकार पद पर अंग्रेजों द्वारा नियुक्त कर दिया जाता। सर, सी.आई.डी., रायबहादुर आदि कोई-न-कोई मानद अलंकरण सरकार की ओर से उसे दिया जाता रहा। किसी-न-किसी शासकीय समिति या सलाहकार समिति में कांग्रेस के इन ब्रिटिशनिष्ठ नेताओं को लिया जाता था और ब्रिटिशों की ओर से मिलनेवाली इस राजमान्यता के प्रसाद-चिह्नों के संबंध में कांग्रेस बहुत गौरवान्वित होती थी।

हमने कांग्रेस के ऐसे आत्मतुष्ट प्रमुख नेताओं के व्याख्यानों और प्रतिज्ञाओं का जो नमूना ऊपर दिया है, वैसे अनेक भोले वक्तव्यों और राजनिष्ठा के कांग्रेसी प्रस्तावों का कपट पूर्ण उपयोग यूरोप, अमेरिका आदि से जुड़ी ब्रिटिशों की बिदेश नीति के राजकाज में ह्यूम जैसे ऐंग्लो-इंडियन कूटनीतिज्ञ किस तरह कर लेते थे, यह भी देखने लायक है।

जिस प्रकार अंग्रेजों ने अन्य देश जीतकर अपना साम्राज्य विस्तृत किया, वैसे ही यूरोप के फ्रांस, ऑस्ट्रिया, रूस आदि देशों ने भी किया था। अंग्रेजों की महत्त्वाकांक्षा इतने से पूरी नहीं हुई। उनका लक्ष्य था कि अन्यों के साम्राज्य नष्ट या संकुचित हों और अपना साम्राज्य भयरहित रहे। अंग्रेजों की इस महत्त्वाकांक्षा के कारण अन्य साम्राज्यों में से किसी में भी वहाँ की पीड़ित जनता या राष्ट्र द्वारा आजादी के लिए विद्रोह करने पर इंग्लैंड उस क्रांतिकारी कार्य का समर्थन अवश्य करता था। ऑस्ट्रिया की दासता से मुक्ति पाने के लिए जब इटली के क्रांतिकारी उठे, तब इंग्लैंड ने उनकी प्रशंसा की और उन्हें 'स्वतंत्रता-प्रेमी' कहा। परपीड़क और दुष्ट ऑस्ट्रियन साम्राज्य नष्ट होना ही चाहिए, यह भी प्रचारित किया। फ्रांस के साम्राज्य में भी उसके गुलाम देश सशस्त्र क्रांति करें, इसके लिए यथासंभव कार्य किया। मैजिनी, कोसूथ, रूस के क्रांतिकारियों आदि को इंग्लैंड में आश्रय दिया और स्वयं ही सारे परतंत्र राष्ट्रों का हिमायती होने का ढिंढोरा जोर-शोर से पीटा, पर हिंदुस्थान के पैर में डाली हुई अपनी गुलामी की बेड़ी रत्ती भर भी ढीली करने के लिए इंग्लैंड तैयार नहीं था।

इंग्लैंड की इस कपटपटुता के विरुद्ध कड़ी टिप्पणी यूरोप तथा अमेरिका के लोग करते थे। यदि इंग्लैंड को विश्व के साम्राज्यों के परतंत्र एवं पीड़ित राष्ट्रों के संबंध में इतनी चिंता है, तो इंग्लैंड अपनी निष्ठुर दासता से सबसे पहले हिंदुस्थान को मुक्त क्यों नहीं कर देता? ऐसी मर्मभेदी टिप्पणी इंग्लैंड के प्रतिस्पर्धी देश किया करते थे। परंतु इंडियन नेशनल कांग्रेस बन जाने के बाद ऐसी प्रखर टीका करनेवालों का मुँह बंद करने का एक सुंदर साधन इंग्लैंड को मिल गया। वास्तव में कांग्रेस की स्थापना का एक उद्देश्य यह भी था। लॉर्ड डफरिन ने कांग्रेस का अध्यक्ष पद किसी भी सरकारी अधिकारी द्वारा स्वीकार न करने की जिस पद्धति का विकास किया, उससे यह आभास अधिक पक्का हो जाता था कि कांग्रेस भारतीय लोगों की गैर-सरकारी स्वतंत्र संस्था है। इसका उपयोग विदेश राजनीति में करना सरल हो जाता था। ब्रिटिश समाचारपत्र, वक्ता, विदेशी प्रतिनिधि, ब्रिटिश पार्लियामेंट के सदस्य एवं ब्रिटिश मंत्री यूरोप और अमेरिका के देशों द्वारा की जानेवाली ब्रिटेन की आलोचना का सीधा उत्तर यों देने लगे थे—'देखिए, कांग्रेस के प्रस्ताव यह दर्शाते हैं कि हिंदुस्थान हमसे अलग होना ही नहीं चाहता। केवल इसीलिए हम वहाँ राज कर

रहे हैं और हिंदुस्थान की सहमति से हिंदुस्थान के हितार्थ वहाँ राज करना हम ब्रिटिशों का नैतिक कर्तव्य है।'

ब्रिटिशों के ऐसे उत्तरों का एक नमूना वेडर्बर्न के भाषण में मिलता है। हिंदुस्थान की तिजोरी से मोटी पेंशन पानेवाले इन साहब ने सन् १९०५ में ग्रीनिच ईथिकल सोसायटी में दिए गए अपने भाषण में कहा—

'While the Italians had always refused to accept the Austrian rule (during the period of their forced subjection) as the national rule boycotted the Austrians so as to make the administration impossible, the Indians on the other hand so far from boycotting the British had offered them their co-operation and accepted British rule as their national rule, while the resolutions of Indian National Congress showed how grievances might be redressed and the people made prosperous and contended, thus making British rule popular, stable and strong.'

सारांश यह कि इटली की जनता ने अपने ऊपर लादे गए ऑस्ट्रिया के शासन को कभी स्वीकार नहीं किया। वह उसे हमेशा परराज, परदासता ही कहती रही। उसने ऑस्ट्रिया के परराज का बहिष्कार कर रखा था। परंतु भारतीय लोगों ने तो हमारी ब्रिटिश सत्ता का बहिष्कार नहीं किया है। इतना ही नहीं, ब्रिटिशों की राजसत्ता को ही उन्होंने 'स्वराज' मानकर स्वीकार किया है। वे स्वयं आगे बढ़कर हमारी ब्रिटिश सरकार से सहयोग कर रहे हैं। भारतीय लोगों की प्रतिनिधि-संस्था इंडियन नेशनल कांग्रेस के प्रस्ताव इसके साक्षी हैं। वे ही यूरोपीय आदि देशों को हिंदुस्थान की ब्रिटिश राजनिष्ठा का पूरा साक्ष्य दे सकते हैं। प्रजा के दुःख दूर करने और लोगों को संपन्न तथा संतुष्ट रखने के कार्य में कांग्रेस का सहकार्य हमें प्राप्त है। कांग्रेस चाहती है कि ब्रिटिश सत्ता इसीलिए लोकप्रिय, प्रबल और अटल रहे।

अर्थात् हिंदुस्थान में ब्रिटिश सत्ता प्रबल और अटल रखना प्रमुख साध्य था। लोगों के सुख और संतोष के लिए अपरिहार्य उठा-पटक करने की नीति ब्रिटिश साम्राज्यवादी निर्लज्जता से बार-बार स्पष्ट करते रहे। फिर भी कांग्रेस के भोले भारतीय नेता उनको हिंदुस्थान के हितचिंतक ही मानते रहे। मैकाले से लेकर ह्यूम तक ने पराजित हिंदुस्थान का मन जीत लेने के लिए, मन मार डालने के लिए जो-जो उपाय सोचे थे, उनमें से अधिकतर सफल होते जा रहे हैं, ऐसा एक समाधान ब्रिटिश कूटनीति को दिखने लगा हो तो उसमें कोई आश्चर्य नहीं। जिसे हिंदुस्थान की राष्ट्रीय सभा (इंडियन नेशनल कांग्रेस) कहा जाता है, वह अपनी खुशी से

हिंदुस्थान की स्वतंत्रता और राजासन छीन लेनेवाली ब्रिटिश सत्ता के सिर पर 'हमारी सम्राज्ञी' कहकर चँवर डुलाने में सुख और सम्मान समझे—यह देखकर यूरोप लज्जित था, परंतु हिंदुस्थान राष्ट्र की प्रतिनिधि कही जानेवाली कांग्रेस को उस दासता का खेद नहीं था। उलटे उसे वह ईश्वरीय वरदान लगता था।

विष भी कभी अमृत हो जाता है

यद्यपि हमारे लोगों की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा और उसको पाने के लिए आवश्यक सशस्त्र क्रांति की प्रवृत्ति को कुचल देने के लिए ही अंग्रेजों ने इस ब्रिटिशनिष्ठ कांग्रेस की स्थापना की, उसका विस्तार किया, परंतु 'विषमप्यमृतम् क्वचित् भवेत्' (विष भी कभी अमृत हो जाता है) के न्याय से हमारे देश को एक अन्य लाभ अपरिहार्य रूप से मिलने लगा।

कांग्रेस का नाम 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' (भारतीय राष्ट्रीय महासभा) रखा गया था। अर्थात् यह भावना उन लोगों में अनुस्यूत थी कि इंडिया-भारत-हिंदुस्थान यह आसेतुहिमालय एक एकप्राण अखंड राष्ट्र है। अलग-अलग प्रांतों की भिन्न-भिन्न भाषा और वेशभूषा के हजारों देशभक्त और विचारवान लोग कांग्रेस के वार्षिक और प्रांतीय अधिवेशनों में जैसे-जैसे बार-बार एक-ही राष्ट्र-भावना से एकत्र होने लगे, वैसे-वैसे सामान्य जनता में भी देशभक्ति की भावना गहरी पैठने लगी। हम करोड़ों लोग उस एक ही भारत माँ की संतान हैं, हमारे अलग-अलग प्रांत उस एक ही भारत माता के, अपने अखंड हिंदुस्थान देश के केवल अंग-प्रत्यंग हैं। हमारे राजनीतिक और राष्ट्रीय सुख-दुःख एक ही हैं तथा यदि हम विश्व के अन्य राष्ट्रों की तरह बलवान, सम्मानित राष्ट्र बनना चाहते हैं तो हम सब एक-केंद्र, एकात्म, अखिल भारतीय और अखंड भारतीय ऐसी राजनीतिक एकता भी संपादित करें—हिंदू जगत् में पहले ही अंतर्निहित इस भावना की एक नई लहर देश के इस छोर से उस छोर तक प्रकटतः चलने लगी। परंतु कांग्रेस के अंग्रेजी-शिक्षित नेताओं को लगने लगा कि यह जो अखंड हिंदुस्थान की एकात्मता की प्रबुद्ध अनुभूति और राष्ट्र-एकता की भावना देश भर में अकस्मात् संचरित हुई है, वह अंग्रेजी शिक्षा के कारण है। अर्थात् ब्रिटिशों का राज इस देश पर है, इसलिए पंजाब, बंगाल, मद्रास आदि भिन्न प्रांतों के लोगों में 'हम एक राष्ट्र के लोग हैं' की भावना, जो पहले कभी भी नहीं थी, आज पहली बार उत्पन्न हुई है। उनका पक्का विश्वास था कि भारतीय राष्ट्र-एकता और राज्य-एकता की कल्पना भी ब्रिटिशों के हिंदुस्थान में आने के पूर्व हममें नहीं थी। वह तो ब्रिटिशों की एकछत्र राजसत्ता के ही कारण है, यह उन्हींका उपहार है।

कांग्रेस के हिंदू नेताओं की इस श्रद्धा को अंग्रेज नेता उठाए फिरते थे, यह कहने की आवश्यकता नहीं। अंग्रेज नेता खुले रूप में धमकाते, डराते हुए कहते थे—भारतीय लोगों में राष्ट्रीय एकता की यह भावना यदि आपको सुदृढ़ करनी है तो आपको चाहिए कि ब्रिटिशों के शासन के प्रति निरंतर राजनिष्ठ बने रहें। यदि ब्रिटिश छत्र भंग हुआ तो उसके एकात्म बन गए इस अखंड हिंदुस्थान की राष्ट्रीय एकता के भी टुकड़े हो जाएँगे। आप कोटि-कोटि भारतीय लोगों को देशभक्ति के सूत्र से बाँधे रखने की शक्ति ब्रिटिश सत्ता में है, इसलिए···। परंतु वस्तुस्थिति तो कुछ और ही थी!

□

भारतीय राष्ट्रीय महासभा की नींव में मुसलिम काल-बम

काश कांग्रेसी नेताओं और उनके प्रचारकों ने स्वयं से ही एक आत्म-परीक्षक प्रश्न पूछा होता कि कांग्रेस को हम 'भारतीय राष्ट्रीय महासभा' किनके भरोसे कह रहे हैं? राष्ट्र के नाम कांग्रेस द्वारा आह्वान किए जाते ही—केवल दो-तीन वर्ष में असम से सिंध और कश्मीर से कन्याकुमारी तक के सहस्राधिक देशभक्तों ने जो प्रतिध्वनि दी है और उस राष्ट्रीय पीठ से जुड़ गए हैं, वे कौन हैं? और यह भी कि कांग्रेस के सभा-समारोहों में स्वयं को 'भारतीय' कहनेवाले नेता भी मूल घर के कौन हैं? माननीय परंतु कुछ-एक अपवाद छोड़कर कांग्रेस के स्वदेशभक्त सहस्राधिक अनुयायी थे तो सारे हिंदू ही। उन्हींके भरोसे वह अपने को 'भारतीय राष्ट्रीय महासभा' (इंडियन नेशनल कांग्रेस) कहा सकती है। केवल अंग्रेजी शिक्षा से राष्ट्रीय एकता की भावना जाग्रत हो सकती तो उस समय हिंदुस्थान में हजारों अंग्रेजी-शिक्षित तथा सरकार में ऊँचे पदों पर आसीन मुसलमान विद्यमान थे। फिर उनमें भी भारतीय एकता की भावना जाग्रत होनी चाहिए थी। परंतु क्या वे हजारों मुसलमान उस इंडियन नेशनल कांग्रेस में आए? सर बदरुद्दीन तैयबजी आदि दो-तीन को छोड़ दें तो अंग्रेजी-शिक्षित या अशिक्षित मुसलमान समाज कांग्रेस में क्यों नहीं आया? नहीं आया—इतना ही नहीं, अपितु अंग्रेजी-शिक्षित मुसलिम वर्ग ने ही आगे जाकर सर सैयद अहमद नाम से प्रसिद्ध व्यक्ति के नेतृत्व में कांग्रेस-स्थापना के तुरंत पश्चात् क्या उसके विरोध में अन्य एक मुसलिमपक्षीय संस्था 'दि पैट्रियॉटिक एसोसिएशन' स्थापित नहीं की? और इन अंग्रेजी-शिक्षित मुसलमानों ने सारे मुसलमानों को सूचित करने के लिए क्या यह डोंडी नहीं पिटवाई कि 'कांग्रेस तो हिंदू कांग्रेस

है। मुसलमानो, इसका बहिष्कार करो! कांग्रेस-बहिष्कार!!'

राष्ट्रीय एकता की भावना रक्त में रमी हुई है

अंग्रेजी में दो शब्द हैं—नेशन और स्टेट (Nation and State)। ये दो शब्द राजनीति के दो अलग-अलग भाव दर्शाते हैं। 'राष्ट्र' शब्द की जो व्युत्पत्ति है, वह गौण हो गई है उसे जो रूढ़ार्थ प्राप्त हो गया है, उस अर्थ में वह शब्द 'नेशन' का ही अर्थ व्यक्त कर सकता है। वैसे ही 'स्टेट' अर्थात् राज्य की बात है। इस संकेत से देखें तो राष्ट्रीय संस्था और राज्य संस्था—ये दोनों अंशत: भिन्नार्थक संस्थाएँ हैं। भौगोलिक, ऐतिहासिक, धार्मिक और सांस्कृतिक—प्रिय और पूज्य बंधनों से बँधे तथा भारत में निवास करते हमारे कोटि-कोटि देश-बांधवों के मन में इसीलिए राष्ट्रीय एकता की भावना सहस्राधिक वर्षों से रक्त में मिलती आ रही है। यह हिंदू जगत्—आसेतुहिमालय भारतभूमि की पूजा अपनी पितृ-भू और अपनी पुण्य-भू के रूप में करता आ रहा है। 'उत्तरस्याम् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्। तद्वर्षं भारतं नाम भारती यत्र संतति: ॥' यह हमारे राष्ट्रैक्य की आर्ष व्याख्या है, अंग्रेजी नहीं। अपने इस राष्ट्रैक्य की परिणति राज्य एकता में हो, यह भारत राष्ट्र एकछत्र हो, ऐसी महत्त्वाकांक्षा भी प्राचीन काल से हमारे राष्ट्रीय हृदय में सरसराती रही है। उसकी प्रेरणा से अखिल भरतखंड पर एकछत्र राज्यसत्ता प्रस्थापित कर उसकी राज्य-एकता भी प्राप्त करने के भगीरथ प्रयास प्राचीन काल से हमारी दिग्विजयी सेना और राज्यमंडल करते आ रहे हैं। साम्राज्य संस्था, चक्रवर्तित्व संस्था, राजसूयाश्व-मेधादिक यज्ञ-प्रथा, ये सब उसी प्रयास के द्योतक हैं। हमारे इतिहास के बिलकुल नए (जुड़े) पृष्ठों को देखें तो लगता है कि मुसलमानी पादशाही को उलटकर आसिंधु हिंदुस्थान में हिंदू पदपादशाही की स्थापना करने की प्रबुद्ध महत्त्वाकांक्षा सँजोए मराठी पराक्रम ने वह ध्येय प्राप्त कर ही लिया था। इस विषय का विस्तारपूर्वक लेखन 'हिंदुत्व' ग्रंथ में हमने किया है। जिज्ञासा हो तो उसे वहाँ देख सकते हैं।

महाराष्ट्र साम्राज्य की तत्कालीन विजय से प्रफुल्लित हिंदू-हृदय में उछलती राष्ट्रीय एकता की प्रबल भावना की प्रतिध्वनि उस समय की भाषा में यदि सुननी हो तो गोविंदराव काले और नाना फड़नवीस को—सन् १७९३ के आसपास अर्थात् जब तक महाराष्ट्र राज्य को अंग्रेजों की अँगुली भी नहीं लगी थी—लिखे पत्र के निम्नलिखित वाक्य पढ़ें—

'अटक (सिंधु) नदी के इधर दक्षिण समुद्र तक हिंदुओं का स्थान : तुर्कस्थान नहीं! यह हमारी सीमा पांडवों से विक्रमादित्य तक रक्षित कर उपभोग की गई। फिर राजकर्ता नादान निकले। यवन प्रबल हुए। बाद में शिवाजी महाराज राजकर्ता एवं

धर्मरक्षक हुए। उन्होंने एक कोने में धर्मरक्षण किया। उसके बाद नाना साहब व भाऊ साहब ऐसे प्रचंड प्रतापसूर्य हुए। इससे पहले उन जैसा कभी कोई हुआ ही नहीं। वर्तमान में श्रीमंत के पुण्य प्रताप से एवं राज्यश्री पाटिल बाबा (महादजी शिंदे) की बुद्धि तथा तलवार के पराक्रम से सबकुछ लौटकर घर में आ मिला⋯जिस-जिसने हिंदुस्थान में सिर ऊँचा किया—पाटिल बाबा ने वही-वही सिर फोड़ा—जो अप्राप्य था, वह प्राप्त हो गया। अब उसका बंदोबस्त शककर्ता के रूप में करके उपभोग करें। कहीं पुण्याई कम न पड़ जाए और किसीकी दृष्टि न लग जाए, जो बात हुई, उसमें केवल देश या राज्य प्राप्त हुआ। इतना ही नहीं, अपितु वेदशास्त्रों का रक्षण, गो-ब्राह्मण-प्रतिपालन, सार्वभौमत्व भी प्राप्त हुआ। कीर्ति-यश के नगाड़े बजे—इतनी सारी बातें हैं। इस युक्ति को सँभालना!⋯'

हिंदू जगत् के मन में अखिल भारतीय राष्ट्रीय एकता की भावना इस तरह अंतर्निहित थी। इसीलिए 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' (अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा) नाम सुनते ही हिंदुओं की ममता जाग उठी। यह अपने ही राष्ट्र की संस्था है, ऐसी ममता उनके हृदयों में अपने आप स्फुरित हुई। अपनी मातृभूमि की सेवा करना अपना कर्तव्य है। इस निष्ठा से, किराए का कोई सौदा न करते हुए वे सहस्राधिक हिंदू देशभक्त और देशसेवक उस राष्ट्रीय संस्था के मंच के पास एकत्र होकर खड़े हो गए।

परंतु मुसलमान?

इसके विपरीत कांग्रेसी हिंदू नेताओं के 'आइए! आइए!!' कहकर निवेदन करते रहने पर भी इस अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा में मुसलमान क्यों नहीं आए? इतना ही नहीं, जन्म से जाति-धर्मनिरपेक्ष रहकर एक राष्ट्र में विलीन हो जाने के कांग्रेस के सिद्धांत से ही मुसलमानों को इतना वैर क्यों था और तत्काल कांग्रेस के विरुद्ध अपनी स्वतंत्र संस्था उन्होंने क्यों बनाई? भोले-भाले कांग्रेसी हिंदू देशभक्त! मुसलमानों की मूल धर्म प्रवृत्ति और उसपर आधारित ऐतिहासिक परंपरा क्या है, इसकी उन अंग्रेजी-शिक्षित कांग्रेसी हिंदू नेताओं में से अधिकतर को कोई जानकारी नहीं थी।

हिंदू-मुसलमानों का सम्मिलित 'भारतीय', 'इंडियन' राष्ट्र जो कांग्रेस का ध्येय था, उन्हें (हिंदू कांग्रेसियों को) प्रामाणिक रूप से पूर्णत: विशुद्ध देशभक्ति का प्रतीक लगता था, परंतु वही मुसलमानों की धर्मनिष्ठा और ऐतिहासिक परंपरा का उपमर्दनकारक था। मुसलमानों के धर्मशास्त्र की दृष्टि से हिंदू-मुसलमानों का 'सम्मिलित' राज्य, यह बात ही मूल में अधर्म और पाप था। विशुद्ध मुसलिम राज्य

ही केवल धर्म्य है, उनकी शरीअत (शास्त्र) के अनुसार सही है। जितना अधिक लाड़-प्यार-भरी भाषा में कांग्रेस मुसलमानों से कहती कि 'हम हिंदू-मुसलमान एक ही देश की संतानें हैं। इसीलिए देशबंधु हैं और एक हिंदू राष्ट्र के नागरिक हैं' मुसलमान उतना ही अधिक उस कथन से चिढ़ने लगा।

मुसलमानों के धर्मशास्त्र के अनुसार जो विशुद्ध मुसलिम राज्य नहीं है, वह भूमि उनका देश हो ही नहीं सकता। उसे 'देश माता' कहना! तौबा! तौबा!! और जिस देश में मुसलिम राज्य भी नहीं, मुसलिम बहुसंख्यक भी नहीं, उलटे केवल गैर-मुसलिमों की अर्थात् मूर्तिपूजक हिंदुओं की प्रचंड बहुसंख्या है, वह देश तो काफिर स्थान, नापाक है। ऐसे देश में बलवानों के सामने मुसलमान भीगी बिल्ली जैसे नरम होकर अवश्य रहेंगे, परंतु डर से, निष्ठा से नहीं। इतना ही नहीं, ऐसे नापाक देश में रहने पर उन्हें एक धार्मिक प्रायश्चित्त भी करना पड़ता है। अक्षरश: 'तौबा' करनी पड़ती है।

मुसलमानों की इस मनोवृत्ति की निंदा या प्रशंसा करने के लिए हम यह वर्णन नहीं कर रहे हैं। वस्तुस्थिति जो है, जैसी है, वही कह रहे हैं। कोई भी मुसलमान विद्वान् इसे नकार नहीं सकता और किसी एक ने इसे नकारा भी, तो धर्मशास्त्र और इतिहास तो कहीं गया नहीं न? उनके ही शास्त्र से उनकी जाँच करनी चाहिए।

मुसलमानों द्वारा अराष्ट्रीय माँगें आरंभ

उपर्युक्त मुसलिम धर्मनीति एवं राजनीति के प्रचारार्थ सर सैयद अहमद के प्रयासों से अलीगढ़ में एक मुसलमानी स्वतंत्र शैक्षणिक संस्था की स्थापना हुई। अंग्रेजी शिक्षा के लाभ लेते हुए भी, उस शिक्षा के कारण हिंदुओं के जातिवंत स्वाभिमान को ठेस पहुँचानेवाली ब्रिटिश छाप 'भारतीयता' का जो 'रोग' हिंदुओं में बढ़ता जा रहा था, वह मुसलमान युवकों में न बढ़े और अंग्रेजी शिक्षा के बावजूद वे अशिक्षित मुसलमान से भी अधिक कट्टर मुसलमान बने रहें, इस विचार से अलीगढ़ की वह संस्था परिपूर्ण थी। यह संस्था कुछ ही समय में हिंदूद्वेषी मुसलिम राजनीति के केंद्र अलीगढ़ मुसलिम विश्वविद्यालय में परिणत हो गई।

तत्पश्चात् मुसलिम संस्था, समाचारपत्र, अधिवेशन आदि साधनों के माध्यम से संयुक्त मुसलिम संघटन का विस्तार करते हुए मुसलिम नेताओं ने सामूहिक रूप से कांग्रेस के विरुद्ध अंग्रेज सरकार का तीव्र प्रतिवाद करना प्रारंभ कर दिया। उनके उस समय के लेखन और भाषण का केंद्रबिंदु यही था कि कांग्रेस हिंदू संस्था है। यदि ब्रिटिश सरकार उसकी शक्ति बढ़ने देगी और हिंदुओं को उच्च अधिकार देगी

तो यहाँ हिंदू राज हो जाएगा। परंतु मुसलमान ऐसे हिंदू राज में रहने के लिए कभी भी तैयार नहीं होंगे। ब्रिटिश राज में हमें भय नहीं है। अत: कांग्रेस की माँगें, उसके नेताओं को दी जानेवाली बड़ी ऊँची नौकरियाँ, सरकारी समितियों में नियुक्तियाँ, राजनीतिक या नागरिक अधिकार इत्यादि देने के पहले हम मुसलमानों के प्रतिनिधियों से सहमति लेकर ही सरकार ऐसा करे। इतना ही नहीं, मुसलमानों के यहाँ के भूतपूर्व शासक होने के कारण उनकी जो विशेषता है और अल्पसंख्यक होने के कारण हमारे संरक्षण का जो विशेष दायित्व सरकार पर है, वह भी ध्यान में रखते हुए राजसेवा विभाग के उच्च पद, नौकरियाँ, प्रतिनिधित्व आदि अधिकार या लाभ सरकार से झगड़नेवाले हिंदुओं की तुलना में हम राजनिष्ठ मुसलमानों को अधिक एवं जातिगत आधार पर भी मिलना चाहिए।

यह कहना अनावश्यक है कि ह्यूम आदि कुछ ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों ने जैसे कांग्रेस को उसकी ब्रिटिशनिष्ठ श्रद्धा के साथ उठा रखा था, वैसे ही दूसरे कुछ ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने मुसलिम संस्थाओं के कांग्रेस-विरोध को प्रोत्साहित किया। ब्रिटिश राजनीति के ये दो पक्ष दिखावटी थे। अंदर से उनका उद्देश्य एक ही था। ब्रिटिश राज्य की स्थिरता के लिए ब्रिटिशों को इन परस्पर विरोधी भारतीय संस्थाओं की आवश्यकता थी। इस फूट से ब्रिटिश साम्राज्य की दृढ़ता बढ़ती थी।

कांग्रेस का कर्तव्य

यह बात पूर्णत: स्पष्ट है कि हिंदू-मुसलमान में फूट डालने का दोष कांग्रेस के मत्थे नहीं डाला जा सकता। भारतीय राष्ट्रीय महासभा ने अपने सामने जो ध्येय रखा था, वह भौगोलिक राष्ट्रवाद (Geographical Nationality) का था। एक भूभाग में जो रहते हैं, वे सब लोग धर्म-जाति-निरपेक्ष एकराष्ट्र ही होते हैं अथवा होने चाहिए। यूरोप के फ्रांस आदि कुछ देशों के और विशेष रूप से ब्रिटेन के उस समय के एकराष्ट्रीय स्वरूप की देखा-देखी उन्होंने राष्ट्र की यह भौगोलिक व्याख्या की थी—वास्तविकता देखें तो उस बित्ता भर इंग्लैंड में वैसी देशीय राष्ट्रैक्य की भावना अंगीकृत होने के पूर्व—स्कॉटलैंड, इंग्लैंड, वेल्स आदि घटकों के बीच और रोमन कैथोलिक, प्रोटेस्टेंट आदि धर्म पंथों के बीच कितने ही यादवी युद्ध हुए। इनमें इंग्लैंड देश को शताब्दियों तक घिसटते रहना पड़ा था। परंतु इतना गहरा विचार न करते हुए एक देशभूमि ही राष्ट्रीय एकता का घटक होती है—ऐसी एकांगी श्रद्धा से वही व्याख्या कांग्रेस ने हिंदुस्तान के संदर्भ में की। हाँ, एक अर्थ में वह भी अनुचित नहीं थी। वह प्रयोग भी करके देखना आवश्यक था। यहाँ तक इस दिशा से आते हुए एक अर्थ में कांग्रेस गलत राह पर नहीं थी।

'कांग्रेस हिंदुओं की है, हम उसमें नहीं आते—हम मुसलमानों को विशेष अधिकार मिलेंगे, तभी हम उसमें सम्मिलित होंगे।' ऐसा कहने पर कांग्रेस को 'भारतीय राष्ट्रवाद' की अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए यह पक्का उत्तर देना चाहिए था—'अखंड भारत हमारा देश है। वही हमारा राष्ट्र है। उसके सभी नागरिकों को जाति-धर्म-प्रांत-निर्विशेषता से इस भारतीय राष्ट्रीय महासभा में आने का अधिकार है। फिर वह धर्म से हिंदू है या मुसलमान, पारसी या ईसाई, ऐसी पूछताछ करना भी कांग्रेस की मूलभूत प्रतिज्ञा के विरुद्ध है। कांग्रेस में हिंदू-ही-हिंदू हैं, यह आपका कहना हमारी दृष्टि से उचित नहीं है, क्योंकि कुछ ब्रिटिश नागरिकों को छोड़ दें तो कांग्रेस में सम्मिलित जो भी लोग हैं, वे सब भारतीय हैं—इंडियन हैं, इतना ही हमें ज्ञात है। और जो आप स्वयं को मुसलमान कहते हैं, कल यदि कांग्रेस में सम्मिलित होते हैं तो आपको हम सब कांग्रेसी केवल भारतीय, केवल इंडियन ही मानेंगे, इसी नाम से पहचानेंगे, मुसलमान के रूप में नहीं। संपूर्ण भारतीय देशबंधुओं के हित में यह भारतीय राष्ट्रीय महासभा जो कुछ भी अधिकार माँगती है, वे अधिकार (प्राप्त होने पर) समान अंश में, समान नियमन से सब नागरिक भोगेंगे। नागरिकों को न्याय, धर्म स्वातंत्र्य देना-दिलाना इस राष्ट्रीय महासभा का कर्तव्य है—इससे अधिक इसका संबंध धर्म से नहीं होगा। इस प्रतिज्ञा पर विचार कर जिसे कांग्रेस में आना हो, आए अन्यथा न आए।'

परंतु ऐसा सीधा उत्तर न देकर कांग्रेस के भारतीय नेताओं ने मुसलमानों को मुसलमान के रूप में पहचानना और उनका मान-मनौअल करना आरंभ किया। कांग्रेस में हम अधिकतर हिंदू ही हैं, इस संबंध में उनका अपना मन ही उन्हें कचोटने लगा। कांग्रेस के अनेक हिंदू नेता लज्जित होकर कहने और लिखने लगे—'हम पहले भारतीय हैं, बाद में हिंदू हैं!' रायबहादुर रानडे तो इससे भी आगे बढ़कर स्पष्ट घोषणा करने लगे—'मैं हिंदू नहीं, मुसलमान भी नहीं, मैं केवल भारतीय हूँ!' परंतु जैसे-जैसे वे स्वयं को हिंदू कहलाने में लजाने लगे, वैसे-वैसे मुसलमान नेता अपनी संस्था के माध्यम से प्रकट रूप में गरजने लगे—'परंतु हम पहले मुसलमान हैं और बाद में भारतीय!' वे बड़े जोर-शोर से अपना मुसलमानी संगठन बनाने लगे और उसका उत्तर देने में समर्थ हिंदू संगठन बनाने की बात मन में भी लाना ये कांग्रेसी हिंदू राष्ट्रीय पाप समझने लगे। जिस संस्था का या सभा का उद्‌देश्य भारतीय राष्ट्र की नींव पर आधारित है, वह संस्था या सभा भारतीय राष्ट्रवादी है—फिर उसमें कोई मुसलमान है, नहीं है, ऐसी पक्की तर्कशुद्ध व्याख्या लागू करना छोड़कर कांग्रेस के सच्चे, परंतु राजनीति में प्रज्ञाशून्य देशभक्त स्वयं ही ऐसा कहने लगे कि जिस संस्था या सभा में कोई मुसलमान है

ही नहीं, उसे किस मुँह से 'भारतीय' कहें।

परिणामस्वरूप उन्होंने निश्चय किया कि किसी भी तरह कुछ मुसलमानों को तो कांग्रेस में लाना ही चाहिए। कांग्रेस में जाने के लिए अपने भाव बढ़ गए हैं, यह बात समझने में मुसलमानों को देर नहीं लगी—फिर 'यह' दोगे तो आएँगे, 'वह' दोगे तो आएँगे—ऐसी लूट मचने लगी तो इसमें आश्चर्य की क्या बात! मुसलिम दृष्टि अपनी आत्मनिष्ठ राजनीति चलाने की थी और उसकी तुलना में कांग्रेसी हिंदुओं की कोई राजनीति थी ही नहीं। इसलिए हिंदुत्व भी डूबा और भारतीयता भी डूबी।

सर्वसामान्यत: हमारी जनता की ऐसी समझ है कि लखनऊ समझौते के बाद या खिलाफत आंदोलन के बाद कांग्रेस मुसलमानों की गोद में गई और अपने भारतीय राष्ट्रवाद के ध्येय से हटने लगी। परंतु मुसलमानों से मुसलमान होने के कारण समझौता करने लायक उनकी जातीय धौंस की पूर्ति एक दिन या एक वर्ष में करना संभव नहीं था। अर्थात् उसकी जड़ उसके पूर्व समय में निहित थी। यह जड़ कहाँ है, इसका पता लगाने के लिए मैं कांग्रेस के प्रारंभ से उसके नेताओं के भाषण, लेख, प्रस्ताव प्रभृति तद्संबंधी लेखन पढ़ता चला तो मुझे दिखा कि अखंड हिंदुस्थान के विचार की नींव में धर्म-जाति-प्रांत-निर्विशेष भारतीय राष्ट्र के निर्माण करने हेतु स्थापित 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' का प्रारंभ जहाँ से हुआ, उस प्रारंभ में ही कांग्रेस की ओर से होनेवाली मुसलमानों की धार्मिक एवं जातीय मान-मनौवल की जड़ें धँसी हुई हैं। उसमें भी उस समय के धुरंधर कांग्रेसी नेता सुरेंद्रनाथ बनर्जी महोदय का आत्मवृत्त जब मैं इस दृष्टि से ध्यान से पढ़ने लगा तो एक पैराग्राफ में चार-पाँच पंक्तियाँ दिखीं, उनपर न कोई टीप-टाप, न टीका। उसमें कुछ विशेष ध्यान देने योग्य है ही नहीं, ऐसी वृत्ति से सहज भाव से वे पंक्तियाँ लिखी गईं। परंतु मुझे वह लाख रुपए की लगीं। राजनीतिक साहित्य के कोने-किनारे से ऐसी पंक्तियाँ खोजकर उसका भाष्य करके उसके मर्म पर शोध-ज्योति डालने का अग्राधिकार—मैं समझता हूँ—मुझे ही प्राप्त है। वे पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

सन् १८८७ में मद्रास में कांग्रेस का तीसरा अधिवेशन हुआ। उसके संबंध में लिखते हुए देशभक्त सुरेंद्रनाथ बनर्जी अपने आत्म-चरित्र के १०८वें पृष्ठ पर लिखते हैं—

'...The Mohamedan community under the leadership of Sir Sayyad Ahmed had held aloof from the Congress. They were working under the auspices of the 'Patriotic Association' in direct opposition to the national movement. Our critics regarded the

National Congress as a Hindu Congress and the opposition papers described it as such.

'We were straining every nerve to secure the co-operation of our Mohamedan fellow countrymen in this great national work. We sometimes paid the fares of Mohamedan delegates and offered them other facilities.'

भावार्थ यह है कि सर सैयद अहमद के नेतृत्व में मुसलमान समाज कांग्रेस से अलग ही रह रहा था। कांग्रेस के राष्ट्रीय आंदोल
करने के लिए ही (सर सैयद अहमद द्वारा स्थापित संस्था) 'पैट्रियॉटिक एसोसिएशन' के नेतृत्व में मुसलिम समाज काम कर रहा था। हमारे टीकाकार नेशनल कांग्रेस को 'हिंदू कांग्रेस' कहते थे और विरोधी समाचारपत्र भी कांग्रेस को 'हिंदू कांग्रेस' ही लिखते थे। नेशनल कांग्रेस के महान् राष्ट्रीय कार्य में मुसलमान भाइयों का सहयोग प्राप्त करने के लिए हम अपनी ओर से प्रयास करते रहे थे। कभी-कभी तो कांग्रेस अधिवेशन में आने के लिए मुसलमान किराया और अन्य सुख-सुविधाएँ भी पाते थे।

इस उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कांग्रेस ने ऐसे किराए के मुसलमानों को केवल इसलिए अपने साथ रखा था कि वे मुसलमान थे। हिंदू-मुसलमान की एकता एवं भारतीय राष्ट्र की समरसता का तमाशा पूरा करके दिखाने के पागलपन से सन् १८८७ के भी पूर्व अर्थात् पहले दो वर्ष से ही कांग्रेस ग्रसित हो चुकी थी। कांग्रेस के हिंदू नेताओं की इस मनोवृत्ति के कारण मुसलमानों को किराए एवं भत्ते के चेक देते-देते ही आगे कोरे चेक, गांधीजी के ब्लैंक चेक देने का प्रसंग आनेवाला था। इस बुद्धिभ्रम के कारण अपने आरंभ से ही इंडियन नेशनल कांग्रेस के हिंदू नेताओं ने मुसलमानों के पैर पकड़ने का काल-बम भारतीय राष्ट्रैक्य की नींव में ही अज्ञानता से रख दिया। उसी काल-बम का यथाकाल विस्फोट होकर अखंड हिंदुस्थान की—भारतीय राष्ट्रैक्य की—धज्जियाँ उड़ जानेवाली हैं—यह किसीने सोचा भी नहीं था।

देशभक्त सुरेंद्रनाथ बनर्जी के आत्म-चरित्र का एक और उद्धरण हमारे उपरोक्त वर्णन का कितना सही समर्थन करता है, इसका नमूना देखें। कांग्रेस के विरोध में स्वतंत्र मुसलिम संगठन स्थापित करनेवाले प्रसिद्ध हिंदूद्वेषी, अलीगढ़ विश्वविद्यालय के सूत्रधार सर सैयद अहमद की मृत्यु होने पर अपने आत्म-चरित्र के पृष्ठ ४९ पर सुरेंद्रनाथ महोदय लिखते हैं—

'...Sir Sayyad's Patriotic Association was started in opposi-

tion to the Congress. ...But let bygones be bygones. Let us not forget the debt of gratitude that Hindus and Mohamedans alike owe to the honoured memory of Sir Sayyad Ahmed. For, the seeds that he sowed are bearing fruits and today the Aligarh College, now raised to the status of a university, is the centre of that culture and enligtenment which had made Islam in India instinct with the modern spirit and along with that patriotic enthusiasm which argues well for the future solidarity of Hindus and Mohamedans!'

भावार्थ यह कि सर सैयद ने कांग्रेस का विरोध करने के लिए 'पैट्रियॉटिक एसोसिएशन' स्थापित की''पर जाने दें, जो हो गया सो हो गया। हम यह न भूलें कि हिंदू और मुसलमान दोनों ही सर सैयद अहमद के ऋणी हैं और इस कारण हम सब कृतज्ञता से उनकी स्मृति का स्मरण करें, क्योंकि उनके बोए बीज अंकुरित हो रहे हैं। वह अलीगढ़ का महाविद्यालय अब एक स्वतंत्र विश्वविद्यालय की ऊँचाई पा चुका है। आज अलीगढ़ उस संस्कृति के ज्ञान-प्रकाश का केंद्र बन गया है। उससे हिंदुस्थान के मुसलमान समाज में आज आधुनिक चेतना का संचार हो रहा है और हिंदू-मुसलमानों की भावी राष्ट्रीय एकता की शुभ सूचना देनेवाले उत्साही देशाभिमान की ज्योति फैल रही है।

सर सैयद जब मरे, तब उनकी उस अलीगढ़ संस्था से शिक्षित कांग्रेसी राष्ट्रीय एकता को नकारनेवाली या हिंदू-द्वेष से ओत-प्रोत मुसलमान तरुणों की एक पीढ़ी शिक्षित होकर निकल चुकी थी। फिर भी उस संस्था के अंतरंग के विषय में बड़े-बड़े हिंदू नेता कितने अज्ञ, अंध और असावधान थे—यह देखें! सुरेंद्र बाबू उपर्युक्त उद्धरण में मुसलमानों की जिस आधुनिक चेतना और देशाभिमान को भोलेपन से 'हिंदू-मुसलिम एकता की शुभ सूचना' समझते थे, वह वास्तव में मुसलिम राज्य आकांक्षा के द्वारा दी गई राष्ट्रभंग की धमकी थी।

इस ग्रंथ के दृष्टिकोण से कहने लायक कांग्रेस की उत्पत्ति और उसकी ब्रिटिशनिष्ठ अवधि अर्थात् सन् १८८५ से १८९५ तक का संक्षिप्त इतिहास ऐसा है। इस इतिहास से यह स्पष्ट है कि सन् १८९५ के पूर्व पाँच-छह वर्ष से जो कुछ राजनीतिक हलचल प्रकट रूप से चल रही थी, उसके मुख्य सूत्र कांग्रेस के हाथ में आ गए थे। उस कांग्रेस को ब्रिटिश निष्ठा की और मुसलिमपरस्ती की दो भूत बाधाओं ने प्रारंभ से ही जकड़ रखा था।

मुसलिम-अनुनय का खुलेआम विरोध कर उसे प्रतिबंधित कर सकें, ऐसा

कोई भी हिंदू पक्ष उस अवधि में अस्तित्व में नहीं था। इस कारण कांग्रेस के शरीर में उस रोग के विषाणु अधिकाधिक फैलते चले गए।

ब्रिटिशनिष्ठा की भूत बाधा से उस राष्ट्रीय संस्था को मुक्त कराने का बीड़ा उठाए एक बलवान मांत्रिक उसी समय भारतीय राजनीति के प्रांगण में उतरा था। उसका नाम था—'केसरी' के संपादक महाराष्ट्र-केसरी बाल गंगाधर तिलक!

□

प्रकरण–१२

तिलक-पर्व

सन् १८८५ तक की राजनीतिक स्थिति का अवलोकन करते हुए पाँचवें प्रकरण में 'स्वदेशनिष्ठ' गुट (पक्ष) की नीतिगत ध्येय-धारणा की विशेषताएँ विशद् रूप में वर्णित हैं। यह पक्ष ब्रिटिशनिष्ठ पक्ष का कट्टर विरोधी था। महाराष्ट्र में उसका जन्म हुआ था। उस समय उसका प्रसार भी महाराष्ट्र के बाहर नहीं था। उस समय यह पक्ष कोई संगठित संस्था हो, ऐसा नहीं था। ब्रिटिश सत्ता से कुपित और उस विदेशी सत्ता का वैधानिक रीति से यथासंभव विरोध करते रहनेवाली मनोवृत्ति के एकमेव सूत्र से बँधा हुआ वह स्वदेशनिष्ठों का एक समूह था। इसी अर्थ में उसे 'पक्ष' कहा है। इस स्वदेशनिष्ठ पक्ष का वैचारिक एवं कार्यिक शिविर सशस्त्र क्रांतिनिष्ठ पक्ष की दीवारों से लगा हुआ रहता था। वे दो पक्ष एक न होते हुए भी इतने निकट थे कि उसके अनेक कार्यकर्ता परस्पर के शिविरों में आया-जाया करते थे। इस कारण कौन किस गुट में है, यह ब्रिटिश शासन का गुप्तचर विभाग भी नहीं कह सकता था। इसलिए उसने दोनों को 'ब्रिटिश-विरोधी' नाम की एक ही रस्सी से बाँध रखा था।

सन् १८७४ में विष्णु शास्त्री चिपळूणकर ने जब अपनी 'निबंधमाला' का प्रकाशन प्रारंभ किया, तब उस स्वदेशनिष्ठ मनोवृत्ति द्वारा मानो रणसिंहा ही फूँका गया। उसके निनाद से महाराष्ट्र के रानडे, लोकहितवादी आदि ज्येष्ठ-श्रेष्ठ-ब्रिटिशनिष्ठ नेता एवं प्रार्थना समाज आदि संस्थाओं का विचारपीठ कंपित हुआ। 'बॉम्बे गजट' पत्र ने अंग्रेज सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित करने के लिए यह छापना शुरू किया कि निबंधमाला में ब्रिटिशद्रोही अर्थात् राजद्रोही सामग्री होती है। विष्णु शास्त्रीजी की ऐसी आत्मप्रत्ययी चेतना और चालना से एक-से-एक तरुण, अंग्रेजी-शिक्षित स्वार्थत्यागी, स्वदेशनिष्ठ मंडली कर्मक्षेत्र में उतरी और शास्त्रीजी द्वारा

स्थापित नई स्वावलंबी शैक्षणिक संस्था, वृत्तपत्र संस्था और इतर संस्थाओं में केवल आंशिक वेतन पर काम करने लगी।

ब्रिटिशों की सेवा-चाकरी नहीं करना एवं राजकोप से भयभीत हुए बिना लोगों पर होनेवाले अन्याय की बात कहकर विदेशी सत्ता के संबंध में वैधानिक सीमाओं के अधीन यथासंभव असंतोष फैलानेवाला राजनीतिक आंदोलन चलाना उनका ध्येय हो गया। इसी अखाड़े में से तरुण तिलक आगे आए। महाविद्यालय की परीक्षा से निवृत्त होते ही वे विष्णु शास्त्री से आ मिले। तिलक और उनके आगरकर इत्यादि तरुण साथियों को साथ लेकर विष्णु शास्त्री ने सन् १८८१ में 'केसरी' की स्थापना की।

यद्यपि विष्णु शास्त्री सन् १८८२ में चल बसे, परंतु तिलक, आगरकर आदि ने 'केसरी' पत्र बंद नहीं होने दिया। कोल्हापुर के महाराज पर अत्याचार-संबंधी सारे समाचार 'केसरी' ने छापे। परिणामस्वरूप उनपर अंग्रेजी सत्ता पर की गई टीका संबंधी अभियोग चला और तिलक तथा आगरकर ने कारावास का दंड भोगा। उसके बाद तो 'केसरी' का संपादकत्व और संचालकत्व तिलक के ही हाथ में आ गया। तब से महाराष्ट्र में शक्तिसंपन्न हो रहे 'स्वदेशनिष्ठ' पक्ष का जो अनौपचारिक नेतृत्व तिलक के पास आया, वह अंत तक अटल बना रहा।

इसी बीच जैसाकि पहले वर्णित है, सन् १८८५ में 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' की स्थापना हुई। उसकी स्थापना में रायबहादुर रानडे, तैलंग आदि मराठी ब्रिटिशनिष्ठ पक्ष के लोग अग्रगण्य थे। उस समय तरुण तिलकजी का और उनके गुट का राजनीतिक जीवन महाराष्ट्र की सीमा में ही सीमित था। अतः कांग्रेस की स्थापना से उनका कोई संबंध नहीं रहा। परंतु कांग्रेस के 'अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा'— इस स्वदेशभक्तिपूर्ण सरस नाम और स्वयं प्रकट रूप में स्वीकार किया हुआ राष्ट्रैक्य एवं राज्यैक्य का उच्च और उदात्त ध्येय देखकर महाराष्ट्र का यह स्वदेशनिष्ठ पक्ष अन्य मतभेदों को गौण मानते हुए महाराष्ट्र के ब्रिटिशनिष्ठ गुट के समान उत्सुकता से कांग्रेस में जा मिला। स्वयं तिलक कांग्रेस के बंबई अधिवेशन में अर्थात् १८८९ में पहली बार कांग्रेस में उपस्थित हुए। उसके बाद भी कुछ वर्षों तक तिलक को कांग्रेस में कोई प्रमुखता से पहचानता नहीं था। उनका कार्य कांग्रेस बाह्य महाराष्ट्रीय जनता में ही चल रहा था। उनकी नीतियाँ भी उस अवधि की कांग्रेसी चौखट में नहीं आती थीं। उदाहरणार्थ, सन् १८९३ में और उसके बाद जूनागढ़, बंबई, पुणे, येवले इत्यादि स्थानों पर मुसलमानों ने दंगे किए। तब मुसलमानी बिच्छू का डंक कुचलने के लिए हिंदुओं द्वारा किए गए प्रतिकार का खुला समर्थन करने में, हिंदुओं पर लादे गए मुकदमों से उनको छुड़ाने में और हिंदू पक्ष के लिए निर्भयता से लड़ने में तिलक

तथा उनके स्वदेशनिष्ठ गुट ने अगुवाई की थी। महाराष्ट्र के ब्रिटिशनिष्ठ गुट और स्वयं कांग्रेस ने हिंदुओं के सत्पक्ष का बचाव करने में मुसलमानों के क्रोध के भय से जिस प्रकार की कायर-वृत्ति का परिचय दिया, वैसा तिलक ने नहीं किया। उलटे सार्वजनिक 'शिवाजी उत्सव', सार्वजनिक 'गणेशोत्सव' आदि राष्ट्रीय महोत्सवों की परंपरा प्रचलित कर तिलक और तिलक पक्ष ने महाराष्ट्र में हिंदू संगठन की नींव डाली। तिलक की ऐसी विविध जनसेवा से रानडे, फीरोजशाह मेहता, वाच्छा, गोखले इत्यादि ब्रिटिशनिष्ठ नेताओं के हाथों से महाराष्ट्र का नेतृत्व तेजी से खिसकता चला गया और तिलक नेता बनते गए। इसी लोकप्रियता के बल पर सन् १८९५ में वे बंबई विधानसभा में जन-प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित हुए।

तब तक कांग्रेस के अंग्रेजी या भारतीय नेतृत्व को तिलक के इस कर्तृत्व या महत्त्व की कल्पना नहीं थी। हिंदुस्थान में भी उनके नाम की ख्याति यहाँ-वहाँ ही थी। इस कारण कांग्रेस में महाराष्ट्र का प्रतिनिधित्व ज्येष्ठ पीढ़ी के रानडे आदि लोग ही उस अवधि में किया करते थे। उनका ही यह विचार था कि सन् १८९५ का कांग्रेस अधिवेशन पुणे में आयोजित हो। सुरेंद्रनाथ बनर्जी अध्यक्ष चुने गए। सामाजिक सुधार हो या न हो, यह प्रश्न नहीं था। सामाजिक परिषद् का अधिवेशन कांग्रेस के शामियाने में ही आयोजित हो या न हो, यह बहस पुणे में अच्छी तरह छिड़ गई। कांग्रेस के लिए जो हजारों लोग चंदा देते थे, उनमें विशिष्ट धार्मिक या सामाजिक सुधारों के लिए अनुकूल और प्रतिकूल लोग भी होते थे। उनमें दूसरे प्रतिकूल पक्ष के लोगों की ही संख्या अधिक थी। ये बहुसंख्य चंदादाता चाहते थे कि कांग्रेस के शामियाने में उन्हें नापसंद एवं उनकी धर्म भावना को ठेस पहुँचानेवाली परिषद् को स्थान न दिया जाए। सामाजिक परिषद् के अभिमानी लोग चाहें तो अपने पैसे से स्वतंत्र शामियाना लगाएँ और अपनी सामाजिक परिषद् का आयोजन करें। यह था मुख्य प्रश्न। परंतु अभी तक के सारे कांग्रेस अधिवेशनों में कांग्रेस के मंडप में ही सामाजिक परिषद् आयोजित होती रही थी और किसी भी प्रांत में उसका विरोध नहीं हुआ था। अत: रानडे, गोखले, फीरोजशाह आदि ब्रिटिशनिष्ठ एवं सुधारक नेताओं ने जिद की कि सामाजिक परिषद् कांग्रेस मंडप में ही आयोजित होगी।

यह गुंडागर्दी हम पुणे में नहीं चलने देंगे—इस जिद से स्वदेशनिष्ठ और सनातनी पक्ष ने संगठित होकर आह्वान दिया। इस पक्ष की यह भूमिका न्यायोचित ही थी, इसलिए तिलक ने उसका पक्ष लिया। इस कारण यह वाद पुणे की सीमाएँ लाँघकर महाराष्ट्र-भर में फैल गया और यह आशंका बलवती हो गई कि कांग्रेस का विभाजन हो जाएगा। सारे हिंदुस्थान में यह चर्चा चली कि रानडे या तिलक, इनमें से कौन सही है और कौन गलत? कांग्रेस के निर्वाचित अध्यक्ष सुरेंद्रनाथ बनर्जी के

दबाव में बड़े खेद के साथ न्यायमूर्ति रानडे ने अपना मन कड़ा करके अपनी जिद छोड़ी और यह घोषणा की कि सामाजिक परिषद् का आयोजन कांग्रेस मंडप में नहीं होगा। यह प्रचारित हो गया। वस्तुतः परिषद् का प्रश्न मात्र दिखावा था। उसकी आड़ में महाराष्ट्र के ब्रिटिशनिष्ठ और स्वदेशनिष्ठ या रानडे पक्ष तथा तिलक पक्ष की यह कुश्ती थी। इसमें तिलक पक्ष की जीत होने से महाराष्ट्र और उसके बाहर सारे हिंदुस्थान में तिलक का नाम एक जुझारू नेता के रूप में प्रसिद्ध हो गया।

उस समय के पुराने और प्रसिद्ध कांग्रेसी नेताओं के मध्य हमारा नवागत देशभक्त चमक उठे, ऐसे कुछ गुण-विशेष तिलक में पहले से ही थे। सुरेंद्रनाथ बनर्जी आयु के तीस वर्षों तक शासन के सेवाविभाग में नौकर ही थे। तब तक उन्होंने देशसेवा का नाम भी नहीं लिया था। वह तो राज्यशासन ने उनपर कुछ व्यक्तिगत आरोप लगाए और नौकरी से निकाल दिया। तब वे देशसेवा का कार्य करने की ओर मुड़े। स्वयं दादाभाई नौरोजी तीस-चालीस की आयु तक व्यापार ही करते रहे। न्यायमूर्ति रानडे तो आजन्म ब्रिटिशों के चाकर ही थे। चाकरी के बाद के खाली समय में वे स्वदेश-सेवा के कार्य करते थे। बड़े नेता फीरोजशाह अपने वकीली व्यवसाय से लाखों रुपए कमाने में लगे हुए थे। परंतु युवा तिलक ने विश्वविद्यालय से उपाधि प्राप्त करते ही यह प्रतिज्ञा ली थी कि सरकारी नौकरी नहीं करूँगा। जीवनयापन हेतु आवश्यक धन अर्जित करते हुए शेष जीवन देश-सेवा में अर्पित कर दूँगा।

सुरेंद्रनाथ आदि उस समय के कांग्रेस के ज्येष्ठ और श्रेष्ठ नेताओं की राजनीति मूलतः ब्रिटिशनिष्ठ थी। अर्थात् वे राजनीति की पहली सीढ़ी पर ही खड़े थे। परंतु तिलक की राजनीति का प्रारंभ ही पहली सीढ़ी के बाद की ऊँचाई की स्वदेशनिष्ठ सीढ़ी से हुआ। यहाँ यह भी कहना प्रसंगानुकूल होगा कि सन् १८९५ के बाद नौ-दस वर्ष बीत जाने पर तिलक द्वारा पुरस्कृत राष्ट्रीय और उग्रवादी पक्ष के जो नेता थे, उनमें और तिलक में भी यह विभेद था। जैसे पंडित श्यामजी कृष्ण वर्मा आयु के चालीस वर्ष तक देशी राजा के उच्चपदस्थ चाकर ही थे और व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा के अतिरिक्त दूसरा कोई भी स्वार्थ-त्यागी जनसेवा का क्रियात्मक ध्येय उनके सामने नहीं था। ब्रिटिशनिष्ठा के अतिरिक्त किसी और राजनीतिक निष्ठा की बात उन्होंने नहीं की थी। यद्यपि राष्ट्रीय पक्ष के नेताओं को, आनुप्रासिक होने से, 'लाल-बाल-पाल' कहा जाता था, तथापि लाला लाजपतराय या पाल बाबू दोनों ही नेता तीस-चालीस की आयु तक राजनीति में धड़ल्ले से नहीं कूदे थे। ब्रिटिश राज हिंदुस्थान में है और वह उपकारक है, ऐसी ही उनकी प्राथमिक सोच थी। इस सबकी साधार सविस्तार चर्चा पिछले प्रकरणों में की जा चुकी है।

अर्थात् उपर्युक्त सारे नेताओं की तुलना में तिलकजी का जो उभरता वैशिष्ट्य था, वह अन्य तत्कालीन नेताओं में नहीं था। हमारा यह कथन अन्य लोगों द्वारा की गई देशसेवा की या उनकी कुल योग्यता की न्यूनता दिखाने के लिए नहीं है। उन नेताओं में भी प्रत्येक की अपनी उल्लेखनीय विशेषता थी। उनकी देशसेवा अपने-अपने हिसाब से उत्कट ही थी। जैसे न्यायमूर्ति रानडे के लिए ऊपर कहा गया कि वे सरकारी नौकरी के बाद बचे समय में देशसेवा करते थे, पर इस सच के पीछे का सच यह भी है कि बचे समय में उनके द्वारा की गई देशसेवा इतनी असामान्य थी कि उतनी देशसेवा करने में किसी दूसरे को सात जन्म भी पूरे न पड़ते।

सन् १८९५ में कांग्रेस का अधिवेशन होना निश्चित हुआ। उसके बाद ही यह बहस छिड़ गई कि कांग्रेस मंडप में सामाजिक परिषद् का आयोजन हो या न हो। इस बहस के कारण तिलक का नाम महाराष्ट्र के बाहर पहली बार गूँजा। बहस में एक ओर थे कांग्रेस के पुराने नेता तो दूसरी ओर था एक नवागत युवक। इस नवागत युवक को वे सुप्रतिष्ठित, ब्रिटिशनिष्ठ नेता दुत्कार नहीं पाए। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए ही दोनों ओर के नेताओं के गुण-विशेषों की चर्चा ऊपर करनी पड़ी और इसी क्रम में तिलकजी के अपेक्षाकृत अधिक प्रखर स्वार्थ-त्याग और तेजस्वी राजनीति का उल्लेख करना पड़ा।

उपर्युक्त कथन के अनुसार ही तिलक पक्ष के कारण कांग्रेस के मंडप से सामाजिक परिषद् के बरतन-भाँडे बाहर फेंके जाते ही वह बहस थम गई और सब लोगों की पूरी एकता से कांग्रेस का अधिवेशन पुणे में संपन्न हो गया। इतना ही नहीं, वह आयोजन इतने ठाठ-बाट से हुआ कि उससे पुणे को ख्याति प्राप्त हुई। पूरे देश से वहाँ एकत्र लोगों ने यह भी देखा कि महाराष्ट्र में नेता पद पर तिलकजी ही आसीन हैं। तिलकजी के स्वतंत्र कर्तृत्व की परीक्षा भी उसी अधिवेशन में हुई। दूसरे यह कि ब्रिटिशनिष्ठ लोगों के चंगुल से कांग्रेस को छुड़ाने के लिए जो लड़ाई भविष्य में लड़ी जानी थी, उसका प्रारंभ भी वहीं से हुआ। इसी समय से महाराष्ट्र के इतर प्रांतों में भी उसका प्रसार होने लगा।

□

प्रकरण–१३

वासुदेव बलवंत फड़के के बाद क्या ?

जिस सशस्त्र क्रांतिनिष्ठ पार्टी से इंग्लैंड को अन्य सब पार्टियों की तुलना में अधिक भय था, जिस सशस्त्र क्रांतिनिष्ठ मनोवृत्ति को समाप्त करने के मूल उद्देश्य से ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों ने कांग्रेस की स्थापना की—उस मनोवृत्ति वाली क्रांतिनिष्ठ पार्टी का इस (सन् १८८५ से १८९५ की) अवधि में क्या हुआ?

कांग्रेस ने पूरे देश में ब्रिटिशनिष्ठा की एक आँधी चला दी—उस आँधी में वह वृक्ष की तरह उखड़कर गिर तो नहीं गया? या कांग्रेस के पीछे दौड़ती लाखों की भीड़ के पैरों के नीचे गिरकर कुचल तो नहीं गया? या वासुदेव बलवंत के सशस्त्र विद्रोह के बाद चले फाँसी या काले पानी के भयंकर दंड और विद्रोह की भयानक विफलता के कारण सशस्त्र क्रांतिवाद के सिद्धांत से उस पक्ष की श्रद्धा लुप्त तो नहीं हो गई और अपने ही शरीर के रक्तक्षय से दुर्बल होते हुए वह गतप्राण तो नहीं हो गया? या स्वदेशभक्ति के रास्ते चलकर धन, सुख, सुरक्षा, पद, अलंकरण आदि के उपभोग का जो एक सरल रास्ता कांग्रेस की ओर जाता था, उसके मोह में वह भी उसी रास्ते तो नहीं चल पड़ा?

ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। सन् १८८३ में अदन में सुलगी चिता पर वीर वासुदेव बलवंत की देह जलकर राख हुई—चिता बुझ गई। परंतु बचे हुए महाराष्ट्रीय क्रांतिकारियों के मन में बैठी स्वतंत्रता की प्रबल आकांक्षा और उसे पाने के लिए सर्वस्व होम करने की अभिलाषा बुझी नहीं। उनके मन में लपटें धधकती ही रहीं। संगठन बचा न था। परंतु व्यक्तिगत तौर पर और गुटों में भारतीय स्वतंत्रता के ध्येय तथा सशस्त्र क्रांतिवाद का प्रचार वे गुप्त रूप से निरंतर करते ही रहे। वह भी नाना वेश में, नाना कारणों से; अप्रत्यक्ष ही नहीं, प्रत्यक्ष में भी करते रहे।

प्रत्यक्ष आंदोलनों में उस समय भारतव्यापी आंदोलन कांग्रेस का ही था।

उसके द्वारा हिंदुस्थान के कोने-कोने में फैलाई गई राष्ट्रीय एकता की चेतना क्रांतिकारियों को सुख तो देती थी। फिर भी ब्रिटिशनिष्ठ मनोवृत्ति से घृणा करने के कारण वे कांग्रेस से दूर ही रहे। दूसरा प्रत्यक्ष आंदोलन था स्वदेशनिष्ठ तिलकपंथियों का। इस पंथ के प्रत्यक्ष आंदोलन से क्रांतिकारियों का हार्दिक संबंध था। तिलकपंथियों के प्रत्यक्ष आंदोलन का फैलाव वैधानिक सीमा तक ही था, परंतु स्वदेशनिष्ठ पक्ष की रूपरेखा, मनोवृत्ति और कार्यक्षेत्र का जो चित्रण पूर्व में किया गया है, वह उनमें अभी भी समाई हुई थी। प्रकट रूप में आंदोलन और मन में सशस्त्र क्रांति की साध रखनेवाले अनेक क्रांतिकारी तिलकपंथी आंदोलनों में भागीदार थे।

अधिक क्या कहें, तिलकजी द्वारा सन् १८९५ तक आयोजित अकाल-निवारण कार्य, हिंदू-मुसलमान दंगे, शिवाजी-जयंती, गणेश उत्सव आदि सामुदायिक आंदोलन और भविष्य के सारे आंदोलनों में जो अनुयायियों की संख्या, उत्साह, कट्टरपन और स्वार्थ-त्याग दिखती थी, उसका मुख्य कारण क्रांतिनिष्ठा ही थी। तिलकजी को इसकी पूरी जानकारी थी।

परंतु प्रत्यक्ष और वैधानिक आंदोलनों में इन क्रांतिकारियों के सहभाग का मुख्य उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि ये वैधानिक आंदोलन स्वतंत्रता-प्राप्ति के काम में कितने अधूरे हैं।

प्रबल, प्रखर देशभक्ति और स्वार्थ-त्याग जिनके रग-रग में समाया था और जो क्रांति संस्थाओं में ही शोभा दे सकते थे—ऐसे स्वदेशनिष्ठ लोगों से क्रांतिनिष्ठ गुप्त रीति से पूछते—कहिए, इन वैधानिक आंदोलनों के अंत में क्या अनुभव मिला? जो आंदोलन वैधानिकता की आड़ में चलाए गए, उन आंदोलनों को अंग्रेजों ने कौड़ी के मोल का भी नहीं समझा! उलटे कल वैधानिक लगनेवाले आंदोलनों को आज ब्रिटिशों द्वारा 'अवैधानिक' कहकर आंदोलनकारियों को सरेआम दंडित किया जा रहा था। हम ब्रिटिश सम्राट् के प्रति राजनिष्ठ हैं—ऐसा बार-बार लिखने एवं कहनेवाले हमारे तिलक जैसे नेता को भी ब्रिटिश शासन 'राजद्रोही' ही तो कह रहा है। स्वदेशी का आंदोलन आज वैधानिक है, परंतु कल वे उसी कपड़े पर कर लाद दें, तो उनको वैधानिक आंदोलन चलाकर किस तरह रोका जा सकता है? आज जन-जागृति के लिए जो शिवाजी उत्सव, गणेश उत्सव आयोजित कर रहे हैं, उन्हें अंग्रेजी समाचारपत्र 'राजद्रोह फैलानेवाले' कह रहे हैं। कल उन उत्सवों को 'राजद्रोही' करार दिया जाता है और उनपर प्रतिबंध लगाया जाता है तो सबकुछ समाप्त ही हो जाएगा। कांग्रेस के ब्रिटिशनिष्ठ आंदोलन तो खैर, छोड़ ही दें। वे तो अधोगामी हैं ही। स्वदेशनिष्ठ लोगों के वैधानिक आंदोलन उपयुक्त तो हैं, पर आधे-अधूरे ही हैं, ब्रिटिश राज को उखाड़ फेंकने के लिए तो वे बिलकुल ही बेकार हैं। विधि-निर्माण

करने की क्षमता ही ब्रिटिशों के हाथों से छीननी होगी। आज हमपर ब्रिटिशों का जो शासन है, वह उनके हाथों में शस्त्रशक्ति होने के कारण ही है। अत: उस शस्त्रशक्ति को हतबल करके ऐसी प्रतिशक्ति अर्थात् सशस्त्र क्रांति खड़ी करने के सिवा ब्रिटिशों की दासता से अपनी मातृभूमि को स्वतंत्र करना संभव नहीं है। यह करना संभव हो या असंभव, पर रास्ता वही है और वह रास्ता गुप्त संस्थाओं की गुफाओं से निकलकर रणांगण के लिए जाता है।

प्रत्यक्ष आंदोलनों में श्रम करने के बाद भी ब्रिटिशों का कुछ भी नहीं बिगड़ता—यह देखकर परेशान, स्वदेशनिष्ठ लोगों को क्रांतिकारियों का यह युक्तिवाद भाता था। उनमें से जिनके हृदय चेत जाते थे, वे सशस्त्र क्रांतिवाद के नए अनुयायी बन जाते थे। कुल मिलाकर स्वदेशनिष्ठों के प्रत्यक्ष आंदोलन, अप्रत्यक्ष एवं गुप्त क्रांतिकारी संस्थाओं को नए अनुयायी देनेवाले भरती-क्षेत्र हो गए थे। क्रांतिनिष्ठ पक्ष इसी दृष्टि से उसका उपयोग करता था।

इस तरह होते-हाते सन् १८९५ के आसपास महाराष्ट्र में गुप्त रीति से टोली-टोली में बिखरे हुए उन सशस्त्र क्रांतिकारियों का एक नया संगठन फिर से कार्यक्षेत्र में उतर पड़ा। पूरे हिंदुस्थान में बिजली की तरह कौंधी चापेकर बंधुओं की गुप्त संस्था उसीका प्रकट रूप थी।

उपलब्ध इतिहास से यह दिखता है कि सन् १८९५ के कालखंड तक—हिंदुस्थान की सार्वभौम स्वतंत्रता के लिए, ब्रिटिशों का सशस्त्र प्रतिकार करने के लिए प्रेरित किसी क्रियाशील क्रांतिकारी संस्था या सक्रिय गुट का अस्तित्व महाराष्ट्र के सिवाय किसी भी अन्य प्रांत में नहीं था। महाराष्ट्र में केवल वह क्रांतिकारी परंपरा अखंड चलती रही। सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध से स्फूर्ति लेकर वासुदेव बलवंत का सशस्त्र विद्रोह जन्मा। वासुदेव बलवंत की प्रेरणा लेकर चापेकर बंधुओं ने क्रांतिकारी संस्था बनाई। चापेकर तथा रानडे की फाँसी की स्फोटक घटना से मेरा बाल-हृदय सुलग उठा और मैंने उनका क्रांतिकार्य आगे बढ़ाते रहने की प्रतिज्ञा अपने कुल-देवता के सामने की। इस वर्ष के आसपास ही चापेकर के पुण्य स्मरण में लिखे अपने काव्य में इन हुतात्माओं को संबोधित कर मैंने आश्वस्त किया था—

कार्य सोडुनि अपुरे पडता झुंजत? खंति नको! पुढे॥
कार्य चालवू गिरवित तुमच्या पराक्रमाचे आम्ही धडे॥
(खेद न करना अपने आधे छूटे कार्य पर,
पराक्रम के पदचिह्नों पर होंगे हम अग्रसर।)

इस आश्वासन के किंचित् पश्चात् 'अभिनव भारत' का प्रादुर्भाव हुआ।

□□□

भगूर

भगूर

'मेरी स्मृतियाँ' के लेखन के प्रारंभ में ही मुझे यह कहना है कि वास्तव में मुझे अपने जन्म की कोई स्मृति नहीं है।

कुछ स्पष्ट स्मरण लिखते समय जो बातें याद नहीं आ रही हैं, उनको घटित होना मानकर चलना ही पड़ता है और उपर्युक्त कथन इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। अपना जन्म होते कौन देखता-बूझता है। फिर भी उसपर विश्वास करके चलना पड़ता है, नहीं तो आत्म-चरित्र की एक पंक्ति भी लिखी नहीं जा सकती। यहाँ पर आप्त-वाक्य ही प्रमाण होता है। वैसी ही स्थिति माता-पिता की होती है। मेरी यह जननी है और यह जनक हैं, इस भावना का भी प्रमाण यदि केवल आप्त-वाक्य 'प्रत्यक्ष' को ही साक्ष्य मानने का अवलंबन करें तो जीवन असंभव होकर रह जाएगा। दाँत नहीं थे, तब माँ के दूध की धार ही जीवन का आत्यंतिक आधार थी, वैसे ही प्रत्यक्ष की स्मृति होने के पूर्व आप्त-वाक्य ही जीवन का अपरिहार्य आधार होता है। पाला, पानी, आग, नाम इत्यादि सब वस्तुओं के हिताहित गुणधर्म आप्त-वाक्य से ही सिखाए जाते हैं। ऐसा न हो तो प्रत्यक्ष की कठोर वास्तविकता उसे कब का मसल डाले।

ऐसा कहते हैं कि मेरा जन्म सोमवार २८ मई, १८८३ को नासिक तहसील के भगूर गाँव में हमारे कुटुंब के 'पुराने मकान' में हुआ था। मेरे पिता और काका ने एक नया सुंदर मकान बनवाया था, इसलिए पहला मकान पुराना हो गया। प्लेग के आक्रमण और उसके बाद राजकर्ताओं द्वारा कहर ढाने से परिवार और कागज-पत्रों की जो दुर्दशा हुई, उसमें मेरी जन्मपत्री खो गई थी। ग्रहों की कृपा-अवकृपा का कोई भरोसा मुझे प्रारंभ से ही नहीं था। इसलिए मेरी जन्मपत्री मुझसे बिछुड़ी ही रही। परंतु मेरे ज्येष्ठ बंधु गणेश (उपनाम बाबाराव) को प्रारंभ से ही फलित ज्योतिष में रुचि थी। उन्होंने ही हम तीनों भाइयों की जन्म-कुंडलियाँ कहीं से खोजकर निकालीं—वही मैं नीचे दे रहा हूँ।
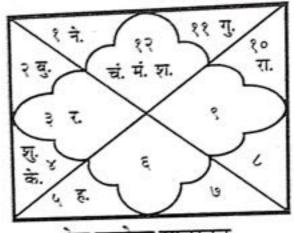
गणेश दामोदर सावरकर
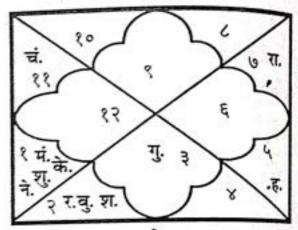
विनायक दामोदर सावरकर
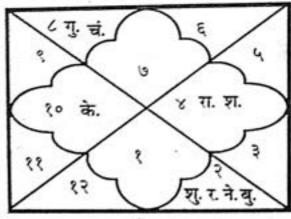
नारायण दामोदर सावरकर

मेरी माँ का नाम राधाबाई और पिता का नाम दामोदर पंत या अण्णाराव था।

हम तीनों भाइयों की जन्मतिथियाँ निम्नलिखित हैं—

गणेश दामोदर सावरकर—शक संवत् १८०१ ज्येष्ठ कृष्ण ९ (उत्तर भारत में वैशाख कृष्ण ९) सूर्योदयात् घटी ४७ पल ३६, १३ जून, १८७९। **विनायक दामोदर सावरकर**—शक संवत् १८०५, वैशाख कृष्ण ६ (उत्तर भारत में चैत्र कृष्ण ६) सूर्योदयात् घटी ३९, पल ५५, २८ मई, १८८३। **नारायण दामोदर सावरकर**—वैशाख शुक्ल १५, शक संवत् १८१०, सूर्योदयात् घटी २५, पल ३५, सन् १८८८।

पेशवा काल में, कोंकण की चिपळूण तहसील के गुहागरपेटे गाँव के दो परिवार धोपावकर और सावरकर अपना भाग्योदय करने के लिए उत्तर की ओर बढ़े। जो कुछ भी हुआ हो, पर अंतिम ज्ञात स्थिति यह है कि पेशवा से पुरस्कार में जागीर प्राप्त कर वे भगूर में बस गए। मेरी स्मृति तक वह जागीर हमारे घराने में अव्याहत चल रही थी। मेरे बचपन में 'जागीरदार का पुत्र' ऐसा सम्मान और लाड़ मुझे प्राप्त रहा। अपने प्रजाजनों के बीच जागीरदार के लड़के की शान और ऐंठ बनाए रखने का प्रयास भी मैं किया करता था, ऐसी कुछ धुँधली स्मृति मुझे है। कुछ यह भी स्मरण है कि बैलगाड़ियों पर आम लादकर जब हमारे किसान आते तो उनके श्रम पर मुझे दया आती और ओसारे में बैठकर सुस्ताने का आग्रह मैं उनसे करता।

वे कहते, 'छोटे जागीरदार! आपके काका अगर आ गए तो हमें फटकारेंगे।' मैं इसपर कहता, 'वे क्यों फटकारेंगे? उन्हें आप मेरा नाम बताओ; मैंने बैठाया है, यह बताओ।' मेरे काका आ भी जाते तो ओसारे पर चढ़कर बैठे किसान कहते, 'बापू साहब, हमें छोटे जागीरदार ने बैठाया है—कितना दयावान लड़का है।' यह सुन काका मुसकराते और कहते, 'छोटे जागीरदार ने बैठाया है तो मेरी क्या हिम्मत तुम्हें यहाँ से उठाने की—बैठो, बैठो।'

हम 'सावरकर' कैसे कहलाने लगे, इस बारे में निश्चय से कुछ कह पाना कठिन है। वैसे, कोंकण में भी यह कुलनाम प्रचलित है।

हमारे किसी पूर्वज को संस्कृत विद्वान् के रूप में पेशवा ने सम्मानित किया था और उन्हें पालकी भेंट की थी, ऐसी किंवदंति है। मेरे पिता और काका बचपन में मुझे घर में पड़ी एक बड़ी मोटी तगड़ी बल्ली दिखाकर कहते कि यह उस पालकी का अवशेष है।

मैंने तो खंडोबा के मंदिर की पालकी देखी थी। उसे वर्ष में दो बार सजाकर समारोहपूर्वक निकाला जाता था। अपने घर के कबाड़े में पड़ा वह काष्ठ देखते-देखते जब मैं खो जाता, तो फिर मुझे भी एक सजी-धजी पालकी दिखने लगती, जिसमें एक भव्य पुरुष बड़े सम्मानित ढंग से बैठा हुआ मुझे दिखता। मैं बड़े ही गर्व से फूलकर उस पूर्वपुरुष को नमस्कार करता, उसे साभिमान आश्चर्य से देखता रहता।

'भगूर' गाँव में

लगभग सात-आठ पीढ़ी पहले हमारे पूर्वपुरुष 'हरभट' इस भगूर गाँव में आकर बसे, तब इस गाँव का भाग्य भी उस पालकी-प्राप्त व्यक्तित्व के भाग्य के समान ही जागा। पेशवा राज के उस वैभवशाली काल में इस गाँव में चौदह चौकों के बाड़े बने थे, यह बात मेरे काका मुझे बताया करते थे। गाँव के खंडहरों से मिट्टी खोदते समय कभी कोई एकाध चौक मिलने की बात कहता तो आठ-दस की आयु का मैं दौड़कर वहाँ जाता और वहीं का होकर रह जाता। पहले मिले और नए मिले चौक की गिनती करता। वे चौदह नहीं हो पाते तो अनुमान लगाता कि वे अड़ोस-पड़ोस के घरों के नीचे दबे पड़े होंगे।

हमारे घर के सामने ही खंडहर जैसे स्थान में एक कुआँ था। उसमें एक सुरंग भी है। वहाँ एक नाग देवता खजाने की रक्षा करता हुआ बैठा है—ऐसी लुभावनी दंतकथाएँ मुझे कुएँ तक खींच ले जातीं और मैं उसके किनारे बैठकर यह कल्पना करता रहता कि वह सुरंग, वह नाग, वह खजाना कैसा होगा। परंतु अपने

गाँव की इन अद्भुत रम्य पुराण वास्तु का संशोधन कर महाराष्ट्र के प्रसिद्ध इतिहास संशोधक राजवाडे' की तरह ख्यात होने का सौभाग्य मुझे नहीं मिला।

पेशवा काल में धनी-मानी लोगों के रहने-बसने का यह गाँव था। वहाँ का पानी उत्तम था। हवा-पानी की उत्तमता को परखकर ही अंग्रेजों ने अपनी एक छावनी यहीं पास के 'देवलाली' में बनाई थी। इस गाँव में स्वयं बाजीराव पेशवा का भी आगमन हुआ था, ऐसी किंवदंति है। पर कौन सा पेशवा? पहला या अंतिम? रणधीर या रणभीरु? मेरे गाँव को लाँछन लगानेवाला या गौरव बढ़ानेवाला? दंतकथा अंतिम पेशवा की बात कहती तो मेरा मन आक्रोश से भर उठता। दंतकथा ही कहनी है तो पहले बाजीराव पेशवा की क्यों न कही जाए? यह प्रश्न मेरे बाल-मन को सताता।

मेरे बचपन में उस भगूर गाँव में खंडहर हुई चारदीवारी, महादेव और गणपति का मंदिर तथा खंडोबा की भव्य मूर्ति थी। हरसिंगार का एक पेड़ भी था, जिसपर से फूल उतारने के लिए चढ़े मेरे पिताजी नीचे गिरे थे। रक्त से सने, मूर्च्छित उनको घर लाया गया था—यह चिरस्मरणीय घटना सुनते ही मेरा रोम-रोम सिहर उठता। वैसे ही एक गिरा-पड़ा मठ था तथा गाँव से दूर की छोटी नदी 'दारणा' थी। बचपन में ही माँ की मृत्यु हो जाने के बाद पीने के लिए उसका जल लाने बारह वर्ष की आयु में जब मैं उसके पास जाता तो किनारे के बबूलों की छाया में खड़ा रहता। वहाँ मेरे लिए राह देखते खड़े किसी प्रियजन की समीपता जैसी बबूल के सुवर्ण पुष्पों की वह बिछावन आदि वस्तुएँ तथा उनसे संबंधित ग्रामीण्र दंतकथाएँ मेरे बाल-मन की कल्पना को बहुत प्रिय लगतीं। आज भी उन सबकी स्मृति कितनी रम्य लगती है।

सामान्य वस्तु भी दिव्य-वैभव-मोहिनी

प्रिय पाठक, आपने इस गाँव का गुंजन पहले ही सुन रखा है। है स्मरण! नहीं? अरे, भूल गए! फिर याद दिलाऊँ क्या? पर शर्त है बालक जैसी। यह किस्सा किसी और को बताना नहीं; नहीं तो कुट्टी हो जाएगी। मेरा एक काव्य (खंड काव्य) है गोमांतक (गोवा)। उसमें एक गाँव है 'भार्गव'—यही तो मेरा भगूर है। उसमें भार्गव गोवावासी है, पर है वह मेरे भगूर का ही कल्पना-चित्र। भार्गव उद्धृत कर रहा हूँ, उसमें भगूर दिख जाएगा—देखिए भार्गव…

थी एक नदी नाम दारका ताप हारका।
प्रतिपच्चंद्रलेखेव तवंगी धवलोदका॥
हर का हरने ताप हलाहल का।
रही जो स्वर्ग जाकर पापक्षालनी आपगा॥

वसुधा भगीरथ सम सम्राट् कुल की।
भगीरथी महत्कार्य करने संतत लगी॥
उस अर्थ में ऐसी महान् न है दारका।
दीनों का तृष्णा सांत्वन पुण्य कार्य कारका॥
गाँव जो तृषित हैं अधिक उनको।
नदी इतनी सी पिलाए जलधार को॥
पयपान कराए शावकों को शेरनी ज्यों।
या हिरनी पिलाए पय अपने शिशु को॥
शोभित है दारका के तट ग्राम एक छोटा।
जैसे पुष्प-गुच्छ बना बन मोगरे का॥
हरित चादर-सी फैली दूर तक कृषि डोले।
हो जैसे सिंधु में द्वीप गाँव ऐसा लगे॥
कृषि गीत 'ए वैला' गूँजे उच्च ·स्वर।
भोर से ही पुष्पगंध से भरे अंबर॥
बहता कल-कल जल खेत में पूरे।
सुरसाध जलधारा मयूर नृत्य करे॥
प्रकृति की कृपा थी पूर्व से जैसी।
आज भी थी उस ग्राम पर वैसी॥
सुरूप फिर भी जैसे दिखे बीमार-सा।
या तड़ित से जला वृक्ष दिखे जैसा॥
परचक्र के कारण ऐसा हुआ भार्गव गाँव।
था गर्वित कभी, आज उसका मुख म्लान॥
भग्न परकोटे का शेष दरवाजा एक।
कहता ग्राम के पूर्व वैभव की कथाएँ अनेक॥
देवालय महादेव का सन्निध खड़ा जीर्ण-सा।
धर्म केंद्र समाज का मानो अकेला शेष था॥
ग्राम युव-युवतियाँ प्रदक्षिणा इसे देतीं।
गूँथकर माला गिरे चंपा फूल की॥
पड़ोस के मठ में खड़ा पेड़ एक हरसिंगार का।
फूलों से-लदता, गर्वित करता, ग्राम को सदा॥
इस हरसिंगार की जो कथा दंतकथा थी।
पूर्व में नारद को स्वयं 'अर्जुन सारथी' ने कही॥

कि भामा रुक्मिणी और रानियाँ दूसरी।
किसी एक के आँगन में हरसिंगार देख न सकतीं॥
हारे हरि रानियों की ईर्ष्या परस्पर से।
चढ़ाया हरसिंगार चरणों पर भृगु के॥
ऋषि ने अपने मठ में दिया उसे रोप।
यही वह हरसिंगार है यह है आरोप॥
दस-पाँच दुकानें बस्ती बीच गाँव की।
खड़िया-पुती शोभित गेरु सजी॥
बड़ा बाजार यही था उस लघु गाँव का।
रँगीलों-मतवालों का स्थान यही सुरम्य था॥
खेत जाते भोर ही देखती दुकानें यहाँ।
नली में भर तेल संध्या ले जाती स्त्रियाँ॥
थोड़ी चलती-चलाती नोन-मिर्च वे लेतीं।
बनिया दूना दाम ले कहे हो गई गलती॥
बड़े पेट का सेठ उसीमें एक था।
दुकानदार थे अनेक साहूकार वह अकेला॥
बच्चे और गरीब कँगले जब भीख वहाँ माँगते।
तब वह क्रोधित हो सेठ सबको वहाँ से हाँकते॥
मारने कँगलों को खड़े होते जब सेठ।
बच्चे भाग जाते बाहर गाँव के ठेठ॥
गाँव में जोड़ न देख अपना नवमल्ल वो।
माँ के चरण छूकर जाता पड़ोस गाँव को॥
सँभलकर रहना—कहती माँ बढ़कर आगे।
कुश्ती का आयोजन जहाँ वहाँ वह सीधा भागे॥
और कुश्ती में दाँव लगा स्पर्धी को चित कर।
जीत कुश्ती लौटता बाँध साफा सिरपर॥
उसका स्वागत करने सब ही तो उमड़ पड़े।
जय-जयकार से उसके गाँव का लघु अंबर फटे॥
ढोल पीटते लोग, चलता पहलवान सीना ताने।
मानो रावण-वध कर राम ही साकेत लौट रहे॥
गाँव में ही है मायका पर नहीं भेजता ससुरा।
पानी पिलाने भैया लाता नदी पर बछड़ा॥

नदी पथ नहीं, मायका है माना अपना।
बहना प्यार करे भैया को उतना॥
पंचायत सभा पंचों की सुलटाने गाँव के विवाद।
सरपंच साहसी गाँव का सुलझाता सारे प्रवाद॥
नित्य, नैमित्तिक धर्म कार्य सब करते।
ग्रामोपाध्याय गाँव के पाप हरते॥
दैवी, भौतिक आपत्ति इस तरह होकर दूर।
निश्चिंत, निष्ठा से किसान करते खेती सुदूर॥
मुकुट पहने सुवर्ण के बालियाँ मानो कह रहीं।
गाँव देह में हैं प्राण और घर-घर में समाधान॥
साल-भर अब होगी हर कमी पूरी।
कुम्हार, तेली, बढ़ई, जुलाहे की बस्ती हरी॥
अपने सब सहायकों का किसान पेट भरे।
अनाज अंश यथा न्याय बाँट उन्हें वो दे॥
वर्ष के लिए लगता अनाज जितना लोगों को।
बाँटकर बचे और संप्रति जिसका काम न हो॥
समुदाय हितार्थ वह सामुदायिक निधि बने।
पटेल मुखिया का वह उससे गाँव खत्ती भरे॥
अकाल का संकट यदि आए भू पर कभी।
करेगी अन्न संपत्ति लोक-पोषण वो भली॥
ग्राम-शासन ऐसा जो हर गाँव होता रहे।
स्वयंपूर्ण लोकतंत्र का लघु रूप फूले-फले॥
पर आसन्न मृत्यु पड़ी व्यवस्था वह ग्राम की।
परराज्य प्रबंध के रास्ते आती पराकृति॥
दुकानें दारू की खुलीं अब बीच बस्ती।
दानवीय कर कर्षण सहन करती खेती॥
इस ऐसी ग्राम संस्था से प्रथिता स्वयंभू अधिक।
प्राण भूत जैसी संस्था थी दूसरी और एक॥
था एक युगस्थायी वटवृक्ष महायशी।
फैलीं जिसकी हवा जड़ें प्रतिवृक्ष-सी॥
आया जो अतिथि जा न लौटकर पाया।
बिना सुने कथा वटवृक्ष की बिना देखे काया॥

कि पूर्व में जिस किसी दिन उस वीरोत्तम भार्गव ने।
सकंप समुद्र को पीछे था हटाया शत योजने॥
उस दिन उस वीर ने विजय-ध्वज के रूप में।
स्थापित किया गाँव और रोपा वटवृक्ष बीच में॥
चौपार उसका हेमाडपंथी बिना चूना कीच।
पूरे अवनि पर नहीं ऐसा मंत्रबद्ध शिला अतीव॥
चौपाल नहीं केवल पीठ यह अखंड चर्चा की।
राजनीति सारी गाँव ठान की घटती यहीं॥
दिन में संथागार और रात में।
रंगभूमि खुली, कोई आए कोई खेले, देखे॥
आते घुमक्कड़ साधू धुनी रमाते यहाँ।
विनय करते बहुत तब कहते लव देश कहाँ॥
चिलम का धुआँ बात-बात पर छोड़ना।
विलायत है बस जरा आगे काशी के कहना॥
अवधूत यह पर प्रेम बधू का देखे।
नए वृक्ष की देख पूजा मत्सर से भरे॥
वृद्ध वटाध्यक्ष की वत्सल छाया जिसपर।
पशु-पक्षियों की छावनी पड़ी रहती निरंतर॥
लुप्त सी है अब गाँव की चावडी फिर भी।
कई-कई राज्याधिकारियों के दिखते शिविर वहीं॥
जैसे जिस दिन दौरे पर कोई आए।
तहसीलदार की गड़बड़ उस दिन हो जाए॥
हर कोई उस रास्ते जाए विलोकने।
डर-डरकर दूर से धूमकेतु हो जैसे॥
पटेल की गलमुच्छें बड़ी रुआबदार।
पटवारी की लेखनी हेरफेर में तैयार॥
खूब बढ़ाते अपना रोब डरते अंदर से।
उस दिन उस गाँव के हर ग्रामीण से॥
लेते मुजरा उस दिन मुंडी झुकाकर जरा।
तहसीलदार के जाते ही पर होते कर्कशा॥
वही मिशन का एक स्कूल नया लगे।
क्रोध उसका करते पंडितजी पुराने॥

टाट-पट्टी खाली इनकी कक्षा है सूनी।
रटते अंग्रेजी उधर बच्चे कक्षा है पूरी॥
कैसे हो कल्याण देश का हरे-हरे।
श्रीगणेश लिखे बिना बच्चे बढ़े चले॥

इस भगूर गाँव के पड़ोस में ही एक छोटा गाँव था 'राहूरी'। वहाँ हमारे कुल की जागीर थी। मेरे कुल में अनेक पुरुष वेदशास्त्रों के ज्ञाता थे। वैसे ही एक पुरुष ने यज्ञदीक्षा भी ली थी, इसलिए हमारे कुल को 'दीक्षित' भी कहा जाता था। मेरी दादी के पिता अपने समय के बड़े वीर थे—वे मकराणी घोड़ों के एक दल के अधिपति थे। इसी दल की सहायता से उन्होंने एक बार डाकुओं को पकड़ा और उनके पास से उनकी प्रमुख देवी की प्रतिमा ले आए। मेरी दादी उसे हमारे कुल में ले आईं। वह अष्टभुजा भवानी की मूर्ति बहुत सुंदर थी, वही हमारी कुल देवी बनीं। उस मूर्ति की प्रखरता की अनेक दंतकथाएँ हमारे घर और गाँव में प्रचलित थीं। परंतु उस मूर्ति को बलि दिए जाने की प्रथा थी। इसलिए उसकी स्थापना गाँव के एक मंदिर में की गई थी। उसकी पालकी प्रतिवर्ष बड़े समारोह से निकाली जाती थी। उस पालकी के भोई कहा करते थे कि हमारा घर आते-आते वह पालकी बहुत भारी हो जाती है और जब हमारे कुल का कोई सदस्य उसके दर्शन कर लेता है तो वह फिर हलकी हो जाती है।

बाद में मेरे पिताजी ने एक नया घर बनाया और वह मूर्ति हमारे घर में ही प्रतिष्ठित की गई। उस अष्टभुजा की सेवा-चाकरी करने में मेरा मन अधिकतर लगा रहता था। मेरे पिताजी नवरात्रि व्रत करते, घी के दीपक और अगरबत्तियाँ जलाए जब वे सप्तशती का पाठ करते और 'या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता। नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः' आदि पढ़ते हुए बार-बार 'नमस्तस्यै-नमस्तस्यै नमो नमः' कहते, तब मैं मंत्रमुग्ध हो जाता और समाधि की स्थिति में पहुँच देहभान भूल जाता। किशोरावस्था का वह संस्कार जब-जब जाग्रत होकर स्मरण हो जाता है, तब-तब मैं रोमांचित हो जाता हूँ। किशोरावस्था में वे लगते थे कितने सुंदर, भावसुंदर! अब वे लगते हैं कितने तत्त्वसुंदर श्लोक!

मेरे पिताजी

मेरे पितामह के दो पुत्र और एक पुत्री, तीन संतानें हुईं। मेरे ताऊ, जिन्हें हम 'बापू काका' कहते, मेरे पिता से चौदह-पंद्रह वर्ष बड़े थे। मेरे पिता का नाम दामोदर पंत था जिन्हें हम सब 'अण्णा' कहते थे। वह अति स्नेहिल और सुजन थे।

उन्हें अति सम्मानपूर्ण संबोधन अच्छे नहीं लगते थे।

हम मराठी लोग अति सम्मान दर्शाने—'अहो', 'जाहो' कहते हैं और यही अपनेपन के संबंधों में स्नेहदर्शी 'अरे', 'ओरे' हो जाता है। मेरे पिता को यही संबोधन अच्छे लगते, जबकि दूसरा कोई जब पिता के प्रति प्रयुक्त ये संबोधन सुनता तो बिगड़ता, हमको समझाता कि पिता को ऐसे संबोधित नहीं किया जाता। वे गठीले शरीर के, गोरे, पर कोमल स्निग्ध चेहरे के थे। उन्होंने नासिक हाई स्कूल से मैट्रिक किया था। उनके शिक्षक उन्हें बुद्धिमान परंतु शैतान छात्र कहते थे। उस युग में मैट्रिक के छात्र महाराष्ट्र में दुपट्टा-साफावाले होते थे। अधिकतर दुपट्टे का उपयोग उसकी गेंद बनाकर कक्षा में ऊँघते छात्रबंधु के सिरपर मारने के लिए होता था। मेरे पिता पर आरोप था कि उन्होंने स्वयं प्रधानाध्यापक पर ही ऐसी गेंद का प्रयोग किया था। वे कविता किया करते थे। मराठी के अनेक नामवंत कवियों की कविताएँ उन्हें कंठस्थ थीं। वे उन्हें बड़े मजे में गा-गाकर हम बच्चों को सुनाते। मुझे भी इसी कारण अनेक पुरानी कविताएँ कंठस्थ हो गई थीं।

मेरे बापू काका

मेरे ताऊ ऊँचे, भरे-पूरे शरीर के व्यायाम-पटु और हम बच्चों से निष्कपट प्रेम करनेवाले व्यक्ति थे। वे कानून के ज्ञाता थे, इसलिए नासिक की वकील मंडली में उनकी यारी-दोस्ती थी। अपने पिताजी के पश्चात् उन्होंने साहूकारी का धंधा किया, बढ़ाया और उसमें नाम कमाया। साहूकारी थी, आम के बाग थे, खेती थी। इसलिए मेरे ताऊ का मित्र-परिवार, जिनमें सरकारी अधिकारी और अन्य बड़े लोग भी थे, गर्मियों में या अन्य अवसरों पर हमारे गाँव चैन-चान के लिए आया करते थे।

मेरी फूफी कोठूर के कानेटकर परिवार में विवाहित थीं। उनके पति मेरे पिता के बहनोई, जिन्हें हम सब धोंडू अण्णा कहते थे, हमारे ताऊ के साथ साहूकारी करते थे। ब्राह्मणों में अगुवा, जागीरदार, अंग्रेजी पढ़े-लिखे साहूकार, कानून के ज्ञाता आदि होने से हमारे घराने का दबदबा आसपास के पाँच-दस गाँवों में था। परंतु दुर्भाग्य से एक गड़बड़ी भी थी। मेरे पिता और ताऊ में गहरी अनबन थी। कभी-कभी तो दोनों में फौजदारी भी हो जाती। बापू काका को न पत्नी थी, न बच्चे। पत्नी जल्द ही चल बसी थीं। इसलिए मुझे अपने ताऊ के प्रति दया आती थी।

साहूकार का घर और गाँव सुनसान होने से चोरी-डकैती से हमारा घर त्रस्त था। परंतु मेरे पिता बहुत वीर थे। चोरों-डकैतों से वे अकेले ही तलवार लेकर भिड़ जाते थे। न रात देखते, न दिन। चोर-उचक्कों से भिड़ जानेवाला उनका एक बहादुर साथी कुत्ता भी था। उस कुत्ते की अनेक दंतकथाएँ हमारे घर में पौराणिक आख्यानों

की तरह कही-सुनी जाती थीं। बैठक पर हजारों रुपए खुले छोड़कर बापू काका को किसी काम से जाना भी पड़ता था, तो कोई डर नहीं था। कुत्ते के रहते उन रुपयों को कोई मजाक में भी हाथ लगाने का साहस नहीं कर सकता था। उस कुत्ते का इतना आतंक था। वह चोरों का शत्रु था, इसीलिए उसे किसीने विष देकर मार डाला था।

बापू काका का मुझपर बहुत स्नेह था। मैं उनका बड़ा लाड़ला बेटा था। कोई भी बड़ा असामी उनके यहाँ आता तो वे मुझे किसी अमूल्य रत्न की तरह उसको दिखाते थे, मेरी प्रशंसा के पुल बाँधते थकते नहीं थे। कितने ही अटपटे नामों से वे मुझे बुलाते थे, कहानियाँ सुनाते थे। वे मुझे दत्तक ही लेना चाहते थे, परंतु मेरे पिता से वैर होने के कारण उनकी वह इच्छा पूरी नहीं हुई।

मैं कोई चौदह-पंद्रह साल का था, जब मैंने भगूर के गणपति उत्सव में एक भाषण दिया था। वही मेरा प्रथम सार्वजनिक भाषण था। उस भाषण को सुनकर मेरे बापू काका इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने मुझे उठाकर सीने से लगाया और चूमा। 'तू हमारे घराने का नाम रोशन करेगा; वाह, क्या भाषण दिया!' आदि बातें वे बड़ी प्रसन्नता से कहते रहे। उनकी मृत्यु-पूर्व की यह अंतिम स्मृति मेरे मन में आती रहती है। इस स्मृति का यहाँ पर उल्लेख करना उनके प्रति मेरी प्रेमपूर्ण श्रद्धांजलि ही है।

मेरी माँ

कोठूर के दीक्षित घराने की वह कन्या। पिता बड़े शास्त्री पंडित थे, परंतु उनका और उनके एकमात्र भाई (मेरे मामा) का लालन-पालन मेरी नानी ने किया। मेरे मामा को कविता रचने में रुचि थी। तरुणाई में वे कुश्ती और व्यायाम में ही लगे रहे। देह से विशाल, रूपवान, तीक्ष्ण बुद्धि, मन से कोमल, दूसरे के सब काम आगे बढ़कर करनेवाले, मेरे मामा ने गीता जैसे ग्रंथ पर भी प्रसादगुणयुक्त कविता लिखी। हम बंधुओं में जो काव्य कला उदित, पल्लवित, पुष्पित, फलित हुई, उसका मूल कारण मातृ-पितृ कुल में इसका होना ही था। इसमें कोई शंका नहीं।

जब मेरी माँ की मृत्यु हुई, तब मैं नौ वर्ष का था। अत: उसके स्वरूप को मैं इतना भुला बैठा हूँ कि यदि वह सामने प्रकट भी हो जाए तो उसे पहचान नहीं सकता। पर उसके संबंध में मैंने जो कुछ सुना और जो कुछ उसकी धुंधली स्मृतियाँ मुझे हैं, उसका ही प्रतिबिंब मेरे काव्य 'गोमांतक' की 'रमा' की भूमिका पर पड़ा है। सुंदर स्वरूप, गोरी, स्वभाव से सुशील और स्नेहिल मन की मेरी माँ थी, यह उसके प्रति कही जानेवाली बातों से मैंने जाना था। संपन्नता का घमंड उसे नहीं था, परंतु उसकी मृत्यु के बाद हमारी संपन्नता घटने लगी। मेरे पिता कहा करते थे, 'वह आई भी लक्ष्मी लेकर, गई भी लक्ष्मी लेकर।' उसके जाते ही लक्ष्मी चली गई। वास्तव में

वही लक्ष्मी थी। मेरे पिता, मेरी माँ पर वास्तव में बहुत मुग्ध थे—

प्रिया उसके जैसी युवती ही वय से।
गृहिणी कर्तव्य करे पर पूर्ण प्रौढ़त्व से।
गृहनिर्मल, रसोई सुरस करे वह नित्य।
प्रियंवदा थी वह सबकी बात थी सत्य॥
बड़ों की साग्रह करे सेवा बच्चे पढ़ाए।
वेतन से अधिक वाणी से सेवक भरमाए।
किसान आते ऋण लेते उसके द्वारे।
रोटी-पानी देकर उनसे बातें मीठी करे॥
अमराई से आम आते पर्वत लगाते घर में।
सुरंग, सुरस, सुस्वादु बीनकर वह पहुँचाती हर घर में।
सुवासिनी आमंत्रित करती सब जात।
आँगन भरता सब लूटती आम॥
माँ के स्तनपान से आम कांचन गौर से।
या स्तनद्वय के मध्य स्तंभित लोभ अनावर से।
किंचित् कुपित कभी होती प्रेम कोमल पति से।
प्राण से प्यारी वह माने जैसे वह माने उसे॥
वेणी बाँधे स्वहस्ते नहलाए भी वह उसे।
लजाती वह कुपित हो क्षणमात्र बात न करे उससे॥

मेरे ताऊ को संतान नहीं थी। मेरी माँ की भी पहली दो संतानें अल्पायु थीं, अतः उसकी तीसरी संतान अर्थात् मेरे बड़े भाई को माँ और नानी का अपार प्यार मिला। उनके जन्म के चार वर्ष बाद मेरा जन्म हुआ। उसके तीन वर्ष बाद मेरी बहन 'माई' और उसके बाद मेरे छोटे बंधु 'बाल' का जन्म हुआ।

मेरे माँ-पिता की तरुणाई की गृहस्थी बहुत आनंद से गुजरी। उनके वे मजे के दिन कैसे बीतते थे, दारणा नदी के पार हमारी जागीर की अमराइयों में वनभोज आदि किस हर्ष और उत्साह से संपन्न होते थे! मेरी माता की दिनचर्या कैसी होती थी! वह कैसी स्नेहिल, कर्तव्यतत्पर और पवित्र थी, इसका कुछ आभास मेरे 'गोमांतक' काव्य की 'रमा' के दर्पण में दिख सकता है—

एक-दूजे का सुख बढ़ाते रमा-माधव रम रहे।
एक उत्तम दूजा अति तो पहिला फीका पड़े॥
यथाकाल सुभाग से रमा रमणी यश पाए।
प्रसवित हुआ एक लाल तनया वंश यश उजाले॥

जन्म होते बालक पर गगन से सुमन वर्षा हुई।
विमानों की भीड़ भारी अंबर में जमी॥
आशीष दे विपुल उसे प्राचीन पूज्य गोत्रज ऋषि।
गंधर्व गगन में गाए न गाए गीत बधाई॥
पुत्रमुख वात्सल्य से चूमने वह लगी।
मानो रमा के हृदय में स्नेह की बिजली भरी॥
कौशल्या के सुख से कम सुखी उसे क्यों गिनें।
सिंहासन पर बैठी महारानी थी इसलिए॥
बाल उसका उसे पुकारे मंजुलता से 'माँ'।
वात्सल्य-अश्रु से तर हो जाए आँचल उसका॥
माता के स्तनपान पिता के प्रिय स्नेह से।
बाल पोषण पाए लोभ हर्षित हुए॥
कान के झुमके झुमकते ठुमकते बाल के।
माँ को कौर खिलाए अपने मुँह से निकाल के॥
घोड़ा खेलते तात को काम पर जाने न दे।
कपड़े छिपाए, दरवाजे बीच खड़ा रहे॥
जैसे-जैसे बढ़ता चला बालक उसका सद्‌गुणी।
श्रेय प्रेय उसे मिलता संयुक्त होकर जीवनी॥
प्रथम प्रसवा स्तनपान कराए शिशु चूमते-चूमते।
नदियाँ सहोदर लेतीं प्रीति नीति उस लोक में॥
भोग ही योग्य है या प्रतिपाल अपत्य का।
गति दे जीवन गंगा को सृष्टि दे नवीनता॥
बाल संगोपन करे नारी पाए जीवन में रम्यता।
जीवन में क्रम आए सुव्रत पालन हो यथा॥
एक-दो पंछियों की सुन तान सुंदर।
भोर ही जग पड़े नित रमा सत्वर॥
झाड़ू-बुहारी स्वयं करे दासी हाथ लगाने न दे।
स्नान कर शुचिर्भू वह शीघ्र स्वयं को करे॥
पिछवाड़े के आँगन में लगाई फुलवारी थी उसने।
देवपूजा हित फूल चुनने वह वहाँ जाया करे॥
फूलों की सुगंध में और उषा के सुरंग में।
तन्मय हो वह सृष्टि कौतुक देख भले॥

फूल चुनते गीत झरता मंजुल उसके कंठ से।
मानो शांति प्रभात की वाणी पाए गीत से॥
पति को धीरे से वह जाग्रत करे।
देश कुशल सब नयनों में नीर भरे॥
तुलसी निकट बैठ वह जाप नित्य किया करे।
बालक उसका वहाँ बैठ देख चुहलबाजी करे॥
पूजा करते उसे लिपटने को बालक मचले।
या अगरबत्ती का उठता धुआँ पड़कने को लपके॥
उष्णोदक से फिर बालक को वह नहलाए।
एक-एक शब्द कहते उससे स्तोत्र पाठ करवाए॥
कमल पंखुड़ी खिलते-खिलते खुलती जैसे।
हृदय उसके अर्थ-ज्ञान खिलता वैसे॥
नमस्कार करवाए देव तुलसी को सती।
कौर मुँह में तनय के बैठाकर देती॥
दूध-भात का कौर साथ उसके अचार।
थाली से जो देती माँ उसका कौन समान॥
वैसी मिठाई मिलती नहीं जीवन में फिर कभी।
स्नेह भी वैसा माँ कर पाती नहीं फिर कभी॥
सुनते क्या जी! बोले रमा मुड़ देखे कहीं।
पति को कुछ कहने अधीर वह हुई॥
जेठ में होंगे पूरे पाँच अपने लाल के।
जन्मदिन मनाए दाल बाटी के ठाठ से॥
टीका-टिप्पणी विरोध उसका न हुआ।
प्रस्ताव उसका पंच-सभा में पारित हुआ॥
वनभोज उस युगल को था बहुत पसंद।
रमा-माधव बुलाते इष्ट मित्र मनाने वसंत॥
नाना पकवान बनाए महिलाओं ने।
शुभ दिन आने पर उन्हें साथ लाए॥
प्रातः से ही मंगल बाजे बजने लगे।
गाड़ियाँ भी आ गईं सजी फूलों से॥
गाड़ियाँ बढ़ीं धक्का सबको लगा।
नर-नारी भिड़े और एक ठहाका लगा॥

खेत, खेती, पशु-पक्षी और पेड़-मेड़।
अक्रम सुंदरता से मार्ग थे भरे-भरे॥
नाम पूछे काम पूछे बालक उत्कंठा-भरा।
ताली बजा, गाल खींच दिखाए वह हरा-भरा॥
खेत छोड़ गाड़ियाँ चलीं, हुई खड़खड़।
पंछी उड़े, गाते मंजुल करते फड़फड़॥
मानुष भी क्या उड़ सके जैसा पंछी उड़े।
प्रश्न बालक का सुन रमा उससे कहे॥
पुत्र नहीं देता देव ऐसे पंख मनुष को।
पर चतुर मानव ने बनाए विमान नापने आकाश को॥

मेरी पहली स्मृति

'अपनी' कहने योग्य मेरी प्रथम स्मृति मेरे सातवें-आठवें वर्ष की है। मेरे पिता का नियम था कि रात्रि का भोजन हो जाने के बाद वे मेरे ज्येष्ठ बंधु से मराठी के किसी एक ग्रंथ का वाचन करवाते थे। मराठी 'ओवी' छंद में लिखे अनेक ग्रंथ, जैसे—'राम विजय', 'हरि विजय', 'पांडव प्रताप', 'शिवलीलामृत', 'जैमिनि अश्वमेध' आदि उन दिनों मराठी घरों में पढ़े जाते थे। ग्रंथ पढ़ा जाता और उसपर मेरी माँ से वे चर्चा करते। ऐसी एक चर्चा का विषय था कि हर कल्प पिछले कल्प का बिलकुल प्रतिरूप रहता है। पिछले कल्प की यथावत् आवृत्ति उसके बाद के कल्प में होती रहती है। दूसरे दिन वे सारी बातें मेरी स्मृति में रहती थीं।

हम दोपहर पाठशाला से घर आया करते थे, फिर कुछ खाना-पीना और बहुत-कुछ माँ से लाड़-लड़ियाव करते। उस दिन कुछ ऐसा हुआ कि मैं घर तो आ गया, पर खाने-पीने की किसी बात पर माँ से रूठ गया। इसीमें छुट्टी का समय बीत गया और माँ से बिना बतियाए-लड़ियाए पाठशाला लौटना पड़ा। बाद में मुझे इस बात का बड़ा खेद हुआ कि रूठा-रूठी में माँ से बतियाने का स्वर्णिम अवसर खो गया और वे बीते क्षण अब जीवन में कभी भी नहीं आएँगे। वे निकल गए तो निकल ही गए।

इतना मैं सोच ही रहा था कि रात्रि की चर्चा स्मरण हो आई और यह समाधान उभरा कि कोई बात नहीं, अगले कल्प में यह दिन फिर आएगा ही, यही मेरी माँ होंगी। ऐसे ही पाठशाला की छुट्टी होगी, यही क्षण फिर आएगा। तब अगर रूठा-रूठी नहीं की तो इस खोए हुए सुख का लाभ फिर मिल जाएगा। माँ से फिर लड़ियाव-बतियाव हो जाएगा। परंतु हाय रे! हाय! इतना सोचते यह भी ध्यान में आ

गया कि अगले कल्प में तो आज जैसा ही घटित होगा। अर्थात् उस कल्प में भी रूठने की गलती मैं करूँगा। आज चाहे जैसा दृढ़ निश्चय मैं करूँ, घटेगा तो वही जो आज घटित हुआ, क्योंकि हर पिछले कल्प का प्रतिरूप या छायारूप ही अगला कल्प होता है। यह स्पष्ट है कि उस दिन माँ के मधुर शब्दों से जो मैं वंचित हुआ, वह हुआ। ऐसे उलट-पुलट विचार बिजली की तरह आए-गए। पर जब उसकी सुध आती है, तब मन उदास हो ही जाता है।

मेरा यज्ञोपवीत संस्कार कब हुआ, कैसे हुआ, इसकी कोई सुध मुझे नहीं है, पर माँ की एक सुध अवश्य है। उसका होनेवाला बच्चा पेट में आड़ा हो गया था। रात भर सारे बेचैन थे, मेरे पिता की आँखों में आँसू थे, वे इधर-उधर चक्कर काट रहे थे, रात-ही-रात नासिक से डॉक्टर लाया गया, उसके प्रयास सफल रहे। माँ ने सकुशल प्रसव किया। सब लोग इतने प्रसन्न हुए कि बच्चा मरने का दुःख किसीको हुआ ही नहीं। उस अवधि की एक-दो बातें मेरे बड़े भैया ने मुझे कही थीं। वे बातें बड़े भैया से ही जुड़ी थीं। मेरे पिता अपने बड़े बेटे को अंग्रेजी पढ़ाते, शब्द के अर्थ, स्पेलिंग पूछते, बड़े भैया को आते ही नहीं थे। फिर पिता का आदेश होता—आँगन की पूरी लंबाई में घूमते हुए कान पकड़े उस शब्द का घोंटा लगाओ। बड़े भैया बेचारे पूरी ईमानदारी से वैसा ही करते। परंतु मुझे बड़ा बुरा लगता। मैं यह समझ नहीं पाता कि शब्द घोंटने के लिए कान पकड़ना और चक्कर काटना क्यों जरूरी है? आँगन में तुलसीचौरा था। मैं बड़े भैया को उसके पीछे बैठकर शब्द घोंटने को कहता और स्वयं पहरा देता। पिताजी के आते ही मैं उनको संकेत करता। वे तुलसीचौरे के पीछे से निकलकर कान पकड़े घूमने लगते।

अपने बड़े भैया, जिन्हें हम सब 'बाबा' कहते थे, को इस कानपकड़ी से बचाने के मेरे प्रयास की भरपाई उन्होंने की, पर उससे मेरे प्राण संकट में पड़ गए थे। मेरे पिताजी अनुशासनप्रिय थे। अतः अनुशासन के लिए वे कभी-कभी पिटाई भी कर देते थे। पर मेरे संबंध में उनपर यह प्रत्यक्ष आरोप घर में लगाया जाता कि उनका गुस्सा पक्षपातपूर्ण है। एक बार कुछ ऐसा हुआ कि मुझे दो-चार थप्पड़ लगाने की प्रतिज्ञा उन्होंने की और वे मेरे पीछे पड़ गए। मैं छिपने के लिए अँधेरे कमरे की ओर भागा। बाबा भी वहीं थे, मेरी सहायता करने के लिए वे मेरे पीछे आए। उस कमरे में तिजोरी थी और वह भी खुली हुई। बाबा ने उसे देखते ही मुझे उसमें घुस जाने को कहा—मैं गुडी-मुडी होकर उसमें बैठ गया और बाबा ने तिजोरी बंद कर दी। पिताजी ने कुछ इधर-उधर मुझे खोजा और 'बदमाश कहीं छिप गया' ऐसा बड़बड़ाते वे अपने काम से चले गए। पिताजी के जाते ही बाबा ने तिजोरी खोली, मैं अर्ध बेहोशी में था। बाबा ने घबराकर हल्ला-गुल्ला किया। माँ और दूसरे लोग आए, मुँह

पर पानी के छींटे आदि देकर मुझे होश में लाया गया।

माँ की मृत्यु

सन् १८९२ में हमारे गाँव में बड़ी महामारी फैली। इधर-उधर करते उसने मेरी माँ को धर दबोचा। तब माँ की आयु कोई बत्तीस-तैंतीस वर्ष की होगी। वह एकदम तरुण दिखती थी, यद्यपि चार बच्चों की माँ थी। धन तथा संतति संपन्नता, अत्यधिक प्रेम करनेवाला पति उसे प्राप्त थे, पर नियंता से वह देखा नहीं गया और वह महामारी का शिकार हो गई। वह दिन मुझे स्पष्ट स्मरण है। सुबह से ही उसे दस्त होने लगे, पर उस दिन घर में श्राद्ध या ऐसा ही कुछ कार्य था। इसलिए बड़े धैर्य से उसने रसोई बनाई। फिर दस्त हुआ। नहाकर वह फिर परोसने लगी। तब तक किसीको भी उसकी भनक नहीं थी, पर पंगत वह परोस न पाई। उसे चक्कर आने लगे, वह पुराने घर के देवगृह में आकर पसर गई। फिर वह उठी ही नहीं। पंगत-अंगत धरी रह गई। अण्णा (मेरे पिता) उसे देवगृह से उठाकर बीच के कमरे में ले आए। मामा और नानी के लिए हमारे ननिहाल को तार दिया गया। उपचार शुरू हो गए, पर कोई लाभ न हुआ। शक संवत् १८१४ आषाढ़ शुक्ल प्रतिपदा के दिन उसकी नाड़ी क्षीण होने लगी। हम बच्चों को बड़े-बूढ़ों ने एक-एक करके उसके अंतिम दर्शन कराए। मेरा छोटा भाई बाल पाँच-एक वर्ष का बालक था। क्षीण चैतन्य अवस्था में बाल को देखकर उसकी आँखों से अश्रुधारा बह निकली। उस बच्चे को सँभालने की बात उसने संकेत से कही। बाल माँ-चिपकू था, अब कैसे रहेगा? यह प्रश्न था। तुलसी दल और पूजा की कुप्पी में गंगाजल रखा हुआ था। पिता ने वह दोनों उसके मुख में डाला और वह सुवासिनी साध्वी परलोक सिधार गई। मेरे पिता उस मृत देह के पास बैठे फूट-फूटकर रोए। मेरे पिता और ताऊ के बीच भयंकर वैर था, परंतु मेरी माँ से वैर करे, ऐसा पत्थर-दिल कोई नहीं था। बापू काका ने हम बच्चों को पेट से लगा लिया। राधा, तूने यह क्या किया, अब इन बच्चों का क्या होगा? कैसे होगा? हमारे घर की लक्ष्मी हमें क्यों छोड़ गई? वे रोते-रोते कहते जा रहे थे। पूरा घर शोकग्रस्त हो गया। दोपहर दो बजे दहन-क्रिया समाप्त कर लोग-बाग घर लौट आए, पर माँ नहीं लौटी।

इन घटनाओं की स्पष्ट स्मृति मुझे है। इसके साथ ही मानव-स्वभाव की विचित्रता को दर्शानेवाली एक अन्य सुधि भी है। दाह-क्रिया आदि निपटाकर लोग-बाग लौटे तो भोजन की व्यवस्था राधा काकू ने की। ये हमारे ही संबंध की महिला थीं। मुझे खूब भूख लगी थी और भोजन में रसदार आलू बने थे। वह सब्जी मुझे उस दिन इतनी अच्छी लगी कि वैसी मधुर सब्जी जीवन में फिर कभी चखी हो, ऐसा

स्मरण नहीं है।

माँ के पीछे हम तीन भाई और मेरे बाद की एक बहन—ये चार संतानें थीं। माँ की मृत्यु के बाद मेरे पिता को वह घर काटने जैसा लगने लगा। माँ के लिए ही एक तीनमंजिला मकान पिताजी बनवा रहे थे। उसे तुरत-फुरत पूरा करवाकर पिताजी हम बच्चों को लेकर उस नए घर में चले गए। पुराने घर में हमारे ताऊ अकेले ही रहने लगे। वे साठ के आसपास थे, पर अपना भोजन स्वयं बनाते थे। इधर नए घर में चालीस-बयालीस के मेरे पिताजी खेती, किसानी, साहूकारी, लेन-देन, मुकदमे, झगड़े सँभालते हुए हम बच्चों की देखभाल, रसोई-व्यवस्था आदि देखते। पिताजी के मित्रगण दूसरा विवाह करने के लिए उनपर जोर डालते। उस काल में तो ऐसे विवाह होते ही थे, परंतु हमपर उनका जो अतिशय स्नेह, ममता थी, उस कारण उन्होंने वह विचार मन में आने ही नहीं दिया। बाहर के सारे कामकाज के साथ वे हमारा लालन-पालन माँ से भी अधिक ममता से करते रहे।

वे लोरी गाकर हमें सुलाते, थपकियाँ देकर उठाते, नहलाते, कपड़े पहनाते, रसोई बनाते। बाद में मैं और बड़े भैया भी रसोई आदि में उनका हाथ बँटाते। कामकाज के लिए नौकर-चाकर थे, पर बच्चों के जो काम माँ ही करती हैं, वे सारे काम वे स्वयं ही करते थे ताकि बच्चे माँ की ममता से वंचित न रहें। रात में सोने के पहले अपने सोए हुए बच्चों के सिर-गाल पर हाथ फेरने से उनका न चूकना माँ के न होने की वंचना से हमें मुक्त कर सका। बड़े भैया पिताजी के साथ रसोई बनाते-बनाते उसके विशेषज्ञ बन गए, परंतु मैं उस समय से लेकर आज तक रसोईशास्त्र में विफल ही रहा।

माँ की मृत्यु के बाद छोटे भाई का यज्ञोपवीत हुआ। ऐसे अवसरों पर मेरी नानी, मामी और मामा अवश्य हमारे गाँव आते थे। बड़े भैया सत्रह के हो गए तो उनका विवाह पिताजी ने कर दिया। कन्या त्र्यंबकेश्वर निवासी नानाराव फड़के की भतीजी थी। वह हमारी येसू भाभी बनी। मेरे ही वय की। स्वभाव की इतनी ममतामयी कि हमारे लिए भगिनी ही हो गई। उसकी स्मरणशक्ति अति की हद तक थी, उस छोटे वय में भी उसे पचास-साठ गीत याद थे। गाना भी मधुर। मराठी में रचा प्राचीन और काफी लंबा गजगौरी गीत उसे कंठस्थ था। उस गजगौरी गीत में अद्भुत कथाओं को भी पिरोया गया था। जब वह अपनी पल्लेदार आवाज में उस अद्भुत और रम्य गीत को गाती तो बस, हम मंत्रमुग्ध हो से जाते। वह सोया देख हमें चिकोटी काटकर उठाती। आज भी यदि कोई परलोक विद्या की शक्ति मेरे हाथ आ जाए तो मैं उस भाभी को जिलाऊँ और उसके जीते ही मैं उससे कहूँ कि वह गजगौरी पुनः एक बार गाओ न, वहिनी! वह गजगौरी गीत मैं जिद करके अपनी

नानी से भी सुनता था।

मेरे बड़े भैया को अंग्रेजी पढ़ने के लिए नासिक में रखा गया। अण्णा (मेरे पिता) भी कचहरी आदि के काम से नासिक जाते-आते रहते थे। तब भाभी ही हम बच्चों की अभिभावक रहती। मैं उसे और अपनी छोटी बहन को लिखना-पढ़ना सिखाने का प्रयास करता। मैं कविता लिखने लग गया था। भाभी से भी कविता सीखने का आग्रह करता। मेरे आग्रह के कारण वह भी शब्दों की जोड़-तोड़ करने लग गई थी।

समय ने पलटा खाया और येसू बहिनी के पति और मैं, उसका देवर, दोनों को ही काले पानी की सजा हुई। येसू बहिनी पर तिहरी मार पड़ने लगी। एक तरफ सरकारी आतंक था, दूसरी ओर वियोग और तीसरी स्वयं की बीमारी। मृत्यु-शय्या पर वह पड़ गई। ऐसे में मेरे मित्र उससे आग्रह करते रहे कि मेरे चरित्र के एक भाग के रूप में मेरे बारे में वह कुछ लिखे, जिसे अनुकूल समय आने पर छपवाया जा सके। मेरे प्रति उसका अकृत्रिम स्नेह था। अत: उस आग्रह को वह ऐसी जानलेवा परिस्थिति में भी टाल नहीं सकती थी। उसने वे सारी स्मृतियाँ लिखीं। उसमें से उसके द्वारा लिखे हुए कुछ प्रसंग मैं यहाँ ज्यों-का-त्यों उद्धृत कर रहा हूँ। कितनी स्नेहसिक्त सुधियाँ हैं, ये पाठक स्वयं ही देख लें—

'अपने देवरजी को मैंने उनके वय के ग्यारहवें वर्ष के आसपास सबसे पहले देखा। मेरे विवाह में मेरी और उनकी पहचान कैसे हुई, यह बताती हूँ। सुनो! विवाह के पूर्व का समय था। मैं गौरी पर अक्षत चढ़ाने बैठी थी। इतने में ये दो लड़के (मेरे दोनों देवर) आकर विवाहवाले घर के दरवाजे पर खड़े हो गए और उन्होंने पूछा—फड़के का घर यही है क्या? हमारी भाभी कहाँ हैं? ये शब्द सुनते ही मेरी मौसी उनसे पूछती है कि तुम कौन हो और तुम्हारे नाम क्या हैं? नाम क्या हैं, ऐसा पूछते ही मेरे ये देवरजी कहते हैं, ये मेरा छोटा भाई, इसका नाम नारायण दामोदर सावरकर, मेरा नाम विनायक दामोदर सावरकर और हमारे बड़े भैया जिनका आज विवाह है, उनका नाम है गणेश दामोदर सावरकर। सभी ने यह सुना, मेरी माँ और मौसी धन्य-धन्य हो गईं और बोलीं, 'कितने सयाने, बुद्धिमान और स्पष्टवक्ता हैं ये हमारी येसू के देवर।' यह सब मैं बड़े उल्लास से सुन रही थी। मुझे लगा कि मैं उनकी वह स्नेहिल, सुकुमार एवं कोमल मूर्तियाँ देखती ही रहूँ। प्रेम क्या होता है और उसका आनंद क्या होता है, मुझे उस दिन उसकी समझ आई। इतनी बातें होते-होते हमारे देवरजी बोले, 'क्यों जी, विवाह कहाँ होगा? हमारी भाभी किस ओर खड़ी होंगी? मुझे उनके पास खड़े होकर सबकुछ देखना है।'

'मेरी मौसी ने उनसे कहा, 'ऐसे बैठो! इधर ही तुम्हारी भाभी खड़ी रहेगी।'

मुझे यह सुनकर बड़ा अच्छा लगा। देवरजी वहीं मेरे पास ही बैठे। हम वधू-वर जो-जो विधि करते रहे, वे एकटक देखते रहे। चार दिन तक वे बरात के साथ नहीं रहे। पंगतों में जब कभी नवविवाहित भोजन करते, तब वे भाई को आग्रह करते कि भाभी के मुँह में कौर दें। मुझे भी कहते कि भाई के मुँह में कौर दें। पंगतों में दक्षिणा दी जाती, तब वे भाभी को भी दक्षिणा देने का आग्रह दान-दाता से करते, पर मेरी थाली के सामने रखा गया सिक्का तुरंत उठा लेते। कोई पूछता तो कहते, 'वाह! भाभी तो हमारी है।'

'विदा होने के समय मेरी माँ मुझे समझाते हुए कह रही थी, 'दो-चार दिन में ही लौटा ले आएँगे।' देवरजी ने यह सुन लिया और मेरी माँ से बड़प्पन से कहा— 'माँजी, आप चिंता न करो। भाभी की आँखें गीली हैं। उसका औषध उपचार कर हम ठीक कर देंगे।'

'रात में बैलगाड़ियाँ चल दीं। मुकाम पर पहुँचते-पहुँचते दिन निकल जाता। रास्ते में एक स्थान पर सूर्योदय हुआ। उसे देख देवरजी ने कहा, 'कितना सुहाना समय है यह! सूर्य की कोमल किरणें आँखों और मन को कितना आनंद दे रही हैं। पर दुःख इस बात का है कि आँख आने के कारण तुम ये सब देख नहीं सकती। देखो, सूर्यादय होते ही मोर कैसे नाच रहे हैं, मृगों की टोली कैसे दौड़ रही है! पर तुम आँखें बंद किए बैठी हो। मैं पानी लाता हूँ, तुम आँखें धो लो।' वे पानी ले आए। मैंने आँखें धोईं। खोली भगूर में आ जाने पर मेरी आँखों को अफीम के गरम पानी से सेंकने के लिए वे मुझे बार-बार कहते, सारी सामग्री मुझे लाकर देते। अपनी गोद में मेरा सिर लेकर स्वयं ही मेरी आँखें उन्होंने सेंकीं भी। घर आने पर पूजन हुआ, मेरा नाम सरस्वती रखा गया। देवरजी ने सबको मिश्री की डली देते हुए मेरे नए नाम का विज्ञापन किया। दो-तीन दिन बाद विवाह धूमधाम से समाप्त हुआ, देवरजी भी अपने कामकाज में लग गए।

'प्रातः उठते ही नहा-धोकर वे पाठशाला जाते। जाते-जाते सबको उनके काम बताते जाते। दस बजे मराठी पाठशाला की छुट्टी होते ही जिस किसीको दवा-दारू देना हो, वे स्वयं ही देते। भोजन के बाद हम कुछ खेल रहे होते तो हमारे संग आकर वे भी खेलते। दो बजे फिर पाठशाला जाते। ढाई-तीन बजे पानी पीने की छुट्टी में वे घर आते। तब हम सब एक थाली में परोसा दाना-दूना चुगते। उस समय उन्हें बहुत मजाक सूझता। हमारे हिस्से का दाना-दूना छिपाते। उनके भी विवाह की बातें तब चल पड़ी थीं। जिस लड़की से रिश्ता होना था उसका नाम लेकर या उसे मोटी, काली-कलूटी कहकर हम भी उन्हें चिढ़ाते। वे हमारा झोंटा पकड़ ऊपर उठाते और कसमें खाने के बाद ही छोड़ते। फिर उन्हें पाठशाला जाना होता था। पाँच

बजे लौट आते। तब तक उनके संगी-साथी घर के द्वार पर खड़े मिलते। खेलकर आने के बाद भोजन और शय्या, ऐसा उनका कार्यक्रम रहता।

'फिर हलदी-कुंकुम लाया गया। एक गौरी बनाकर उसके आगे दीपक जलाया गया, उसे गजरे से सजाया गया, लेकिन वस्त्र क्या पहनाएँ? इसपर विचार हुआ, बातचीत होती रही। इसी बीच मेरे देवरजी ने स्वयं एक रंगोली बनाई और मुझसे कहा, 'कितनी शानदार रंगोली है! तुम्हें क्या आता है?' मैंने कहा, 'ठीक है! तुम्हारी रंगोली का नाम क्या है?' उन्होंने हँसी करते हुए जवाब दिया, 'टूटा भांडा।' इस पर सब हँस पड़े। फिर उन्होंने कागज की कतरनों की सजावट की। पास-पड़ोस की महिलाओं ने आकर नए लग्न का नामोच्चार किया और जाते समय मुझसे बोलीं, 'इतनी सुंदर कला तुमने कहाँ सीखी?' अब वसंत पूजा होनी थी। देवरजी द्वारा इस संबंध में पूछे जाने पर मामी ने बताया कि उन्होंने पूजा के समय ही गुलाल, हलदी, कुंकुम, नैवेद्य आदि सजाने की कला सीखी। यह सुनकर देवरजी मुझसे बोले, 'तुम भी यह कला सीख लो।' और सारी वस्तुएँ देते हुए नए-नए ढंग से उन्हें सजाने के लिए कहा।

'ग्यारह वर्ष के थे, पर पुस्तकों पर जैसे टूटे पड़ते थे। हमारा गाँव जैसे कुग्राम ही था, पर चार-पाँच समाचारपत्र आते थे। हर किसीसे समाचारपत्र ले आना, पढ़कर लौटा आना। वैसे ही पुस्तकों का; कहीं पुस्तक दिख जाए तो उसे उनको पढ़ना ही था। एक दिन क्या हुआ—भोजन किया, कुरता पहना और पड़ोसी के यहाँ घड़ी देखने चले गए। वहाँ सारे लोग उन्हें देखकर हँसने लगे, क्योंकि कुरते के नीचे केवल लँगोटी पहन रखी थी। चड्डी पहनना ही भूल गए थे। फिर कोई बहाना ठोंका और चले आए। मुझे ही डाटने लगे कि बताया क्यों नहीं।

'मायके जाकर जब मैं दूसरी बार लौटी तब मंगला गौरी का पूजन था। हम भोजन कर रहे थे। उस दिन हम महिलाएँ भोजन करते समय बोलती नहीं हैं। बहुत सारी लड़कियाँ थीं—सारी नवविवाहिता। ये पंगत परोसने आए। किसको क्या चाहिए, लड़कियाँ संकेत से या फिर अँगुली से भूमि पर लिखकर बतातीं। मुझे लिखना आता ही नहीं है, यह बात उन्हें उस दिन ज्ञात हो गई। भोजन के बाद उन्होंने पूछा, तुम्हें लिखना-पढ़ना नहीं आता? तुम्हें किसीने सिखाया नहीं? अब मैं पढ़ाऊँगा।

'एक-दूसरे को हम देवर-भाभी कहते, पर रिश्ता सगे भाई-बहन जैसा था। सारे खेल-खिलवाड़ में यही भाव रहता। इससे उस वय में हममें बड़ी उन्मुक्तता थी। तीसरी बार दीवाली बाद जब मैं ससुराल लौटी, तब रसोई सँभालनी पड़ी। हमारे यहाँ एक पंडित रसोई बनाया करते थे, वे छुट्टी पर चले गए थे। मुझे रसोई का अनुभव नहीं था। पंडित था तो मैंने उस ओर झाँका भी नहीं था। देवरजी ने मुझे

रसोई बनाना सिखाया। मेहमान भी आते तो हम दोनों मिलकर रसोई बना लेते। मुझे लिखना-पढ़ना नहीं आता, यह बात उन्हें खलती रहती। बार-बार वे मुझे उसके लिए कहते। मेरी आँखें कमजोर थीं। ससुरजी उनसे कहते, क्यों उसे परेशान करते हो? उसकी आँखें ठीक होने दो पहले।

'चौथी बार मैं ससुराल लौटी। देवरजी बारह वर्ष के हो गए थे। सारे कामकाज समय बाँधकर करने लगे थे। बड़े देवीभक्त थे। उसकी पूजा, ध्यान बड़े एकाग्र हो करते। पूजाघर में कोई आया-गया, उनको पता न पड़ता। किशोर वय में इतनी एकाग्रता मैंने कहीं और देखी-सुनी नहीं। पूजा-ध्यान के बाद भोजन करते। फिर अध्ययन के लिए बैठते। जहाँ बैठते, वहाँ माँ काली का एक चित्र लगा था। बार-बार उसे देखते।

'अध्ययन करते-करते थक जाते तो हमारे बीच आ टपकते। मैं अपनी छोटी ननद के साथ चूल्हे-चक्की का या ऐसा ही कोई खेल खेलती होती। वे दो-चार दाँव खेलते, फिर पुस्तकों में खो जाते। कभी दर्पण ले लेते, तरह-तरह की मुखमुद्रा बनाते। कहते, 'ऐसा होता तो' या और मुँह बिगाड़कर 'ऐसा होता तो तुम मुझे धकिया देतीं।' हम कहते, 'नहीं, तब भी नहीं और अब भी नहीं। तुम हमारे प्यारे सलोने देवरजी जो हो।' फिर सब पेट पकड़-पकड़कर हँसते। शौचालय में समाचारपत्र ले जाते, लौटते तो कुत्ते-बिल्ली की आवाज निकालते। पिछवाड़े कछवाई थी, वहाँ बकरियाँ घुस आती थीं, वैसी आवाज निकालते। मैं भगाने दौड़ती तो ये खिलखिला पड़ते। कभी-कभी हम उन्हें बहुत चिढ़ाते, वे हमें पकड़ एक छोटे आले में हमारी मुंडियाँ घुसेड़ देते।

'आप हँसोगे तो हँसो, पर मैं लिखूँगी, उनके अपने अल्हड़पन, उन्मुक्त भाव के खेल-खिलवाड़। हमारे यहाँ एक बड़ा झूला था। हम सारे बच्चों की धमाचौकड़ी उसके इर्दगिर्द चलती। रविवार तो बस! घर सिर पर उठा लेने का दिन। वे झूले पर चढ़कर गीत गाते। उनका एक गीत खास था। उसमें पेशवाई के समय का वर्णन था।

'मेरे एक देवर, ननद बहुत छोटे थे। मेरे समवयस्क। फिर भी समझ और बुद्धि से बड़े। कभी-कभी रुष्ट हो जाते। बोलते नहीं। यह चुप्पी मुझे सहन न होती। मैं क्षमा-याचना करती और बड़ी उदारता से सब भूल-भालकर हम फिर हँसने-बोलने लगते।

'उस समय वे 'पेशवा की बरवर' नामक पुस्तक का वाचन कर रहे थे। उस पुस्तक में सवाई माधवराव का एक चित्र था। उस चित्र को उन्होंने अलग कागज पर चित्रित किया। हम सबको दिखाया, मुझे बहुत अच्छा लगा। सवाई माधवराव पर एक होली-गीत लिखा। हम सबको लिखवाया। घर में ही टँगे बड़े

झूले पर बैठ हम उसे गाते। एक दिन उसी झूले से धड़ाम से गिरे और नीचे लेट गए। आँखें आड़ी-टेढ़ी कर लीं, जीभ बाहर निकाल बुलाने लगे—'ओ भाभी, रे बहना, मैं मरा।' मेरी ननद घबरा गई। मैंने कहा, मजाक कर रहे हैं, घबराने की बात नहीं है तो एकदम बोल पड़े, हाँ-हाँ, किसीके प्राण निकल रहे हैं, फिर भी भाभी के लिए मजाक। बहन-बहन है, भाभी-भाभी; पराई। बहन जैसी अपनी कैसे हो सकती है? मुझे बहुत बुरा लगा। रुलाई फूट पड़ी मेरी। तब उलट गए—अरे, तुम भी कैसी? बहन तो चार दिन बाद ससुराल चली जाएगी। हमेशा तो तुम ही रहोगी और मैं क्या तुम्हें पहचानता नहीं। यह तो मजाक था और तुमने खूब पहचाना। ऐसे बात पलट दी।

'कुछ समय बाद छोटे देवरजी, जिन्हें सब 'बाल' कहते थे, का जनेऊ हुआ और तुरंत की ननद का विवाह। मेरे मायके के गाँव त्र्यंबकेश्वर का ही लड़का था। विवाह भी वहीं होना था। हम सब त्र्यंबकेश्वर गए। मेरे मायके में ही डेरा पड़ा। ये, देवरजी और मैं लौटनेवाले थे, पर हम सब गंगाद्वार देखने गए। ऊँची पहाड़ी पर। देवरजी वहाँ बाल-बाल बचे। उतरते समय सीढ़ियों से न उतरकर सीढ़ियों के कठड़े (रेलिंग) के बाहरी छोर पर से उतरने की होड़ लगी। पचास-एक सीढ़ियाँ उतरे और पैर चूक गया, गिर गए। गिरते-गिरते चिल्लाए, 'भद्रकाली!' 'भद्रकाली' का घोष सुनते ही इधर-उधर से भागे-दौड़े लोग आए। सिर में दो जगह घाव हो गए। रक्त की धार बहने लगी थी। वहाँ एक साधु की कुटिया थी, वहीं जाकर उपचार किया। सिर बाँधने के लिए पट्टी चाहिए थी। त्र्यंबकेश्वर के प्रभारी (प्रबंधक) जोगलेकर वहाँ थे। जरी काम का दुपट्टा ओढ़ा करते थे। तुरंत उन्होंने उसे फाड़ा, लंबी पट्टी निकाली, घाव बाँधे। चार-आठ दिन वहाँ रहकर हम सब 'भगूर' आ गए।

'मई माह बीता। जून से अगली पढ़ाई के लिए देवरजी को नासिक जाना था। मराठी कक्षा पाँच तक वे भगूर में ही पढ़े थे। अगली दो कक्षाओं की पढ़ाई भी उन्होंने वैसे घर पर कर ली थी। नासिक में उन्हें अंग्रेजी की कक्षा तीन में शिवाजी स्कूल में प्रवेश मिला। वहाँ चार महीने बाद ही चौथी कक्षा में चले गए। गणपति उत्सव के दिनों में भगूर लौटे। पिछले दो वर्ष से वे भगूर में गणपति-स्थापना करते रहे थे। साथियों को जमा करते, नए-पुराने गीत उन्हें सिखलाते, स्वाँग करवाते! मराठी में इसे 'मेला करना' कहते हैं। इस वर्ष स्वयं सात-आठ गीत रचे। आयोजन भी बड़ा किया। ससुरजी न रहते तो घर के मूल्यवान कपड़े आदि देकर उन्हें मालदार, चोबदार आदि बनाकर राजदरबार सजाते।

'इनके रचे गीतों में आर्यभूमि के उद्धार की बात अवश्य पिरोई रहती। मराठी

में एक प्रकार का गीत 'फटका' कहलाता है। फटका माने फटकार। जो चेतते नहीं, उनके लिए। देवरजी ने एक ऐसा स्वदेशी का फटका रचा था जो बहुत लोकप्रिय था। गणपति उत्सव की तो जान ही था वह फटका।

'यहाँ मुझे कुछ और भी दिलचस्प बातें स्मरण हो रही हैं। क्रम में तो वे नहीं हैं, आगे-पीछे हो गई हैं, पर अब मैं उन्हें यहीं लिखे दे रही हूँ। कोई जो आगे जाँचेगा, वह ठीक कर लेगा। घर में कभी कोई कारज होता तो बहुत लोग जमा होते। महिलाओं की पंगत बैठती तो तात्या (देवरजी को हम सब तात्या कहने लग गए थे) बाहर जाकर आवाज देते—ॐ भवति भिक्षां देहि। (महाराष्ट्र में भिक्षावृत्ति कर अपनी शिक्षा पूरी करनेवाले छात्र इस तरह की आवाज घर के दरवाजे से देकर भिक्षा प्राप्त करते थे और ऐसे छात्र को 'माधुकरी' कहा जाता था।) इस आवाज से गृहिणी असमंजस में पड़ जाती। सोचती, क्या कोई माधुकरी सच में ही आया है। बाद में मालूम हो गया था, पर एक बार फिर ऐसा ही खिलवाड़ उन्होंने किया तो मेरी ममिया सास ने कहा, 'उसे सच में ही रोटी परोस दो' किसीने उनको रोटी परोस दी तो उन्होंने बड़े-बूढ़ों से शिकायत की—देखो, मुझे माधुकरी कहकर रोटी परोसती हैं। परंतु सारा नाटक सबको ज्ञात था, इसलिए बात हँसी में चली गई।

'वैसे ही गजगौरी गीत का एक किस्सा है। मेरे द्वारा गाया गया यह गीत उन्हें बड़ा प्रिय था। उन्होंने एक दिन आग्रह किया और मैंने उसे गाया। गीत सुनते-सुनते उन्होंने अपनी धोती का पल्लू निकालकर सिर पर लिया और मेरे साथ सुर मिलाया। सभी लोग मजे ले रहे थे। इतने में वे बोले, मेरी गोद भी भरी जाएगी या नहीं। महिलाओं ने कहा, हाँ, भर दो उसकी गोद। फिर क्या था, मेरी ननद ने उनको कुंकुम का टीका किया और चावल-नारियल से उनकी गोद भरी।

'उन्होंने बात बनाकर अपने पिता से कहा, इन सब महिलाओं ने जबरन मेरा टीका किया और गोद भरी। ससुरजी को तात्या की ये चुहलबाजी ज्ञात न थी, इसलिए उन्होंने हमें डाँटा, 'ऐसा ऊधम क्यों करती हो तुम सब उससे।' ससुरजी इतना कहकर गए और तात्या ताली पीट-पीटकर कहने लगे, 'देखो, कैसे बाजी उलट दी, अब आया न मजा!' किसीको इसका बुरा-भला न लगता। उनकी मधुर वाणी और चुहल को सभी चाहते थे।

'कभी-कभी दोनों भाइयों में बात बढ़ जाती। मेरे पति अपने छोटे भाई को मारने दौड़ते तो देवरजी मेरी आड़ में छिप जाते और कहते, ये मेरा सुदृढ़ दुर्ग है। यहाँ आकर मुझे पकड़ने का साहस किसीमें नहीं है। एक बार मेरे पति छोटे भाई के ऐसे व्यवहार पर चिढ़ गए और उन्हें प्याज फेंककर मारने लगे। प्याज के वार से बचने के लिए तात्या चिल्लाए, 'देखो-देखो, बड़े भैया प्याज फेंक-फेंककर भाभी

को मार रहे हैं।' अब तो मेरे पति को चुपचाप बाहर जाना ही था (क्योंकि सौ वर्ष पुराने उस जमाने में पति अपनी पत्नी से खुले में बोल भी नहीं सकता था, छूना आदि तो बहुत दूर था।)

'बकरियाँ घर-आँगन में घुस आतीं, तो देवरजी उनको पकड़ते। मुझे दरवाजा बंद करने को कहते। मैं चूक जाती या डर जाती तो तितलियाँ मुट्ठी में पकड़कर ले आते, मुझे फेंककर मारते। तितलियों से मुझे तब बहुत डर लगता था।

'इसी समय उन्होंने देसी कपड़े पर एक फटका लिखा। नासिक में होनेवाली किसी सभा का समाचार मिलते ही वहाँ जाते। पुस्तकालय उनका प्रिय स्थान था। पढ़ाई में तेज थे ही। पुस्तकों से उनका लगाव बचपन से ही था और ये बात बड़े-बड़ों को आश्चर्य में डालती थी। नासिक के उस समय के बड़े नेता बलवंत खंडोजी पारख थे। वे प्रख्यात कवि भी थे। उन्हें तात्या की फुरती और कविता देख-सुन बड़ा आनंद आता था। वे उन्हें सभा-सम्मेलनों में बुलाकर ले जाते। परिचय करा देते, यहाँ-वहाँ कहते—देखो, क्या प्रतिभाशाली लड़का है! पारख ने तो इनके पिता को यह कहा था, 'देखो, इस बच्चे को बचाओ, इसको नजर लग सकती है।' और सच में ही उन्हें जैसे नजर लग गई। नासिक से पत्र आया, तात्या को ज्वर है, उसे ले जाइए। मेरे ससुरजी गए और उन्हें ले आए। नजर आदि पर उनका बड़ा विश्वास था। उन्होंने नजर उतारने के विविध उपाय किए। पर जल्द कोई लाभ नहीं हुआ। ज्वर में खूब बातें करते—विद्यालय की, राजनीतिक सभा-सम्मेलनों की। तीन हफ्ते बाद ज्वर कम हुआ। फिर घर में ही अध्ययन करते रहे। बाद में नासिक गए। ये सारी बातें उनके चौदहवें वर्ष की है। पढ़ने के साथ लिखना भी उनका चलता रहता। उन्होंने 'सार संग्रह' नाम की एक पुस्तक बना रखी थी। उसमें वे पुस्तकों में पढ़ी उपयोगी जानकारी अपने शब्दों में उतारते थे। नासिक में दोनों भाई अपने हाथ से रसोई बनाते थे। भोजनालय अच्छे नहीं थे, फिर भी बाद में भोजनालयों में जाने लगे। छुट्टी में भगूर आए थे। फिर उन्हें चेचक निकली। पिता ने पुत्र की सेवा-टहल की। फलतः वह संकट जल्दी ही निपट गया। शरीर पर कहीं कोई व्रण भी नहीं रहा।'

भाभी द्वारा लिखे मेरे चरित्र को यहीं छोड़ अपनी बात अब आगे बढ़ाएँ।

मेरे बालसखा

मेरी माँ का देहावसान, उसके बाद नए घर में हमारा प्रवेश अर्थात् दस वर्ष की आयु तक मेरे संगी-साथी कौन थे, इसकी कुछ स्पष्ट सुध मुझे नहीं है। पर इसके बाद मेरे साथ एक संगठित मित्रमंडल रहने लगा, इसका मुझे स्मरण है। वे

राजू दरजीके पुत्र परशुराम दरजी और राजाराम दरजी थे। इन दोनों का मुझसे घर जैसा संबंध था। वे सामान्य-कंगाल स्थिति में थे, परंतु उन्हें मेरे घर की सुस्थिति का कोई लोभ नहीं था। उन दोनों ने आवश्यकतानुसार हमारे घर की सेवा अपने घर से अधिक की। निराकांक्षी स्नेह के प्रतीक उन दोनों को मेरी मित्रता का अभिमान था। ये दोनों भाई हमारे घर खेलने आते। पिताजी जब-जब नासिक जाते, तब-तब रात में हमारे साथ सोने आते। कोई भी रुका काम निपटा देते। उनके भरोसे गहना-लत्ता छोड़ हम कहीं चले जाते। उनके पिता की एक नौटंकी थी। ये दोनों भी लावणी गाने में प्रवीण थे। परशुराम स्त्री-वेश में नचैया बनता था। इस क्षेत्र में वह प्रख्यात था। मेरी संगति में समाचारपत्र आदि पढ़ने का चाव उन्हें लगा और उनके मन-बुद्धि का विकास हुआ। मेरे लड़कपन के राष्ट्रीय आंदोलन और राजनीति में वे प्रमुखता से भाग लेते थे। उनकी नौटंकी के लिए मैंने उन्हें कुछ उपदेशपरक, राजनीतिक लावणियाँ और झगड़े रचकर दिए। मेरी ये रचनाएँ उन्होंने मंच पर उतारीं और मुझ बच्चे को शायर, कविराज आदि कह चलती नौटंकी में सम्मानित किया। तब उस छोटे से गाँव की उस छोटी सी राजसभा का वह बाल कवि (बच्चा शायर) फूलकर कुप्पा हो गया था।

जब मैं बीमार था, तब मेरे वे मित्र मेरी पूरी सेवा रात-दिन करते। हमारे घर पर संकट आए तो वे रो पड़ते थे। हमारा कुछ अच्छा हो तो वे खुश होते, बहुत खुश। मेरे घर में 'राजा और परशा' की इस जोड़ी का लाड़-प्यार बच्चों जैसा ही होता था। पिताजी गाँव से बाहर जाते तो खाने के लिए हम तीनों की पंगत ही बैठती। बचपन से ही मुझे जातिभेद के प्रति आक्रोश था। ये दरजी, मैं ब्राह्मण, यह कल्पना ही मुझे अपमानजनक लगती थी। मुझपर उनके परिवार का भी स्नेह बरसता था। उनकी माँ, भाभियाँ मेरे लिए ताजा भाकर (ज्वार-बाजरे की रोटी), उसपर लहसुन, लाल मिर्च की चटनी रखकर देती थीं और मैं उसे खाता था। उसमें उनका इतना स्नेह भरा होता कि मैं आज भी उसे स्मरण कर भाव-विह्वल हो उठता हूँ। आज सोचता हूँ कि ब्राह्मण जागीरदार का पुत्र उनके घर जीम लेता है, इसका उन्हें कितना अभिमान होता होगा। भगूर में मंगलवार बाजार का दिन होता। उस बाजार में इन दो भाइयों की बीड़ी, माचिस, मिट्टी के तेल की दुकान लगती थी। शाम को उन्हें माँ-बाप जेब-खर्च देते। वे उससे रेवड़ियाँ खरीदते और हमेशा पहली रेवड़ी मुझे ही मिलती। मुझे रेवड़ियाँ बहुत पसंद भी थीं और उन्हें खाते एक छंद हमेशा मेरे मुँह से निकल पड़ता था। भोजन प्रारंभ करने के पहले 'त्रिसुपर्ण' का गायन पिताजी की सीख के कारण मैं करता ही था, रेवड़ियाँ मुँह में रखने के पहले यह छंद उसी स्वभाव से निकलता था—

प्रभु पाते तुम नित्य प्रेम से बरफी-खोये का प्रसाद।
पाऊँ रेवड़ी मैं भी ऐसा दिन क्यों ना होवे एकाध॥

मेरी मित्रमंडली में बचपन से ही जो राजनीतिक तेज खेल रहा था, उसका अंश उनकी अपनी शक्ति के अनुसार उन दोनों लड़कों में भी प्रकाशित हुए बिना न रहा। बाद में नासिक में हम लोगों ने 'अभिनव भारत' संस्था स्थापित कर जो बवंडर खड़ा किया, इन दोनों ने भी अपने गाँव में स्वदेश की स्वतंत्रता का वैसा ही आंदोलन चलाने का प्रयास किया और यथाशक्ति कार्य करते रहे। मेरे कारावास की अवधि में परशुराम की मृत्यु हो गई। राजाराम अवश्य मुझे कारावास से लौटने पर मिला। बचपन में उनका मेरे और मेरे घर के प्रति निष्कपट प्रेम था। आगे वह मेरी कीर्ति और पराक्रम की अद्‌भुतता के कारण आदर-भाव में बदल गया। मैं जब कारावास से छूटकर आया, तब की भेंट में राजाराम ने एक पुराना चित्र मुझे दिखाया। वह वास्तव में दुर्लभ चित्र था। वह चित्र हाथ में लेकर मैंने कहा, 'राजाराम, तुम्हारी दी हुई यह भेंट अनुपम है, मैं इसे ले जाऊँगा।' तब वह बड़े करुणा भाव से बोला, 'यह आपका चित्र मैं आपको भी नहीं दूँगा। यह मेरे देवता का चित्र है। इसपर मैं नित्य सुगंधित फूल चढ़ाता हूँ। यह मैंने तब भी बड़े यत्न से छिपाए रखा था, जब 'अभिनव भारत' और सावरकर से जुड़े हर घर की तलाशियाँ ली जाती थीं, उनको मारा-पीटा और कोठरी में डाला जाता था। यह मैं आपको नहीं दे सकता।' बड़े प्रयास से उसे विश्वास दिलाया, उस चित्र की और प्रतियाँ निकलवाईं और वह उसके देवता का चित्र उसे लौटा दिया। इस प्रसंग के बाद यह मेरा भक्त मित्र अधिक जीवित नहीं रहा। उसका एक छोटा भाई जानकीदास राणूशेर दरजी अभी भी जीवित है और अपनी नाटक-नौटंकी कला में राजे-रजवाड़ों में ख्यात है।

मेरे बचपन का दूसरा दोस्त 'गोपाल' था। मेरी मित्रमंडली में यह मेरा सहकारी भी था। गाँव के पटवारी का यह पुत्र वय में मुझसे बड़ा था। मैं जब चौथी कक्षा में था, तब यह छठी कक्षा में था। उसका घराना योग्यता से संपन्न और परिस्थिति से विपन्न था। उसकी लिखावट बहुत सुंदर थी, इसलिए मैं अपनी कविताएँ बाहर प्रकाशनार्थ भेजने के लिए उसीसे लिखवाता था। परंतु उसे उसका पारिश्रमिक सौंपने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता था। उसे पढ़ने और ज्ञान प्राप्त करने की सहज लालसा थी। इसीलिए हम समाचारपत्रादि साथ-साथ पढ़ते थे। मेरे बचपन के राजनीतिक प्रयासों में मुझे उसका साथ मिलता था। जब मेरे राजनीतिक प्रयास 'अभिनव भारत' के रूप में विशद् हुए, तब भी मेरा यह बालसखा अभिनव बुद्धि, समर्पित देशभक्ति एवं एकनिष्ठ स्नेह का प्रतीक बना रहा। जब मैं

चाहता, मुझे वह साथ देता। अर्थात् राजकोप उसपर भी हुआ। उसके पिता का पटवारी पद छीना गया। घर में दरिद्रता वास करने लगी, पर वह हारा नहीं। कर्तव्यच्युत नहीं हुआ। सन् १९०६ के प्रथम प्रचंड आंदोलन में यदि किसी गाँव का नाम सर्वतोमुखी था, तो वह भगूर था और वह गोपाल के कारण। जब मैं काले पानी भेज दिया गया, तब भी गोपाल ने अपना कार्य चालू रखा और हरिभक्ति परायण गोपालराव आनंदराव देसाई के नाम से महाराष्ट्र में अपने क्षेत्र के एक जीवट कार्यकर्ता के रूप में ख्यात हुआ।

मेरा एक मौसेरा भाई वामन धोपावकर, बालू कुलकर्णी, रावजी और त्र्यंबक दरजी, भिकू बंजारी, बापू, नथू आदि लड़के भी मेरे बचपन के एकनिष्ठ अनुयायी थे। मेरे छोटे भाई का एक मित्र तो उस गाँव का 'हीरा' ही हो गया। वह अब सतारा का प्रसिद्ध डॉक्टर आठवले है। सतारा में 'अभिनव भारत' संस्था का कार्य चलाने के आरोप में डॉक्टर को कारावास का दंड भी मिला।

मेरी पढ़ाई, लिखाई, राजनीतिक आकांक्षा और उस हेतु किए गए सारे प्रयासों का बड़ा चिरस्थायी प्रभाव मेरे बालसखाओं पर पड़ा, अन्यथा वे उसी ग्राम-वातावरण में पड़े रहते। उनकी बुद्धि और शक्ति विकसित हो जाने के कारण उन्होंने पूर्ण सिद्धता अर्जित कर राष्ट्र-कार्य में सहयोग दिया और स्वयं भी यशस्वी हुए। माँ की मृत्यु के बाद राजनीतिक और धार्मिक संस्कारों की ओर मेरी सक्रियता तेजी से बढ़ती गई। छुआछूत से या ऐसे ही कौटुंबिक प्रपंचों से मुझे घृणा थी। बचपन का मेरा प्रिय खेल मंदिर-निर्माण था—लकड़ी के छोटे-बड़े गुट्टे इकट्ठे करना, अपनी मित्रमंडली के साथ मिट्टी की छोटी-छोटी ईंटें बनाना, रावजी दरजी से मूर्ति बनवाना। तब हम बालकों के लिए मंदिर विशाल होते थे। दूसरा प्रिय खेल मूर्तियों को पालकी में रखकर उनकी शोभायात्रा निकालने का था। इसके लिए एक पालकी पिताजी ने बनवा दी थी। श्रावण सोमवार को खूब सजा-धजाकर गाँव में उसे घुमाते। महाराष्ट्र में घर-घर में प्रचलित ग्रंथ हरि विजय, पांडव प्रताप के वाचन का सप्ताह रखते। समाप्ति पर उत्सव करते। इसी वय में पिताजी मुझसे लोकमान्य तिलक का 'केसरी' पढ़वाने लगे थे। वैसे, मेरे प्रिय पत्र बंबई का 'गुराखी', पुणे का 'जगत् हितेच्छु' और 'पुणे वैभवी' थे। ये पत्र जिन-जिनके यहाँ आते थे, उन-उनके घर नियमित जाकर मिन्नतें कर ये समाचारपत्र मैं ले आता था। मित्रों के समक्ष उनका वाचन करके सार्वजनिक करता था। फिर अपने बालसखाओं से चर्चा करता था। हमारे घर में पुरानी पोथियाँ और पुस्तकें थीं। ऊपर टाँड पर वे सब सजाकर रखी रहती थीं। रविवार को छुट्टी के दिन मेरा प्रिय कार्य उन पोथियों, पुस्तकों को टाँड पर से उतारकर उनके कपड़े आदि

खोलकर, फिर से बाँधकर उन्हें पूर्वस्थान पर जमाना था। यह बात अलग है कि इस काम को करते समय पुस्तकों सहित मैं ऊँचाई से गिर पड़ता था। फिर भी मेरी वह अभिरुचि यथावत् थी।

आरण्यक

ऐसे ही एक बार एक संस्कृत पोथी मेरे हाथ लगी। उसमें केवल काली स्याही का प्रयोग न कर लाल तथा हरी स्याही से बड़ा सुंदर रेखांकन किया हुआ था। वह सुंदर पोथी खोलकर मैं पढ़ने लगा। उसकी संस्कृत भाषा कुछ समझ में नहीं आ रही थी। पर पढ़ने में कुछ मजा आया, इसलिए पढ़ता रहा। जैसे कोई अपशकुन घटित हो जाए, ऐसा हुआ। मेरे पिताजी उधर से गुजरे और उन्होंने मुझे वह पढ़ते देखा तो झपट पड़े और मुझसे पोथी छीनते हुए बोले, 'पागल हो गए हो क्या? यह आरण्यक है, इसे घर में पढ़ना नहीं चाहिए, नहीं तो घर अरण्य हो जाएगा।'

उस समय तो उस अर्थवाद से मुझपर एक अस्पष्ट भय के सिवाय क्या प्रभाव पड़नेवाला था! पर आज उस फलश्रुति की दंतकथा कितनी विस्मयकारी लग रही है! उस आरण्यक के और उसके अंत से प्रारंभ होनेवाले उपनिषद् के विचार, जिसे इस संस्कृति की माया के घर में रहना हो, वास्तव में उसे नहीं पढ़ना चाहिए। कम-से-कम निष्ठापूर्वक तो बिलकुल ही नहीं पढ़ना चाहिए, नहीं तो उसी माया के घर को 'जनाकीर्णं मन्ये हुतवह परीतं गृहमिव'—सारा गृह तृष्णा की अग्नि से सुलगा हुआ है, यह मानते हुए उसका त्याग करने को वह प्रवृत्त हो जाएगा और 'सर्वास्ते फासुका भग्ना गृहकूटं च नश्यति' कहते हुए हाथ ऊपर उठाकर रोते हुए किसी गौतम बुद्ध की तरह घर त्यागकर बाहर निकल जाएगा। और ऐसा होने पर घर जंगल हुए बिना कैसे रहेगा, क्योंकि उसके घर 'त्यागेनैकेन अमृतत्वमानस: !

और उसके उस गर्भित अर्थ की वह व्याख्या पूरी तरह धुल-पुछकर उसके शब्द को ही अक्षरश: सत्य माननेवाला विश्वास कितना अंधा है! पानी में देखोगे तो दाँत गिर जाएँगे, ऐसी धमकानेवाली फलश्रुति की तरह ही पिताजी द्वारा कथित आरण्यक पढ़ने पर होनेवाली फलश्रुति भी थी। और मेरी विद्रोही तात्त्विक बुद्धि को वह स्पष्ट अर्थवाही बिजूका दिखाने पर मैं उससे बिना भयभीत हुए देखूँ कि कैसे दाँत गिरते हैं? कहता हुआ बार-बार पानी में झाँककर देखने को आतुर बालक की भाँति आरण्यक के उन रँगे पृष्ठों को बार-बार देखता और पढ़ता। उन्हें केवल पढ़ने से घर जंगल कैसे हो जाएगा। यह मन-ही-मन दोहराता हुआ पाखंड का उपहास किया करता।

प्रथम पृष्ठविहीन इतिहास

उसी टाँड पर रखी एक फटी-सी अंग्रेजी पुस्तक ने मेरे मन पर एक चिरस्थायी परिणाम अंकित किया था। वह पुस्तक A Short History of the World (विश्व का संक्षिप्त इतिहास) थी। तीसरी कक्षा तक की अंग्रेजी मैंने घर पर ही पढ़ ली थी। इतिहास के प्रति मेरी जिज्ञासा बचपन से ही जाग्रत थी। उस पुस्तक का नाम पढ़ते ही मानो कल्याण करनेवाला कोई पारस मेरे हाथ लग गया, ऐसा आनंद मुझे हुआ। मुझे लगा कि इतिहास का सारा खजाना ही मेरे हाथ लग गया। पर उस पुस्तक का प्रथम पृष्ठ ही नहीं था और अंदर की भाषा अंग्रेजी थी। पिताजी को मनाया और उन्होंने नित्य थोड़ा-थोड़ा बताने की बात मान ली। फिर समझ में आया कि वह तो एक खंड मात्र है, पूरा इतिहास नहीं। इस खंड में अरब के इतिहास का प्रारंभ हो रहा था। मैंने पिताजी से पूछा, 'इस पुस्तक में लिखित अरब के इतिहास के पहले क्या था?' पिताजी ने कहा, 'इसका पहला पृष्ठ फटा है, उसमें वह होगा।' वे उस पृष्ठ को खोजने लगे, वह मिला नहीं। मैं उदास हो गया और उसी उदासी में मन में ऐसा प्रश्न उपस्थित हुआ कि वह पृष्ठ मिल भी जाए तो क्या? उसमें भी जहाँ से प्रारंभ किया गया होगा, उसके पहले क्या था, यह प्रश्न तो फिर भी उठेगा ही। प्रथम पृष्ठविहीन यह फटी पुस्तक ही क्या, जिसमें पहला पृष्ठ है, वह इतिहास-पुस्तक भी वास्तव में अधिकतर दूसरे पृष्ठ से ही लिखी होगी।

और यह एक सिद्धांत बन गया। तर्कशास्त्र के अनुमान आदि किसी शास्त्रज्ञ की मुझे उस बाल वय में जानकारी होना संभव नहीं था। फिर भी यह सिद्धांत स्वयंस्फूर्त होकर आया और पट भी गया। मानव का पूर्व इतिहास खोजते चलो तो बंदर तक पहुँचो, बंदर का खोजो तो जीवाणु तक, जीवाणु से वनस्पति तक और उसके भूभाग तक, उसके सूर्य तक, ऐसे कितना ही पीछे-पीछे जाओ, पर हाथ जो लगेगा, उसके पूर्व का कुछ-न-कुछ रह ही जाएगा।

अपनी कविता 'सप्तर्षि' में मैंने यही कहा है कि खंड इतिहास संभव है, पर विश्व-इतिहास का पहला भाग मिलना संभव नहीं। और यह सिद्धांत विश्व-इतिहास की पुस्तक का पहला पृष्ठ खोजते हुए मुझे स्वयंस्फुरित हुआ था—

> अन्यों का केवल, जो भौमिक उसका
> न संभव सबका
> विश्व-इतिहास चाहिए
> तेरे चारों ओर घेराव विकलों का

कल्पों के विमान से
या तारों की सीढ़ियाँ चढ़ते
जाए तू ऊँचे-ऊँचे खोजता कितना भी
इतिहास का पहला पृष्ठ नहीं मिलना
नहीं दिखना,
प्रारंभ तेरा दूसरे पृष्ठ से होना
अभिशाप है यह, अभिशाप है।

उस टाँड पर रखी पुस्तकों में महाराष्ट्र के अग्रणी विष्णु शास्त्री चिपळूणकर रचित 'निबंधमाला' थी। वह मैंने कई-कई बार पढ़ी। 'केसरी' के प्रथम वर्ष के अंक और चिपळूणकर के मृत्युलेख के अंक तीसरी मंजिल पर एक खोके में रखे थे, उन्हें भी मैं पढ़ता था। पुराने काव्य इतिहास-संग्रह के अंक भी बहुत पढ़े। महाभारत का अनुवाद 'कथासार' या 'सद्धर्मदीप' नामक मासिक पत्र में छपता था, वह भी मैं पढ़ता था। रात में मेरे पिताजी दूध-शक्कर में भिगोकर रखी रोटियाँ मीड़कर खाते, तब मैं कुछ-न-कुछ अंग्रेजी पढ़ता। मुझे जो अधकचरी अंग्रेजी आने लगी थी, उसके बल पर होमर का 'इलियड' मैं पढ़ता था। मेरे पिताजी अर्थ बताते। उन्होंने उसके पूर्व मेरे बड़े भैया से वह सार्थ पढ़वाया था। मुझे तभी से इसकी रुचि हो गई थी। अग्या मेमनान एवं अकेलिज की बहादुरी की कथाएँ भी भीम-अर्जुन की कथाओं की तरह मुझमें आवेश भरती थीं। पिताजी ने नासिक से लाकर पेशवा और शिवाजी की बखर (इतिहास) मुझे दी थी। उन्हें मैंने कई-कई बार पढ़ा। जो-जो मैं पढ़ता, उसकी चर्चा अपने बाल-मित्रों में अवश्य करता। नासिक के वकील आदि लोग हमारे घर आया करते थे। तब वे मुझसे बड़े लाड़ से मेरे पढ़े पर चर्चा करते। मेरी बहुश्रुतता मेरे वय के अनुपात में बहुत बढ़ी-चढ़ी थी, वे उसकी प्रशंसा करते। उसी समय मैं 'निबंधमाला' की भाषा-शैली की नकल करते हुए लंबे-लंबे वाक्यों में निबंध लिखने का प्रयास करने लगा था। मोरो पंत कवि की अनेक रचनाएँ पिताजी गुनगुनाया करते थे। मैंने भी उनकी कुछ-एक कविताएँ कंठस्थ कर ली थीं और उनका अनुकरण करते हुए मैं मोरो पंत जैसी कविता भी लिख लेता था। 'नवनीत' नामक काव्य-संग्रह की अधिकांश कविताएँ मुझे कंठस्थ थीं। मराठी के दूसरे वरिष्ठ कवि वामन भी मेरे प्रिय थे। अर्जुन और भीम की जोड़ी में मुझे भीम अधिक भाता था। पिताजी से, उनके मित्रों से, अपने मित्रों से मैं बहस करता। अर्जुन के पक्ष में यदि कोई बात करे तो मैं भीम का पक्ष लेता। मैं कहता कि भीम के कहे अनुसार यदि धर्मराज आचरण करते तो पैर का काँटा समय पर ही टूट जाता और महाभारत का भीषणतम संहार टल जाता। द्यूत प्रसंग, कीचक प्रसंग और श्रीकृष्ण

द्वारा दी गई संधि प्रसंग में भीम ने जो मार्ग सुझाया, वही अंत में हुआ, परंतु धक्के खाने के बाद और उसे पहले न मानने के कारण प्रायश्चित्त भोगने पर कृष्ण को भी वही स्वीकार करना पड़ा। मोह अर्जुन को हुआ, भीम को कभी नहीं हुआ। पूरी गीता जो पढ़नी पड़ी, वह अर्जुन की तुलना में भीम के लिए नहीं। मैं अपना पक्ष इस तरह रखता। तब मुझे चिढ़ानेवाले बड़े-बड़े आदमियों के हँसते-हँसते पेट में बल पड़ जाते थे।

कविता की बारहखड़ी

मैंने कविता की बारहखड़ी लिखना अपनी माँ की जीवितावस्था में अपनी आयु के आठवें वर्ष में शुरू किया था। घर में श्रीधर कृत 'हरि विजय' आदि पोथियाँ थीं। उन्हें देख-देखकर मुझे लगता कि मैं भी कोई ग्रंथ, महाकाव्य लिखूँ। मेरी बाल बुद्धि के निश्चय का आकार भी मेरे नन्हें नयनों को संतोष दे, वही होना चाहिए था। माचिस के आकार के कागज के टुकड़े काटकर एक-एक अध्याय के पृष्ठ पतले डोरे से बाँधकर मैंने पहली तैयारी पूरी की। तब सरकंडे की कलम बनानी पड़ती थी। मैं जूझता रहा, चार-छह प्रयासों के बाद मेरी मनभावन कलम बनी। फिर पोथियों में जो होती है, वैसी लाल स्याही से सुंदर चौखटें कागजों पर बनाईं। 'श्री गणेशाय नमः' भी लिखा। अब ग्रंथ लिखने के कार्य की शेष रही बिलकुल सामान्य सी बात—अर्थात् ग्रंथ लिखना, वह जो एक तरफ छूटा तो छूट ही गया। इसका मुख्य कारण यह था कि 'श्री गणेशाय नमः' उस छोटे से कागज पर घिचपिच ही लिख पाया और वह पोथी मेरी कल्पना में जितनी सुंदर थी, वैसी कागज पर अवतरित होने की कल्पना ही पूरी तरह अस्त हो गई। हाँ, एक विचार जिसे शुभ ही कहा जाए, वह यह आया कि पहले अपना लेखन सुंदर सुवाच्य, जमा हुआ बना लूँ और फिर ग्रंथ-लेखन करूँ। और मैंने कविता की बारहखड़ी छोड़ सुंदर लेखन के लिए कलम घिसना चालू कर दिया।

कविता करने की उमंग कितने दिनों तक धूल खाती रही, यह स्मरण नहीं, परंतु दसवें वर्ष के अंत तक मैं कुछ-न-कुछ रचने लगा होऊँगा, क्योंकि ग्यारहवें-बारहवें वर्ष तक मैं ओवी, फटका, आर्या आदि छंदों में काव्य लिखने लग गया था। कितनी ही रचनाएँ मैं करता, छोड़ता और भूल भी जाता। ओवी तो मैं वैसे ही रचता चला जाता, जैस सहज बोलते हैं। उन दिनों महाराष्ट्र में घर-घर में बड़े विशाल झूले हुआ करते थे। वैसे झूलेवाला वह कमरा ही घर का केंद्र हुआ करता था। बच्चों की ही नहीं, सद्य:विवाहिता, अर्धप्रौढ़ा महिलाओं का भी जमघट वहीं रहता। तो ऐसी दस-दस, बारह-बारह कन्याएँ और प्रौढ़ाएँ एक ओर झूले पर और दूसरी ओर मैं

अकेला ओवी रचता और उनपर फेंकता। यह कार्यक्रम मेरी आयु के सत्रह-अठारह वर्ष तक अविराम चलता रहा। जहाँ भी, जब भी कभी कारज हुआ या होता, काव्यप्रेमी महिलाएँ मुझे घेर लेतीं और मेरी काव्य-धारा का अनुपम आनंद लेती हुई मुझे प्रेरित भी करतीं। मराठी में महिलाओं में ओवी को संख्याबद्ध भी किया जाता।

जैसे पहले मेरी ओवी''दूसरी गा माझी ओवी। मैं एक आख्यान प्रसंग लेता और दो सौ तक संख्या कहते मैं ओवी रचता चला जाता या फिर वे सारी एक ओवी कहतीं, मैं उसके प्रत्युत्तर में दूसरी ओवी और वह भी उनकी ओवी का अंतिम शब्द आते-आते रचकर सुना जाता।

मुझे इस क्षेत्र में हराने के षड्यंत्र महिलाएँ और कन्याएँ हर घरेलू कारज के अवसर पर किया करतीं।

परंतु यह,बात 'ओवी' की है। आर्या छंद ने किसी अनार्या की तरह अपनी मात्राओं के छल से मेरी बाल-प्रतिभा को परास्त करने में कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी। वह सारा लज्जाजनक प्रसंग मैं कथन भी न करता, यदि सत्य कथन की लौकिक स्तुति का लोभ मुझे इतना न लुभाता।

आर्या की माला

आर्या छंद में काव्य रचनेवाला महाराष्ट्र का शीर्ष प्राचीन कवि मोरो पंत होने से 'आर्या पंत की' उक्ति ही महाराष्ट्र में प्रचलित है। मैं ओवी छंद में जैसी सहज रचना कर लेता था, वैसे ही आर्या छंद में भी कर सकता हूँ—यह मेरी धारणा थी। मोरी पंत की आर्या कंठस्थ करके श्रुति के आधार पर अनुमान से मैं रचना भी कर लेता था और उसकी स्तुति भी मेरे बाल वय को देखते हुए होती। परंतु''बात कुछ दूसरी ही थी।

हमारी मराठी पाठशाला के मुख्याध्यापक एक प्रेमी, सहनशील, वृद्ध व्यक्ति थे। उनके राज में घर सब्जी-भाजी देने, संदेश देने-लाने, दोपहर को उनको जरा सी झपकी लग जाए, आँख बंद हो जाए तो अपनी आँखें खुली रखना, ताकि पाठशाला में कोई बाहरी आदमी आए तो भद्द न पिटे—ऐसे विश्वास के काम करने का सम्मान कभी-कभी मुझे मिलता। इतना ही नहीं, जिस सम्मान को प्राप्त करने की होड़ पाँचवीं-छठवीं कक्षा के छात्रों में लगती थी, वह डाक पर मुहर ठोंकने का सम्मान भी मानो किसी राजा ने अपनी राजमुद्रा अपनी अनुपस्थिति में ऐश्वर्ययुक्त गंभीरता से अपने विश्वसनीय मंत्री को सौंपी हो, वैसे मेरे मुख्याध्यापक मुझे सौंपते थे। और वह मुहर या ठप्पा लेकर उन पत्रों पर मारते हुए एक सम्मान-भावना की छाप मेरी मुखमुद्रा पर भी अंकित हो जाती। मेरी इस तरह की उपयुक्तता के कारण

हो या गुरुजी की स्वभावजन्य सहनशीलता के कारण, पर मेरे द्वारा रचित आर्या वे बिना विचलित हुए सुनते और मेरी प्रशंसा करते। कहते, 'शाबाश, ऐसे ही प्रयास करते रहो, यशस्वी कवि हो जाओगे।'

परंतु कुछ दुर्भाग्य से ये पुराने गुरुजी वहाँ से चले गए और उनकी जगह एक नौसिखिए मुख्याध्यापक वहाँ आ गए। तब तक मेरी गणना पाठशाला की माननीय सूची में हो गई थी। अत: अन्य सहपाठियों के मुँह से मेरी माननीयता उनके कान में बार-बार आने लगी। परंतु जाने क्यों उन्हें मेरा यह चढ़ा भाव खलने लगा। मैं करेला भी नीम चढ़ा था, क्योंकि उनसे पहचान होते ही राजनीतिक बहसें भी करने लगा। अत: हर बार वे एक हथौड़ा मारकर मुझे डाँट पिलाया करते—'छोटा मुँह बड़ी बात न किया करो, बैठ जाओ!' फिर भी मेरी आदत सुधरी नहीं और एक बार तो सचमुच ही छोटा मुँह बड़ी बात सिद्ध करनेवाला काम मैं कर बैठा। अर्थात् अपनी आर्या छंद में रची कविताएँ उन्हें दिखाने ले गया। उन्हें देखते ही बड़े तिरस्कार से उन्होंने कहा, 'चले बड़े कवि होने। तुझे गण-मात्रा का भी सऊर नहीं, यूँ ही काला-पीला करना कविता करना नहीं होता। जा-जा, फिर छोटा मुँह बड़ी बात न करना।' मेरी कविताओं की अब तक प्रशंसा करनेवाले मेरे सहपाठी मास्टरजी का ऐसा वाक्य सुनकर मेरा उपहास करते हुए इस तरह हँसे, मानो उन्हें गणमात्रावृत्त के प्रयोग में प्रवीणता प्राप्त हो। इतना ही नहीं, शायद उन्हें ऐसा भी लगा कि कविता करने का पागलपन न कर उन्होंने अपनी बुद्धिमत्ता ही सिद्ध की है।

तब तक मुझे गण, मात्रा आदि शब्दों का एक-एक अर्थ ही ज्ञात था। घर में जब विवाहादि बातों की चर्चा चलती, तब वर-वधू के जिस देवगण, राक्षसगण आदि की पूछताछ होती, वह 'गण' मुझे ज्ञात था। और 'मात्रा' वह जो श्रीगणेश के सिर पर चढ़ती है। वर-वधू की तरह हर आर्या का भी गण ऐसा ही होता है क्या? यह प्रश्न मुझे सताता। वैसे ही सिर पर मात्रा लिये कितने वर्ण आर्या में होने चाहिए, यह प्रश्न भी था। पर गाँव में पूछूँ किससे? वहाँ सर्वज्ञ तो एक मास्टर ही था और ऐसे ही फिर पूछना, माने फिर झिड़की खाना और उसके मुँह से सुनना—'जाओ, छोटा मुँह बड़ी बात न किया करो।'

सच देखा जाए तो वे चाहते तो दस मिनट में मुझे आर्या छंद की मात्रा आदि का रहस्य समझाकर मेरी काव्य-प्रेरणा को प्रोत्साहन दे सकते थे। परंतु वे भी कविकर्मी थे और यदि छात्र भी कविता करने लगे तो मास्टरजी का बड़प्पन क्या और कैसे रहे, इसलिए वे एक तरह से मेरे प्रतिस्पर्धी थे। मेरे बचपन में ही नहीं, प्रौढ़पन में भी मुझे मेरे साहस या स्वातंत्र्य घोषणा और राज्यक्रांति या समाजक्रांति आदि के अभिनव भारतीय साहस में मुझे प्रोत्साहन देनेवाले गुरुजनों का अभाव ही

रहा। इसके विपरीत तेजोभंग और मनोभंग की बेड़ियों से गुरुजनों द्वारा मेरे पैर बाँधकर ही रखे जाते। आगे बढ़ने में सहायक हो सकनेवाली शक्ति अधिकतर गुरुजनों द्वारा पैर में डाली गई बेड़ियाँ तोड़ने में ही व्यय हुई।

फिर बड़े प्रयासों से मैंने गण-मात्रा के नियमों को स्पष्ट करता एक आर्या छंद प्राप्त किया। पर फिर वही ढाक के तीन पात। मैं अपनी रची आर्या को वह नियम लगाकर देखने लगा। मात्रा का अपना अर्थ स्थायी रखते हुए अर्थात् ईकार, ऐकार, ओकारवाले वर्णों को मैं मात्रावाले वर्ण मानकर उन्हें गिनता। मोरो पंत की आर्या की मात्रा भी गिनी, पर नियम कहीं भी ठीक बैठे ही नहीं। ऐसी भी शंका मन में आई कि कहीं ऐसा तो नहीं कि हर आर्या के लिए अलग नियम होता हो। यथासंभव सारी मात्राएँ खोजता रहा। औषध प्रयोग में जो 'मात्रा' काम में आती हैं, केवल वे ही रह गईं। हताशा से भरता गया। काव्य की एक पुस्तक 'वृत्त दर्पण' भी मेरे हाथ लगी, पर दर्पण में तो वह दिखेगा जो अपने पास हो। दस-ग्यारह की आयु का था। अत: दर्पण भी कुछ दिखला न सका।

जाने कैसे सिर धुनते-धुनते मुझे ज्ञात हुआ कि कविता की मात्रा वर्ण के सिर पर नहीं होती। कविता के लघु-दीर्घ भेद को 'मात्रा' कहते हैं। यह ज्ञात होते ही मैंने देखा कि आर्या छंद में रची मेरी अधिकतर रचनाएँ नियमानुकूल ही हैं। मुझे इससे बड़ी सांत्वना मिली, पर आर्या छंद के गण-मात्रा प्रपंच में भी मेरा काव्य-सृजन चलता रहा। आर्या छोड़ अन्य काव्य-प्रकारों में मैं रचना करता। इतना ही नहीं, उन्हें चुपचाप समाचारपत्रों में प्रकाशनार्थ भी भेज देता। संपादक के पास रखी रद्दी की टोकरी भरते-भरते एक दिन मेरी एक रचना 'स्वदेशी की फटकार' सच में ही समाचारपत्र में छपकर आ गई। कितने महत्त्व का दिन था वह! गाँव के मेरे बालसखाओं के बाजार में मेरी कविता की साख जिस तरह एक सामान्य कारण से गिर गई थी, वही इस सामान्य कारण से एकाएक चढ़ भी गई। अब वह रचना निश्चित रूप से कविता ही थी और उसका रचनाकार कवि ही था। अब इसके बाद मैं कवि नहीं हूँ, ऐसा कौन कह सकता है? ऐसा मुझे स्वयं भी लगा, क्योंकि उस गाँव के पूरे जीवन में जिसकी कविता समाचारपत्रों में छपी हो, ऐसा कवि मैं ही था। इसलिए पूरे गाँव में मेरे कवि होने का ढिंढोरा पिट ही गया। अच्छा यह हुआ कि जो कविता 'जगत् हितेच्छु' नामक समाचारपत्र में छपी, वह कविता गाँव के बारह वर्ष के एक बालक की है, यह उन्हें ज्ञात नहीं हुआ था, नहीं तो वह छापी ही न जाती। कविता कैसी है, इससे अधिक इसपर बल देनेवाली पत्रिकाएँ ही अधिक होती हैं कि कवि कौन है।

इसी समय मेरी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा सशस्त्र क्रांति की ओर तेजी से

झुकने लगी थी। उसके पैर मेरी बाल-क्रीड़ाओं के पालने में स्पष्ट दिखने लगे थे। मुसलमानों के धार्मिक अत्याचार और अंग्रेजों के राजनीतिक अत्याचारों की स्पष्ट कल्पना किए बिना ही जो कुछ सूचनाएँ मिलतीं, उन्हींसे उनके प्रति तिरस्कार की भावना मन में उठती, और मेरी यह बाल-भावना अपने बालसखाओं के साथ झूठमूठ की लड़ाइयाँ लड़कर बदला ले लेती। मराठी पाठशाला छूटते ही हमारा दल हाथ में छड़ियाँ लेता और उसे तलवार की तरह घुमाता हुआ चलता; जो भी झाड़ी मिलती, उसकी शामत आ जाती, विशेषकर पीले फूलोंवाली काँटों-भरी एक मुलायम झाड़ी के तो सौ वर्ष पूरे हो जाते। छड़ी की तलवार से उस झाड़ी को काटने के लिए हम इसलिए भी जुड़ते, क्योंकि उस झाड़ी को गाँव में 'विलायती' कहा जाता था। उस विलायती झाड़ी की मुंडी छाँटते समय हमें लगता कि हम प्रत्यक्ष विलायती अंग्रेजों की ही सफाई कर रहे हैं। सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध में अंग्रेजों को काटनेवाले विद्रोहियों जैसी उत्कटता से; वह भी उससे बहुत सस्ते में वे लड़ाइयाँ हम लड़ते। राष्ट्रीय बदला लेने की इस काल्पनिक कृति के चलते वास्तविक राष्ट्रीय बदला लेने के लिए अपनी तलवारों का पानी परखने का प्रसंग भी शीघ्र ही आ पहुँचा।

सन् १८९४-९५ में बंबई, पुणे आदि स्थानों पर हिंदू-मुसलिम दंगों की एक बड़ी लहर चली। 'केसरी', 'पुणे वैभव' आदि समाचारपत्रों में उसके समाचार पढ़ने-सुनने की बड़ी उत्सुकता रहती थी उन समाचारपत्रों, जो हमारे गाँव में डाक से आते थे, को लेने डाकघर के पास घंटों खड़ा रहना पड़ता था। मुसलिमों की ओर से दंगे की शुरुआत होकर हिंदुओं की पिटाई होने पर हमें बहुत क्रोध आता। लगता कि ये हिंदू चुप क्यों बैठते हैं? इतने में यदि हिंदुओं की ओर से प्रतिकारस्वरूप मुसलिम मारे जाते तो हमारी टोली का हर्ष आकाश को छूने लगता। देश भर में चल रहे इस घमासान में हमारी छोटी टोली ने यदि भगूर में अपना पराक्रम नहीं दिखाया होता तो हिंदू धर्म का अस्तित्व कहाँ बचता? अत: अपने बालसखाओं को इकट्ठा करके मैंने उन्हें बताया कि इस राष्ट्रीय अपमान का बदला हमें भगूर में भी लेना है और वह इस प्रकार कि गाँव की सीमा के बाहर स्थित एक वीरान मसजिद पर आक्रमण किया जाए। बदला लेने का यही उत्तम मार्ग है। हम बारह-तेरह वर्ष की आयु के लड़कों की टोली नहीं, वीरों का दल एक दिन सायंकाल को उस मसजिद पर आक्रमण करने के लिए छिपते-छिपाते चल दिया। मसजिद तो वीरान थी, उसमें कोई भी नहीं था। संभवत: हमारी विशाल सेना को आता देख शत्रु डरकर पहले ही भाग गया होगा! हमने जी भरकर मसजिद की तोड़-फोड़ करके अपनी बहादुरी के झंडे वहाँ पर गाड़े और शिवाजी की युद्ध-नीति का पूरा-पूरा पालन करते हुए जितनी जल्दी हो सका, उतनी जल्दी वहाँ से पलायन किया। दूसरे दिन यह समाचार

मुसलमान लड़कों को भी मिला। उस गाँव की मराठी पाठशाला के बरामदे में ही लगनेवाली उर्दू पाठशाला के सामने के विस्तृत आँगन में पाठशाला-शिक्षक के आने के पूर्व ही जोरदार लड़ाई हुई। परंतु मुसलमान लड़कों के दुर्भाग्य से उन्हें चाकू, रूल, आलपिनें आदि रण-सामग्री का भंडार पहले ही योजनाबद्ध ढंग से बनाकर रखनेवाला सेनापति न मिलने और हमारी सेना के पास वह सारी युद्ध-सामग्री मेरी सूझबूझ के कारण होने से हिंदुओं की जीत हुई। अंत में संधि हुई, जिसकी पहली शर्त यही थी कि दोनों पक्षों में से कोई भी इसकी सूचना शिक्षक को नहीं देगा।

परंतु दो-तीन मुसलमान लड़कों ने इस पराभव का बदला लेने के लिए मिलकर यह षड्यंत्र रचा कि उस बम्मन के बच्चे को अर्थात् मुझ विनायक को पकड़कर मुँह में गणपति के प्रसाद (मोदक) की जगह एक मछली ठूँसना है। उनका यह दाँव लग नहीं पाया। पर यह समाचार मिलते ही हमारे पक्ष की तैयारी भी बड़े जोर-शोर से होने लगी। मसजिद पर किए गए हमले के समय हमारे धर्मवीरों में जो अशोभनीय ढीलापन देखने में आया था, उसे दूरकर इस सेना को अधिक कार्यक्षम और अनुशासित करने के लिए हमने ढंग से सैन्य प्रशिक्षण लेना प्रारंभ कर दिया।

चूँकि यह आपस की बात है, किसी मुसलमान वाचक को सुनाई न दे, इसलिए इतने धीरे से कह रहा हूँ कि उस मसजिद पर किए गए हमले में कुछ को अपनी नानी-दादी के पुकारने के कारण तुरंत घर जाना जरूरी हो गया। कुछ को उसी समय लघुशंका के लिए बहुत दूर जाना पड़ा और कुछ को जब उनके नेता ने अंदर घुसने का आदेश दिया, तब उन्होंने उनसे प्रतिप्रश्न किया—नेता क्यों न पहले जाए? और जब नेता अंदर गया, तब प्रश्न उछाला गया कि और किसीको अंदर जाने की क्या आवश्यकता है? बाहर भी तो कोई पहरे पर चाहिए। नए पहरेवालों में से कुछ, जिन्होंने पहरा देना कर्तव्य माना था, भाग भी गए।

इन सबके लिए जब मैंने अपने बालसखाओं से कहा तो बड़ी बहस के उपरांत एक सैनिक विद्यालय चलाने की बात कही गई, जिससे अनुशासन और पराक्रम बढ़े। जल्दी ही हम झूठमूठ की लड़ाइयाँ करने लगे। एक पार्टी मुसलमान या अंग्रेज हो जाती और दूसरी हिंदू। नीम की निंबोरी हमारे गोला-बारूद बनते। एक सीमा निश्चित होती, निंबोरी बाँट ली जाती। युद्ध प्रारंभ हो जाता। निंबोरी की मार से बिना डरे बीच की सीमा पर लगा ध्वज जो छीन लाए या दूसरे पक्ष के बाजू में घुसकर उनका गोला-बारूद छीन लाए, वह पार्टी विजयी मानी जाती। अधिकतर मेरी हिंदू पार्टी की ही जीत होती। यदि कभी ऐसा लगता कि जीत अहिंदू पार्टी की होगी, तो मैं देशाभिमान का आह्वान करता और कहता कि वे स्वयं पीछे हटकर हमें

जीत दिलवाएँ, वरना हिंदुओं की पराजय और मुसलमानों या अंग्रेजों की विजय जैसा परिणाम सामने आएगा। वे समझ जाते और पीछे हटकर राष्ट्रहित को ऊँचा रखते। ऐसी किसी भी युक्ति से हिंदुओं की जीत होते ही हमारी पूरी टोली हिंदू-विजय के गीत गाते हुए भगूर के गली-मोहल्ले में शोर मचाते हुए निकल पड़ती।

हमारे सैनिक विद्यालय में जल्दी ही एक घोड़े की आवश्यकता पड़ सकती थी, क्योंकि सैनिक विद्यालय में तैयार हो रहे शिवाजी, तानाजी को घोड़े पर बैठना आना जरूरी था। ऊपर वर्णित मेरे मित्रों में से राजा परशा के यहाँ एक टट्टू था। वह मेलों-ठेलों में किराने की दुकानों का माल ढोने के काम आता था। हमारे बहादुर स्वतंत्रता-सैनिकों का श्यामकर्ण घोड़ा होने का महत् भाग्य उसे मिलना था। अपने माँ-बाप को बिना बताए वे अपने टट्टू को विद्यालय में लाते थे और बारी-बारी हम उसपर चढ़कर अश्वारोहण का अभ्यास करते थे। मैं पहले इसी घोड़े पर बैठा। यद्यपि वह आकार से घोड़ा था, फिर भी उसकी मंद गति के कारण हमारे भावी स्वतंत्रता-संग्राम में वह हाथी-समान भी उपयोग में लाया जा सकता था। उसको दौड़ाने के लिए बार-बार छड़ी मारनी पड़ती थी। इस अनुभव से मैंने छड़ी की संख्या के सूत्र ही बना डाले थे। इतना दौड़ाना है तो इतनी छड़ियाँ। दुर्भाग्य से ऐसे सूत्रों के अनुशासन में चले सभी घोड़े विनयशील नहीं होते, यह मुझे भविष्य के एक खड़तल अनुभव से ज्ञात हुआ, क्योंकि आठ-नौ वर्ष बाद जव्हार राज्य की राजधानी में एक तेज-तर्रार घोड़े पर बैठने का अवसर मुझे अपनी ससुराल में मिला। उस घोड़े को उक्त शास्त्रीय सूत्र के अनुसार जब छड़ियाँ लगाईं तो वह बदमाश घोड़ा जो उड़ा तो अंत में गेंद की तरह हमें दूर फेंकने के बाद ही रुका।

मेरे बड़े भाई साहब को धनुष-बाण चलाने का बड़ा शौक था। एक-दो बार बाण चलाकर कनेर का फूल तोड़ते हुए उन्हें मैंने देखा था। अचूक निशाना लगाने से फूल टूटा या चूक से सही निशाना लग जाने के कारण टूटा, यह कहना कठिन है। परंतु इससे धनुष-बाण चलाने की ईर्ष्या मुझमें अवश्य उत्पन्न हुई। हमारे सैनिक स्कूल के लिए तो यह आवश्यक था ही। अत: उसका भी अभ्यास शुरू हुआ।

पिताजी से कह-कहकर भिल्ल आदि लोगों से तरह-तरह के बाण मैं मँगवाता। फिर धनुष बनाकर ताँत बाँधकर उसको बनाने-बिगाड़ने में हमारा बड़ा मनोरंजन होता। हमारे पिताजी के पास एक बंदूक और तलवार भी थी। बंदूक का उपयोग वे उसमें पानी भर बिल में घुसे साँप मारने के लिए करते थे। वह बंदूक भी दो-चार बार हमने चलाई। मुझे उसका बड़ा ही कौतूहल था। बंदूक, उसके छर्रे आदि देखने और छूने में बड़ा मजा आता था। अपने सैनिक विद्यालय के एक दो साथियों को मैंने उसे चलाना भी सिखाया। हमारे ही पुराने घर की खिड़की से नए

घर में छिपकर बैठे एक उल्लू को मारने एक बार मेरे पिताजी ने यह बंदूक चलाई और जाने क्या-कुछ हो गया, उसके उलटे धक्के से पिताजी घायल हो गए। उस धक्के से मेरे सैनिक विद्यालय के छात्र और प्राचार्य भी घायल हुए और फिर कभी बंदूक को हाथ लगाया हो, यह मुझे स्मरण नहीं।

हमारे घर में एक गुप्ती और एक-दो पुरानी तलवारें भी थीं, जो हमेशा छिपाकर ही रखी जातीं। अपने सैनिक मित्रों को सौ-सौ कसमें देकर मैं बड़ी ही संजीदगी से और बड़ी सावधानी से उन्हें दिखाता था। तीसरी मंजिल पर जाकर मैं उन शस्त्रों को रगड़-रगड़कर साफ करता और फिर छिपाकर रख देता। जीने के नीचे बनाए गए एक गोपनीय स्थान में उन शस्त्रों को छिपाकर मैं रखता।

तेरह-चौदह के मध्य की आयु में कुल-स्वामिनी देवी के प्रति मेरी अपनी भक्ति बहुत अधिक बढ़ गई। यह मूर्ति रुधिरप्रिय है, ऐसी किंवदंति थी। अत: उसे घर में न रखकर खंडोबा के मंदिर में हमारे एक अब्राह्मण पुजारी की सेवा में रखा गया था—इसलिए कि उसे बकरे आदि का भोग मिल सके। उस पुजारी को स्वप्न में देवी का आदेश मिलने लगा कि मुझे घर पहुँचाओ। मेरे पिताजी को स्वप्न में देवी घर में आई हुई दिखती। उस देवी के जाग्रत और तेजस्वी होने के आख्यान पूर्वापर उस गाँव और घर में सुनाए जाने से सबको बड़ा डर लगता था। परंतु पुजारी के आग्रह के कारण अण्णा (मेरे पिताजी) ने उसे घर में ही स्थापित करने की व्यवस्था की। उनके अनेक इष्ट मित्र कहते, 'अरे अण्णा, वह रुधिरप्रिय जाज्वल्य देवी है। अगर कुपित हो गई तो सारा घर भस्म कर देगी। उसे मंदिर में ही रखना ठीक है।' अण्णा कहते, 'अब तो जो होगा, उसीकी मरजी से होगा।'

परंतु मुझे तो वह मातृवत् ही अधिक लगती, वैसी ही ममतामयी, स्नेहिल, कृपालु। मैं अपने बचपन के सुख-दु:ख भी उससे कहता। धीरे-धीरे मुझे वह नए घर का सुंदर स्थान, जहाँ यह देवी स्थापित थी, बहुत ही भाने लगा। देवी माँ की पूजा-सेवा और साधना में अधिकाधिक तल्लीन भी रहने लगा। 'पांडव प्रताप', 'हरि विजय' आदि ग्रंथ घर-घर में जैसे प्रचलित थे, वैसा कोई देवी-चरित्र मराठी में नहीं था या मुझे तब तक नहीं मिला था। 'सप्तशती' संस्कृत में थी, उसे पढ़ता, परंतु उससे मन को शांति नहीं मिलती थी। उसी समय समाचारपत्र में पढ़ने को मिला कि 'देवी विजय' नामक ग्रंथ प्रकाशित हो रहा है। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। पता नहीं, पिताजी मँगवाएँ या नहीं, यह सोचकर एक प्रति देय मूल्य (वी.पी.पी.) से भेजने के लिए मैंने पैसे भेज दिए। ग्रंथ आ गया तो उसका पारायण करने लगा। इस ग्रंथ में जो जानकारी मिली, उसका आधार लेकर अन्य देवी-भक्तों के चरित्रों के साथ प्रताप-शिवाजी को भी जोड़ते हुए एक ग्रंथ 'दुर्गादास विजय' नाम से लिखा

जाए, यह संकल्प भी मन में उभरा और तत्काल उसे ओवीबद्ध करके लिखना आरंभ किया। प्रथम देवी-स्तुति, फिर ग्रंथकार-चरित्र। उसके पश्चात् देवी से हुआ साक्षात्कार। भारत की स्वतंत्रता के लिए ग्रंथकार जो युद्ध करनेवाला था, उसमें सफलता मिलने का आशीर्वाद देवी से प्राप्त करने के लिए एक प्रारंभिक प्रार्थना। यह सब करते चार-पाँच अध्याय, तीन-चार सौ ओवियाँ रच डालीं। मराठी के एक ग्रंथ लेखक श्रीधर स्वामी पंढरपुर के देव-मंदिर में बैठकर ही ग्रंथ-रचना किया करते थे, अर्थात् स्वयं पांडुरंग उन्हें सुनता है, ऐसी जो एक दंतकथा थी, उसका गौरव भी अपने ग्रंथ में हो, इसलिए अध्याय का सृजन होते ही उसे तन्मय चित्त से पढ़कर देवी को सुनाता था। देवी पर नाना प्रकार के फूल हमेशा ही चढ़े रहते थे। उनमें से कोई एक फूल भी मेरे वाचनकाल या उसके बाद लुढ़ककर नीचे आ जाता तो मैं उसे प्रसाद मानता। यह चमत्कार भी ग्रंथ में लिखा जाता और मुझे यह विश्वास होता कि मेरा ग्रंथ भी श्रीधर स्वामी के जैसा ही हो जाएगा। मेरे इस ग्रंथ की कुछ ओवियाँ सच में ही बड़ी उत्तम 'प्रासादिक' स्वरूप की रची गई थीं। उनमें मैंने अंग्रेजों के अत्याचारों का वर्णन 'दैत्य', 'पृथ्वीभार हरण', 'अवतार' आदि से ठेठ पौराणिक भाषा में किया था। मेरे जीवन के प्रभात में ही आत्म-चरित्र लिखने का यह पहला प्रयास था और उसके अनंतर यह दूसरा आयुष्य के तीसरे प्रहर में हुआ।

इससे भी अधिक आश्चर्यजनक चमत्कारों का अनुभव मेरे बालसुलभ, भाव-प्रवण मन को होता। जब ध्यान लगाकर मैं बैठता तो कभी-कभी मुझे प्रत्यक्ष देवी दिखाई देती। देवी के मुख से कही गई बातें सुनाई देतीं; पर वे क्या और कैसी थीं, अब उनका स्मरण नहीं रहा। एक बार मेरी बहन के कान का एक महँगा बाला खेल-खेल के दौरान मेरे हाथ से छिटककर कहीं गुम गया। पिताजी क्रुद्ध होंगे, इसलिए उससे बचने के लिए मैं देवी के सामने जाकर अड़ गया। आँखें बंदकर ध्यान-मुद्रा में बैठ गया। मेरी बंद आँखों को वह आभूषण एक आलमारी के नीचे पड़ा हुआ स्पष्ट दिख गया। पर वहाँ तो हम दस बार पहले ही देख चुके हैं, मन में इस शंका ने जन्म लिया। फिर मुझे एक आवाज सुनाई दी, जैसे कोई कह रहा हो—'अरे! उठ, देख फिर से।' और मुझे उठना पड़ा। भाभी को साथ लेकर मैं उस आलमारी के सामने गया और झुककर उसके नीचे हाथ डाला। आश्चर्य कि मेरे हाथ पर जैसे किसीने वह बाला रख दिया हो। सबके, विशेषकर पिताजी के, आश्चर्य का ठिकाना न रहा। मैं तब उसे दैवी चमत्कार समझता था और उस 'दुर्गादास विजय' ग्रंथ में ऐसे चमत्कार ओवीबद्ध कर लिखता भी था।

परंतु मेरे मन में एक प्रश्न उठने लगा—ये घटनाएँ दैविक हैं या भावनात्मक। मन की एकाग्रता के कारण मन की सुप्त स्मृति जाग्रत हो सुध आ जाती हो, ऐसा

तो नहीं? देवी जिसका दर्शन कराती है, वह अपने ही मनस्मृति का अतिदर्शन तो नहीं? वैसे ही कान में आते शब्द-स्वर अतिश्रवण तो नहीं? जो कुछ भी हो, पर ऐसा होता था।

बालपन से ही मेरी भावना जितनी उत्कट थी, बुद्धि उतनी ही तर्कट थी। मैं वास्तव में इन दो सगी बहनों के मायाजाल में फँसा हुआ था। ये दोनों एक-दूसरी को नीचा दिखाने का खेल खेला करती थीं, मानो इन दोनों का यह परस्पर प्रेम-प्रदर्शन का कोई तरीका हो। देवी के प्रति मेरी सरल और निस्सीम श्रद्धा कब से मेरी बुद्धि की आँख में खटकने लगी, उसे मैं भूल गया। संभावना यह है कि बुद्धि के द्वारा रचे गए षड्यंत्र को जाग्रत मन से भी छिपाया गया हो, पर श्रद्धा के इस सहज आनंद के दूध में नमक की पहली डली मेरे सामने कब डाली गई, उसका स्वच्छ स्मरण मुझे है।

'ईश्वर' हमेशा ही भक्तों का संकट हरता है, ऐसा नहीं है। कई बार वह भक्त की पुकार अनसुनी भी कर देता है, यह तथ्य एक दिन मेरे सामने प्रकट हो गया और मेरी श्रद्धा की मजबूत नींव खिसकने लगी। उस दिन नासिक से कुछ बड़े वकील सावरादिक मेरे बड़ों के इष्ट मित्र अतिथि बनकर हमारे घर आनेवाले थे। वास्तव में वे सारे मेरे पिताजी के मित्र थे और साथ में एक रकम भी लानेवाले थे जो मेरे पिताजी को एक ऋण की साप्ताहिक किश्त के रूप में किसी दूसरे को चुकानी थी। मेरे पिताजी लेन-देन की ये सब बातें मुझसे कहा करते थे, पर वे लोग नहीं आए। पिताजी बहुत उदास हो गए। उनको ऐसा उदास देख मैंने देवी माँ की शरण में जाने की ठानी। बच्चा यही तो करता है! संकट आने पर माँ के पास ही जाता है। देवी के सामने बैठकर उसे मनाने का प्रयास मैं करने लगा। आँखों में आँसू आ गए। देवी प्रार्थना मैं 'ओवी' छंद में काव्य रचते हुए ही किया करता था। वैसा ही करता हुआ मैं अपने पिताजी को संकटमुक्त करने की रट देवी के सामने लगाए रहा। क्रोध में देवी से मैंने यह भी कहा कि यदि तुमने आज मेरे पिताजी की लाज नहीं रखी तो मैं यह समझूँगा कि देवी-देवता सब ढकोसला है।

दो दिन हो गए, अतिथि नहीं आए। पिताजी की नजर मुझपर रहती थी। उन्होंने कहा कि ऐसे छोटे-मोटे कार्य के लिए ईश्वर पर भार नहीं डालना चाहिए। रकम लाने के लिए वे स्वयं ही नासिक गए। परंतु रकम देनी नहीं थी। इसलिए वे बड़े लोग आए नहीं थे। आखिर पिताजी बैरंग लौट आए। इससे मेरी उदासी बढ़ गई। मन में आया, ऐसा तो नहीं कि मेरी भक्ति दूसरे भक्तों से कम है या यह कि उन भक्तों के साथ भी ऐसा ही होता है। ईश्वर हमेशा ही भक्त की बातें नहीं मानता। इस संदेह के पनपते ही 'भक्त विजय' ग्रंथ में वर्णित चरित्र मैंने फिर से एक बार पढ़

डाला। अभी तक पोथी में जो कुछ लिखा था, वह सच है या झूठ, इसको परखने का प्रयास नहीं किया था, पर अब मैंने पहली बार—श्रद्धा और संशय से—दोनों ही आँखें खोलकर पोथी पढ़ी।

तब बुद्धि में यह बात आने लगी कि भक्त को जिस किसी संकट से ईश्वर ने उबारा, केवल उन्हीं घटनाओं का वर्णन पोथी में किया गया है और जिन घटनाओं में भक्त की कोई सहायता ईश्वर ने नहीं की, उनको छोड़ दिया गया है। महाराष्ट्र के संतशिरोमणि ज्ञानदेव ने जब समाधि ली, तब उनकी छोटी बहन मुक्ता बाई बहुत दुःखी हुई। उसने अपने इष्ट से बहुत-बहुत विनती की, पर ज्ञानदेव जीवित नहीं हुए। जिस तुकाराम का ब्राह्मणों द्वारा नदी में फेंका गया ग्रंथ उनके इष्ट विट्ठल ने निकाला, उन्हीं भगवान् विट्ठल ने उनके कथा-प्रसंग में एक भयंकर आग लग जाने पर लोगों के प्राण नहीं बचाए। एक गाँव मलेच्छों ने लूटा। तुकाराम ने अपने परम इष्ट विट्ठल से कहा कि ये तो तेरा ही अपयश है, पर साक्षात् ईश्वर ने उस संकट का निवारण नहीं किया। अब तो मैं ऐसे सैकड़ों उदाहरण दे सकता हूँ। चोखामेल नामक एक परम तपस्वी भक्त महाराष्ट्र में हुए हैं। हीन जाति का होने के बावजूद उन्होंने मंदिर में प्रवेश किया। पुजारियों ने उन्हें पकड़कर चट्टान से बाँधा और मृत्युदंड देने को तत्पर हो गए। उस संकट से भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने भक्त को उबारा, ऐसा वर्णन पोथी में है, पर एक बार कुछ हरिद्वेषी मुसलमान उसे उसके साथियों सहित एक दरवाजा बनाने की बेगार के लिए पकड़कर ले गए। वह दरवाजा बनते-बनते गिर गया और उसके नीचे भक्तश्रेष्ठ चोखा अपने साथियों सहित दबकर मर गए, मगर अँगुली पर गोवर्धन उठानेवाले श्रीकृष्ण ने वह गिरता द्वार नहीं रोका। पोथियों में ऐसी घटनाओं का वर्णन भारी उपेक्षा से क्यों किया जाता है? मैं जिन पोथियों को शंकारहित और विश्वसनीय मानता था, उनपर से मेरा इन सब कारणों से विश्वास हिलने लगा।

श्रद्धा की नींव हिलने की घटना

मैं पढ़ता आया था कि अठारह पुराणों की रचना व्यास ने की है। अर्थात् मराठी में रचित 'देवी विजय' ग्रंथ भी व्यासकृत 'देवी भागवत' के आधार पर ही रचित था। परंतु उसे पढ़ा तो देखा कि उसमें वर्णित रामचरित्र में राम और लक्ष्मण सगे भाई नहीं हैं। अन्य पुराणों में तो ये सगे भाई और भरत-शत्रुघ्न सौतेले भाई कहे गए हैं। पहले लगा, पढ़ने-समझने में कुछ गड़बड़ी हो रही है। फिर मूल 'देवी भागवत' देखना चाहा, पर वह तो उस समय अप्राप्त और दुर्लभ था। विभिन्न पुराणों में वर्णित घटना और चरित्र की विसंगतियाँ धीरे-धीरे ज्ञात होने लगीं और यह तथ्य

मन में जम गया कि सारे (अठारहों) पुराण व्यासरचित नहीं हैं। एक ही व्यास की ये सारी रचनाएँ होना असंभव है। सारी पोथियाँ एक जैसी सत्य भी नहीं हैं। यह दृष्टि मिल जाने पर अपने भाई, मामा आदि से और नासिक जाने पर तो मुझसे कई गुना अधिक शिक्षित व्यक्तियों से भी मैं पुराणों को दिखा-दिखाकर वाद-प्रतिवाद किया करता और उनकी भोली श्रद्धा देख चकित भी हो जाता।

महाराष्ट्र में एक और प्रचलित तथा मान्यताप्राप्त लौकिक अर्थात् मराठी भाषा में लिखा ग्रंथ है 'गुरु चरित्र'। वह ग्रंथ भी मेरी संशयी बुद्धि की साढ़े साती के घेरे में जल्दी ही आ गया। उसमें अनेक व्रतों-नियमों का उल्लेख है। पहले मैं उन व्रतों-नियमों का पालन श्रद्धा से करने लगा। फिर उनकी जटिलता असंभव ही नहीं, परस्पर विरुद्ध और निरर्थक भी लगने लगी। फलश्रुतियाँ तो कितनी ही बार विकट होती हैं, यह बात भी समझ में आ गई। तब हमारे सिर घुटे होते थे, उनपर एक चोटी लहराया करती थी। चोटी में गाँठ लगाए रखना आवश्यक नियम था, पर अनेक बार वह खुल जाती और फिर उसमें गाँठ लगाने की सुध नहीं रहती। मेरे बड़े भैया ऐसे अवसर की ताक में रहते थे। मेरी चोटी खुली दिखते ही कहते, 'चोटी खुली रखकर जितने कदम चलोगे, उतनी ब्रह्म-हत्या का पाप लगेगा।' मैं उसका उत्तर वैसा ही टेढ़ा देता। कहता, 'चिंता नहीं। सायं संध्या (शिव-पूजा) के समय शिव का नाम लेते ही सात जन्म के पाप धुल जाएँगे। (सायाह्ने सप्तजन्मनि) और 'गंगा-गंगा' दो-चार बार कहूँगा तो सारे ही पापों से मुक्त हो जाऊँगा। (गंगा गंगेति यो ब्रूयात्···मुच्यते सर्व पापेभ्यो!) मेरे धार्मिक विचारों में होनेवाली इस उथल-पुथल के कारण मेरी ईश्वर-पूजा-भक्ति उतनी श्रद्धा से होना छूट गया। जिन सामान्य चमत्कारों के कारण ईश्वर के प्रति मेरी श्रद्धा बढ़ गई थी, वैसे ही अब वह घटने भी लगी। फिर भी अपने घर की देवी के प्रति मेरी भक्ति टिकी रही।

तत्त्व-जिज्ञासा का सूत्रपात

संशय के अग्निकुंड में मेरी पहली भोली भावनाएँ, जो एक तरह से भूसा ही थीं, जलने का प्रारंभ होते-होते मेरी निष्ठा को उपरोक्त तत्त्व विचारों की पक्की नींव प्राप्त होने का भी सूत्रपात हो गया। यह मेरे ज्येष्ठ बंधु के कारण हुआ। इस क्षेत्र में वे ही मेरे पहले गुरु थे। मेरे पिताजी या अन्य किसीको भी वेदांत विषय में रुचि नहीं थी, अध्ययन या अभ्यास होने की बात तो बहुत दूर थी। परंतु मेरे ज्येष्ठ बंधु इस क्षेत्र में बहुत सक्रिय थे। उनकी आयु यही कोई सत्रह-अठारह साल की थी। केवल वेदांत-संबंधी ग्रंथ पढ़ने तक ही नहीं, योगाभ्यास करने की ओर भी उनकी प्रवृत्ति बढ़ी हुई थी। उन्हें इस विषय के ग्रंथ खरीदने का चाव था। उनके द्वारा खरीदा गया

एक ग्रंथ ग्वालियर के किन्हीं श्री जठार द्वारा लिखित था। ग्रंथ का नाम था—'स्वानंद साम्राज्य'। 'साम्राज्य' शब्द मेरे राजनीतिक विचारों के कारण मेरे निकट का था, बड़े भाई का आग्रह तो था ही और मेरी प्रवृत्ति भी किसी विषय में पीछे रहने की नहीं थी, इसलिए भी मैंने वह ग्रंथ पढ़ा। कुछ प्रकरण तो मुझे अच्छे लगे। परंतु 'माया' शब्द के मायाजाल और 'ब्रह्म' शब्द के ब्रह्म घोटाले ने मुझे उस वय में उक्त विषय से दूर ही किया। अर्थात् ये दूर जाना भी अधिक पास आने जैसा ही था, क्योंकि सबकुछ जानने की मेरी जो प्रबल इच्छा हमेशा ही रही थी, वह मुझे किसी विषय से दूर जाने की अपेक्षा खींचती ही अधिक थी। प्रबल जिज्ञासा और संस्कार की एक आतुर जंजीर मेरी बुद्धि के गले में इसलिए अपने आप ही पड़ गई; और मैं इस विषय के उपांगों पर, अद्भुत चमत्कारों पर, सत्य और असत्य को लेकर डींग हाँकते लोग, साधु या भोंदू, पल-पल 'धर्म-धर्म' कहकर फैली रूढ़ियाँ, ईश्वर का अस्तित्व या अनस्तित्व आदि विषयों पर अपने ज्येष्ठ बंधु सहित अन्यों से मेरे वाद-विवाद शुरू हो गए। इस वाद-विवाद में मुझे बड़ा-छोटा कोई सूझता नहीं था। इस वाद-विवाद में यदि कोई ज्ञानी किसी ग्रंथ को उद्धृत करता तो वह ग्रंथ खोजकर मैं अवश्य पढ़ता, ताकि उनकी बातों को मैं काट सकूँ। ग्रंथ पढ़ना, चिंतन करना और अपनी बात को सिद्ध करने के लिए उसका उपयोग शस्त्र जैसा करना मेरी आदत-सी हो गई। अर्थात् उस विषय का जो चिरंतन मर्म था, वह मेरे मन में स्वत: पैठता जाता। इन ग्रंथों के पूर्व जब मैं भोली भावना से पोथी-पुराणादि ग्रंथ पढ़ता था, तब उन ग्रंथों में मिलता कल्पना-विलास और रस-भरे आख्यान आँखें मूँदकर पढ़ने में जो समाधान मिलता, वैसा इन ग्रंथों में नहीं मिलता। फिर भी उनके संवाद और प्रयोग मेरी भावना को प्रबुद्ध करते गए।

मुझे लगता है कि चरित्र-लेखन के कालक्रम का पालन न कर संदर्भित विषय की धारा पकड़ते हुए कुछ बातें यहीं कह देना अच्छा है।

बात मेरे ज्येष्ठ बंधु की निकली है तो उसी संदर्भ में बढ़ें। उन्हें साधु-संग बड़ा प्रिय था। कोई भी जटाधारी-अर्धनग्न विभूति रमाया व्यक्ति मिल जाता, तो वे उसके पीछे पड़ जाते। प्रारंभ में जब हम संपन्न थे, तब ऐरे-गैरे साधु-महात्मा की खिलाई-पिलाई अखरने का प्रश्न नहीं था, पर बाद में भी मेरे बड़े भैया उदार मन से किसी साधु-महात्मा को भरपेट दूध, मिठाई, फल आदि भेंट करते ही रहे। उन साधुओं में कुछ सत्पुरुष भी होते ही थे। परंतु अनेक ने मेरे बड़े भैया को उनके भोलेपन का लाभ लेते हुए लूटा ही। ऐसे समय में मैं उनका उपहास कर उन्हें सताता। वे भी खुद को ठगा हुआ मानते, पर फिर कोई जटाधारी मिलते ही उनकी मठिया में पहुँच जाते थे। लौटकर मुझसे अवश्य कहते, 'उनकी बातें भूलो, जिन्हें

तुम चोर-उचक्का कहते थे। ये जो आए हैं, वास्तव में सिद्ध पुरुष हैं। चल, तू भी दर्शन कर ले।''

कभी-कभी मैं चला भी जाता। एक बाबा का स्मरण मुझे है। वे सद्‌प्रवृत्त थे, पर बहुत सामान्य। अंग्रेजी कक्षा में प्रवेश कर मैं नासिक पहुँचा ही था। पंचवटी में स्थित राम धर्मशाला में वे डेरा डाले हुए थे। एक अँधियारे कमरे में उनका पूजा-पाठ चलता था। बीच-बीच में ब्रह्मभोज किया करते थे। उनकी धारणा यह थी कि इस सबके लिए पैसा उनकी इच्छा मात्र से ही ईश्वर पहुँचा देता है। मेरे भैया ने उन्हें गुरु माना था। वे मुझे उनका दर्शन करने हेतु चलने का आग्रह करते। मेरे भैया ने उन साधु बाबा के बारे में मुझे बताया कि वे अर्वाचीन रामदास स्वामी हैं; उन्होंने अंतर्ज्ञान से तेरा परिचय पहले ही प्राप्त कर लिया है और वह परिचय प्राप्त हो जाने पर ही वे बार-बार तुझे लाने के लिए मुझसे कहते हैं। खैर, एक शुभ दिन मैं बाबा के कमरे पर गया। मुझे देखते ही वे बड़े प्रसन्न हो गए, बोले, 'अरे, तू तो बड़ा शुभ लक्षणी है, महान् आत्मा है।' मैंने भी उनका निरीक्षण किया। इधर-उधर से देखा, पर मुझे शिवाजी-निर्माण करने की शक्ति उनमें कहीं दिखाई नहीं दी। मेरी जो प्रबलतम महत्त्वाकांक्षा थी, उसे उनके सामने प्रकट करते हुए मैंने कहा, 'अंग्रेजों की गुलामी से भारत को मुक्ति दिलाने के लिए सशस्त्र युद्ध के सिवाय कोई उपाय नहीं है।' परंतु उन्होंने मुझसे वही कहा जो अन्य साधु बाबा हमेशा कहते रहते थे। वे बोले, 'अभी तू उस ओर बढ़ना छोड़ दे। पहले ईश्वर का अधिष्ठान प्राप्त कर, जो तुझे यहाँ प्राप्त होगा। (मैं समझ गया कि वे चाहते हैं—मैं उनका दास बनकर सारी सेवा-चाकरी करूँ।) ईशकृपा से तेरी सारी इच्छाएँ पूरी हो जाएँगी।'

मैं जान गया कि राजनीति का स्पर्श भी इन्हें नहीं है; ये रामदास स्वामी कैसे हो सकते हैं! यह तो कहते हैं, 'ये तो प्रभु की मरजी है। उनके पाप का घड़ा जब भरेगा, तब उनका भी नाश होगा।' मुझे ये सारे तर्क क्रोधित करते। मैं कहता—चोरों का राज यदि प्रभु की इच्छा है तो उनको राजच्युत करने की हमारी इच्छा क्या राक्षसी इच्छा है? यदि सबकुछ ईश्वर की इच्छा से होता है तो मेरे मन में और हजारों के मन में उठती यह इच्छा भी तो ईश्वर की ही इच्छा है। यह क्या उनके पाप का घड़ा भरने का संकेत नहीं है? पर वे समझें तब ना?

जिस समय का यह वृत्त मैं लिख रहा हूँ, उस समय से ही मेरी प्रवृत्ति क्रांतिकार्य की ओर तेजी से बढ़ने लगी थी। अत: यहाँ उस समय के अपने विचार और तदनुषंगी कार्यों का पूरा वर्णन करना चाहिए। यहाँ यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि वे क्रांतिकारी विचार और आंदोलन आज भी अनुकरणीय हैं, इसलिए वह लिख रहा हूँ, ऐसा कोई न समझे। क्या, क्यों और कैसे घटित हुआ,

केवल इतना ही यहाँ कहना है। उनमें से किन्हीं या कुल घटनाओं का समर्थन नहीं है यह।

अंग्रेजी शिक्षा का प्रारंभ

भगूर की प्राथमिक पाठशाला में पाँचवीं कक्षा उत्तीर्ण कर लेने के बाद भी घर की कुछ परिस्थितियों के कारण डेढ़-दो वर्ष मैं भगूर में ही रहा, पर अंग्रेजी पढ़ता रहा और अगली दो कक्षाओं का पाठ्यक्रम भी मैंने पूरा कर लिया। गणित विषय में मेरी रुचि नहीं थी। फिर भी महाविद्यालय तक की परीक्षाओं में मैं उस विषय में अनुत्तीर्ण कभी नहीं हुआ। भगूर में मेरे साथ के मारवाड़ी लड़के मौखिक गणित में बहुत प्रवीण रहते थे। उनका व्यवसाय ही था बेचने-खरीदने का। तोला-माशा से लेकर बीस मन तक के हिसाब वे तड़ातड़ करते जाते। मेरा क्षेत्र कविता-लेख आदि का था। मारवाड़ियों के बीच जब कभी मैं फँस जाता, तब वे अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए मौखिक हिसाब की तोप मुझपर दाग देते। मैं उनके प्रश्नों का उत्तर जल्दी नहीं दे पाता तो वे लोग ठहाका लगाकर हँसते और कहते—अरे सावरकर! तुम तो बड़े बुद्धिमान छात्र हो। फिर, यह तो छोटा-मोटा हिसाब है। यह भी कर नहीं पाओगे तो तुम्हारा काम कैसे चलेगा? तुम्हारी कविता और वह अंग्रेजी कैट-मैट से क्या होगा?' बड़ा अपमान होता मेरा। फिर मैं भी तीर छोड़ता—'आपका लड़का तो मुझसे क्या, न्यायमूर्ति रानडे से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि न्यायमूर्ति भी ये हींग-तेल का हिसाब तत्काल नहीं कर सकते। ऐसा करो, अपने लाड़ले को हाई कोर्ट का जज ही बना डालो।'

एक अन्य ऐसी ही रोचक बात मैं यहाँ कहना चाहता हूँ। मेरे निकट के एक संबंधी थे। उनकी बुद्धि वास्तव में बड़ी तीक्ष्ण और विकासशील थी। परंतु उसे छोटे क्षेत्र में ही बंद रहना पड़ा था। फलतः वह बौनी ही रह गई थी। अब ये सज्जन जब-तब अपनी बुद्धि के वैभव का प्रदर्शन करने के लिए नितांत छोटी उपलब्धियों को ही सामने लाते। उन्होंने नासिक तहसील का भूगोल रट रखा था। यह पारंगतता उनके ज्ञान मापने की कसौटी थी। किसीके भी ज्ञान की परख वे इसी कसौटी से करते। नासिक तहसील का भूगोल रट लेते ही उनका छात्र मानो उपाधिधारी हो जाता। वे चाहते थे कि कभी मैं उनकी पकड़ में आऊँ और वे अपनी इस कसौटी से मेरी सारी विद्वत्ता की किरकिरी करें।

जब उनसे किसी धार्मिक या राजनीतिक विषय पर बहस हुई, तब मैं दसवीं कक्षा का छात्र था। उनके तर्क आदि मेरे सामने कैसे टिकते? मैंने अपनी बात की पुष्टि में दुनिया के अनेक देशों और स्थानों का भी उल्लेख किया। वे बहुत चिढ़ गए

और चिल्लाकर बोले, 'बस! बस! मुझे भूगोल के पाठ तुमसे सीखने की आवश्यकता नहीं है। विश्व का भूगोल मेरे सामने बघार रहे हो, पर इस क्षेत्र में मेरे कक्षा तीन के छात्र भी तुमसे बहुत भारी हैं।' उन बजरबट्टुओं में से एक को उन्होंने तुरंत कहा—'पूछ तो इससे भूगोल के दो-एक प्रश्न।' गुरुजी का इतना कहना था कि एक बजरबट्टू ने मेरी ओर एक प्रश्न दाग दिया—'तुम्हें विश्व का भूगोल याद है न! अच्छा तो फिर बताओ, दारणा नदी के किनारे कौन-कौन से गाँव हैं? या काजवा नदी के किनारे के गाँवों के नाम ही बता दो।' मैं चुप ही रहा और मुसकराने लगा। उस छात्र ने दोनों नदियों के किनारे के गाँवों के नाम तड़ातड़ कह डाले। गुरुजी ने मुझे हर विषय में अनुत्तीर्ण घोषित कर दिया। उनका कहना था कि जिस किसीको दारणा या काजवा नदी के किनारे के गाँवों के नाम ज्ञात नहीं, उसे राजनीति या धर्म की क्या समझ?

विद्वत्ता-परीक्षण की मूर्खतापूर्ण कसौटी

गाँव खेड़े का जो अनुभव मुझे हुआ और जो उससे अधिक आगे न निकल पानेवाले सभी बी.ए., एम.ए. तक शिक्षित लोगों को होता है, वह मजेदार है। इन ग्रामीणों के किसी कूट प्रश्न पर दुनिया की सारी विद्वत्ता कब बलि चढ़ जाएगी, यह निश्चित नहीं है। कोई भी पढ़ा-लिखा व्यक्ति उनके बीच पहुँचे तो उसे गाँव के सारे अनाड़ियों में से कोई एक सयाना बड़े छद्म विनय से वह कूट प्रश्न पूछता और उसका उत्तर जल्दी नहीं मिलता या मिलता ही नहीं, तो उस पढ़े-लिखे की सारी विद्वत्ता व्यर्थ ठहरा दी जाती।

यदि कोई विद्वान् ज्योतिषी गाँव खेड़े पहुँचेगा और कहेगा कि उसे सौरमंडल तथा ग्रह-नक्षत्रों की गति और संख्या की जानकारी है तो उससे पूछा जाएगा, 'आप इतने दूर के तारों की गिनती कर लेते हो तो पहले मेरे घर की खपरैलों की संख्या तो बताओ।' ऐसे विकट प्रश्न पर वह ज्योतिषी चुप ही रहेगा। दूसरा कोई शेर होकर कहेगा, 'अरे, जो आँखों के सामने के खपरैल नहीं गिन सकता, वह दूर आकाश के तारे गिनने की गप ठोंके! वाह, क्या विद्वत्ता है आपकी! सिल्वर या गिलट के आभूषण जैसे दरिद्रता के दारुण दुःख को भुलाने के काम आते हैं, वैसे ही अज्ञान के गहन अंधकार में से उपजे विकट प्रश्न ज्ञानीपन का तमगा प्रदान कर अल्पकालिक ही सही, पर सुख तो प्रदान करते हैं और इस दृष्टि से यह ठीक भी है।'

विद्वत्ता की परीक्षा लेने की ऐसी कसौटियाँ केवल गाँव खेड़े में ही दिखती हैं, ऐसा नहीं है। इस विचित्र पद्धति से पहले अनेक राज दरबारों में भी अतिथि विद्वानों की ऐसी ही परीक्षा लेकर उन्हें नीचा दिखाया जाता था। यह तथ्य अनेक प्राचीन

ग्रंथों में मिलता है। कोई विद्वान् जब अपने किसी मत को स्थापित करने या कोई अपराजेय पत्र लेकर निकलता, तब उसके प्रतिद्वंद्वी विद्वान् उससे ऐसे विचित्र प्रश्न पूछकर उसे परास्त करने का प्रयास करते थे, चाहे वह प्रश्न विषय से संदर्भित हो या न हो। शंकराचार्य-मंडन मिश्र के बीच के वाद का प्रतिपाद्य विषय था—कर्मकांड या ज्ञानकांड में से श्रेष्ठ या मोक्षदाता कौन? पर शंकराचार्य से प्रश्न पूछे गए कामशास्त्र के। रेखागणित या बीजगणित के प्रश्नपत्र में उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकार में भेद या होमर अंधा था या आँखोंवाला, ऐसे प्रश्न जितने सुसंगत कहे जाएँगे, उतने ही कामशास्त्र के प्रश्न थे। उससे भी कठिन प्रसंगों के बीच से विद्वानों को गुजरना पड़ता रहा है। रामानुजाचार्य के काल में कोई एक विद्वान् अजेय पत्र लेकर दिन में मशाल जलाने निकला था। दिन में मशाल जलाने का अर्थ था चारों ओर अंधकार या ज्ञानांधकार है; उसमें मार्ग प्रदर्शन करने के लिए मुझे मशाल जलानी पड़ रही है।

उस विजयेच्छुक पंडित को विश्व के समस्त चौकड़ों की सूची मुखाग्र सुनानी पड़ती थी, जैसे ब्रह्मदेव के मुँह चार, दिशा चार, वेद चार, पुरुषार्थ चार, आश्रम चार, वर्ण चार, युग चार, दशरथ के पुत्र चार आदि सारी बारहखड़ी सुनानी पड़ती। उसमें से कोई एक भी चौकड़ा वह भूल जाए और परीक्षकों के ध्यान में वह चौकड़ा आ जाए तो उस विजय के इच्छुक पंडित की सारी विद्वत्ता पानी-पानी। उसकी मशालें बुझा दी जाएँ और उसके साथ ही अजेय पत्र प्राप्त करने की उसकी महत्त्वाकांक्षा भी बुझ जाए—एक ओर ऐसे आचार और पोली पंडिताई, तो दूसरी ओर परीक्षा लेने की विचित्र कसौटियाँ।

जैसाकि पूर्व में ही मैंने कहा, अंग्रेजी की दो कक्षाओं का अध्ययन मैंने घर पर पूरा किया था। आयु के तेरहवें वर्ष के आसपास पिताजी ने मुझे आगे की पढ़ाई करने नासिक भेजा। मेरे बड़े भैया बहुत पहले से नासिक में थे। जिस दिन मुझे अपना गाँव भगूर छोड़ना था, उस दिन मेरे बचपन के साथियों और पड़ोसियों को बुरा लगा। मैं भाग्यशाली था कि उस छोटी आयु में भी छोटे-बड़े बहुत स्त्री-पुरुष मुझे प्यार करते थे, मेरे प्रति भक्ति-भाव रखते थे। मुझे भी उनसे बिछुड़ते दुःख हुआ था। कुछ तो मुझे छोड़ने नासिक तक आए थे।

नासिक में तब एक पाठशाला थी 'शिवाजी स्कूल'। पुणे की रानाडे आदि की मंडली ने उसकी स्थापना की थी। पुणे के न्यू इंडिया स्कूल की तरह ही यह भी राष्ट्रीय आदर्शों की पाठशाला है, यह उसके संस्थापक कहा करते थे। पुणे के न्यू इंडिया स्कूल की तरह नासिक का यह शिवाजी स्कूल है, इस बात को कुछ छात्र यूँ कहते थे कि पुणे के स्कूल के संस्थापकों जैसे ही नासिक के स्कूल के

संस्थापक भी नासिक के विष्णु शास्त्री चिपळूणकर होने ही चाहिए। इन सब बातों को सुनकर मैंने उसी नई राष्ट्रीय पाठशाला में जाने का निश्चय किया। एक अन्य कारण यह था कि घर की पढ़ाई के आधार पर किसी दूसरी पाठशाला में मुझे कक्षा तीन में नहीं लिया जाता, जबकि उस राष्ट्रीय स्कूल में मेरी परीक्षा लेकर कक्षा तीन में प्रवेश दिया गया।

नासिक में मैं और मेरे बड़े भाई कानड्या मारुति मंदिर के पास रहते थे। इस मंदिर के पास लड़कों का जमघट लगा रहता था, पर वे सब मुझसे वय और कक्षा में बड़े थे। इतना ही नहीं, उनकी प्रवृत्ति और रुचियाँ भी मुझसे अलग थीं। वे वहाँ यूँ ही खड़े-खड़े बेमतलब की गपें हाँकते थे, नाटक और गाने-बजाने की बातें करते रहते थे। इसका यह अर्थ नहीं कि वे सब-के-सब बदमाश थे। वे सब सामान्य छात्र ही थे, जो कक्षा में पीछे बैठना पसंद करते हैं और उपद्रवप्रेमी होते हैं। उस श्रेणी के खेमे से मेरी प्रवृत्ति अलग थी। अध्ययन, व्यायाम, वाचन आदि में मेरा समय बँटा रहता था। शेष समय में राजनीति पर चर्चा करना मुझे अच्छा लगता था। पर उनमें मुझे ऐसा कोई दिखा नहीं। मुझे तो उन पढ़े-लिखे नागरिकों की तुलना में भगूर के वे ग्रामीण बंधु ही अधिक ज्ञानी, देशभक्त, सत्संगी और राजनीतिक चर्चा के अधिक मर्मज्ञ लगते थे। इसलिए नासिक में कई महीनों तक मेरा मन उदास रहा था। उसमें भी एक बात यह कि पिताजी से मुझे कुछ अधिक लगाव था। वे भी इसी कारण हर पखवाड़े नासिक आते थे। उनके आने की राह तकते मेरी आँखों में आँसू आ जाते थे। वे जब तक रहते, तब तक के दोनों दिन मैं खुश रहता। वे लौटते तो मेरे मन में उथल-पुथल मच जाती। पहले हम दोनों भाई घर में ही रसोई बनाते थे, पर फिर भोजनालय जाने लगे। मेरा स्वभाव बड़ा संकोची था। भोजनालयों में तो बिना माँगे कोई परोसता नहीं, इस कारण कितने ही दिन मैं अधभूखा ही रहता। गंगाराम के उस भोजनालय में हम पैसा भी अधिक देते थे। वहाँ की रोटियाँ भी मुझे अच्छी लगती थीं। खूब खाने को जी करता, पर माँगने में बहुत लज्जा आती। रोटी चाहिए? जब वह चिल्लाकर पूछता तो मेरे मुँह से 'न' ही निकल जाती। परोसिया भी खुश हो जाता। वैसे भी वह मुझे सताना ही चाहता था। भोजनालय की इस दिक्कत का हल मेरे बड़े भैया ने निकाला। उन्होंने मुझे एक प्रसिद्ध हलवाई के यहाँ जलेबियों की बंधी लगवा दी। व्यायाम हो जाने के बाद मैं वहाँ जाकर जलेबियाँ खाता। पर उस समय ब्राह्मणों का इस तरह खुले में हलवाई के यहाँ कुछ खाना निंदनीय समझा जाता था। खानेवाले छिपाकर खाते थे, पर मुझे इसमें कुछ गलत नहीं लगता था। मैं सहपाठियों के बीच अपने इस कार्य का समर्थन करता था। अन्न से जातिच्युत होनेवाले तर्क का सतत उपहास मैं तब भी करता था।

जिस शिवाजी स्कूल में मैं तीसरी कक्षा में भरती हुआ, उसीमें तीन माह बाद कक्षा चार में बैठने लगा। वहाँ के शिक्षकों से मुझे बड़ा स्नेह मिला। मेरी नियमितता, बुद्धि की तीव्रता, बहुश्रुतता से वे प्रभावित थे। हाई स्कूल की प्रावीण्य सूची में मेरा नाम आने की संभावना उन्हें लगती थी। मुझे भी उस स्कूल का अभिमान हो गया था। मैंने भगूर में रची कविताएँ, लेख आदि अपने शिक्षकों को दिखाए। इसकी प्रशंसा मेरे शिक्षकों ने अपने परिचितों से सहज ही की। उस समय नासिक से 'नासिक वैभव' नामक एक समाचारपत्र प्रकाशित होता था। उसके संपादक कोई श्री खरे थे, वे मुखत्यार वकील भी थे। उन्होंने भी जब सुना और देखा तो बड़ी प्रशंसा की। इस प्रोत्साहन के कारण एक लेख लिखने की इच्छा मेरे मन में उठी और मैंने एक लेख 'हिंदू संस्कृति का गौरव' या ऐसे ही किसी शीर्षक से लिखा। वह लेख देखकर वे चकित हो गए; उन्हें लगा कि वह मेरा लिखा नहीं है, पर शिक्षकों ने उसके मेरे होने की पुष्टि की। 'नासिक वैभव' के संपादक इतने प्रसन्न हो गए कि वह लेख उन्होंने संपादकीय के स्थान पर दो अंकों में छापा। लेख के वे तेजस्वी विचार उस सामान्य समाचारपत्र की भाषा में अलग ही दिखाई दिए। उस भाषा-शैली और विचारों का बड़ा प्रभाव समाज पर हुआ। उस लेख की बड़ी पूछ-परख हुई और काफी बड़े लोगों को यह बात ज्ञात हुई कि इस लेख का लेखक शिवाजी स्कूल का एक छोटा छात्र है।

नासिक का एक दूसरा समाचारपत्र था 'लोक-सेवा'। उसके संपादक व मालिक थे प्रसिद्ध नाटककार श्री अनंत वामन बर्वे। शिवाजी स्कूल के संचालक श्री रानडे, जोशी आदि भी पुणे के ही थे। 'लोक-सेवा' पुणे में चलते लोकमान्य तिलक के आंदोलनों का मुखपत्र जैसा ही था। नासिक के गणपति उत्सवों में राष्ट्रीयता की भावना भरने का महत्त्वपूर्ण कार्य श्री बर्वे ने किया था। शिवाजी उत्सव आदि राष्ट्रीय पक्ष के आंदोलनों के भी सूत्रधार वे ही रहते थे। राष्ट्रीय उत्सवों में राष्ट्रीय गीत भी वे गाया करते थे। मैं उन गीतों को बड़ी तल्लीनता से सुनता था। आज भी उनमें से एक-दो गीतों के चरण मैं गुनगुनाता रहता हूँ, इतने प्रभावकारी थे वे गीत।

ये सारे कार्यक्रम नासिक की नदी गोदावरी, जिसे 'गोदा गंगा' या केवल 'गंगा' ही कहा जाता था, के किनारे प्रायः संपन्न होते थे। मेरे सहपाठी गंगा के किनारे जब मटरगश्ती करते घूमते थे, तब मैं अकेला इन राष्ट्रीय कार्यक्रमों में बिन बुलाया मेहमान बनकर घुस जाता और तन्मयता से सब सुनता, आत्मसात् करता। नासिक में आने के दस-बारह माह बाद तक मेरा ऐसा कोई मंडल नहीं बना था। मैं अकेला ही सबकुछ देखते-सुनते मन-ही-मन योजना बनाता रहता था। मेरे शिक्षकों ने श्री बर्वे

से मेरा जो परिचय एक भावी कवि और लेखक के रूप में कराया था, उसका लाभ यह हुआ कि अनेक समारोहों और संस्थाओं में मेरा प्रवेश सुलभ हो गया।

पहला व्याख्यान

नासिक में प्रतिवर्ष आयोजित होनेवाली वाद-विवाद प्रतियोगिता में मुझे भी भाग लेना चाहिए, यह बात श्री बर्वे ने कही। श्री बर्वे के कहने पर मेरा आवेदन विलंब होते हुए भी स्वीकार कर लिया गया। मैंने अपना भाषण लिखकर अपने शिक्षकों को दिखाया। आवेदन के तीसरे दिन ही कार्यक्रम था। इस तरह के आयोजनों में छात्रों के विषय प्राय: निश्चित ही रहते हैं और यदि एक ही विषय पर बोलनेवालों की संख्या अधिक हुई तो पहले दो-तीन प्रतियोगियों के भाषण हो जाने के बाद श्रोताओं के लिए वह चर्वित-चर्वण लगने लगता है। मेरा आवेदन सबसे अंत में दिया गया था। अत: मेरा क्रम सबसे अंत में ही था। सारा कुछ पहले ही सुन चुके और घर जाने की मन:स्थिति बनाए श्रोताओं के सामने मुझे अपना कौशल दिखाना था। पहले के दस-पाँच वाक्यों ने ही श्रोताओं को बाँध लिया। मेरा भाषण उत्तम रहा। सभी ओर से उसकी प्रशंसा की जाने लगी। परीक्षकों ने निर्णय भी तत्काल ही सुनाया और मैं प्रथम घोषित किया गया। निर्णय सुनाने के पहले परीक्षकों में कुछ कानाफूसी हुई। श्री बर्वे ने यह बात भी सबके सामने प्रकट कर दी कि जो भाषण मैंने दिया था, उसका मूल पाठ मुझ जैसे कुमार वय के लड़के का नहीं हो सकता, ऐसा परीक्षकों को लगा था। मूल पाठ को एक तरफ रखकर भी सोचें तो भाषण उत्तम ही रहा। फिर भी वह एक प्रश्न था, जिसका निवारण शिक्षकों ने तथा श्री बर्वे ने किया। उन्होंने कहा, 'हमें ज्ञात है कि कुमार सावरकर उत्कृष्ट लेख लिखते हैं और उनमें से कुछ समाचारपत्रों में प्रकाशित भी हुए हैं। कुमार सावरकर की मोहिनी छवि, अल्पवय और उस अनुपात में किसीकी भी प्रशंसा प्राप्त हो, ऐसी अलंकृत भाषा, शास्त्रशुद्ध निबंध-पद्धति, अस्खलित वक्तृत्व आदि का जो गुण-गौरव आपने किया है, इससे प्रोत्साहन पाकर यह कुमार भविष्य में अधिकाधिक यशस्वी होगा, ऐसा विश्वास किया जा सकता है।'

मैंने वक्तृत्व-कला कैसे सीखी?

भरी सभा में यही मेरा पहला भाषण था। जब मैं छोटा था, तभी मेरी भाषण-प्रवृत्ति के पौधे में पहले चुल्लू भर पानी डालने की दया नासिक की उपरोक्त प्रतियोगिता ने की। अब अनेक विद्वान, संपादक आदि मुझसे बार-बार कहते हैं कि मैंने यह वक्तृत्व-कला किस तरह सीखी, इस विषय पर मैं एक लेख लिखूँ।

मेरे प्रथम सार्वजनिक भाषण के पूर्व अर्थात् वय के चौदहवें वर्ष के भी पहले भाषण-कला सीखने में मुझे किन-किन साधनों से सहायता मिली, वही संक्षिप्त में लिख डालूँ तो अधिक कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं रहेगी, क्योंकि मेरा ज्ञानार्जन और कार्य-क्षेत्र जैसे-जैसे व्यापक होता गया, वैसे-वैसे वे साधन भी विस्तृत होते गए। उनका विस्तार तो हुआ, पर प्रकार बहुधा वही रहा।

वय के बारहवें-तेरहवें वर्ष में ही मैंने वक्तृत्व-कला विषय पर दो-तीन मराठी पुस्तकें पढ़ी थीं। भाषण का मूल पाठ-निबंध किस तरह लिखा जाए, इसका वर्णन उन पुस्तकों में था—विषय-प्रवेश, विषय-विवेचन, पूर्व पक्ष, उत्तर पक्ष, खंडन, मंडन, संकलन, समापन इत्यादि। इस पद्धति से मैं निबंध लिखता। इससे अलग भी जो निबंध-लेखन के प्रकार भिन्न-भिन्न ग्रंथकारों के हैं, उनका भी प्रयोग करके देखता। पहले इसी क्रम से निबंध लिखना आवश्यक है। जैसे पहले क्रम से सात सुर जानना जरूरी है, वैसे ही यह है। गायक हो जाने के बाद जैसे उन सुरों को उलट-पलटकर रागदारी गाना सरल होता है, वैसे ही विषय-प्रस्तुति का शास्त्र एक बार आत्मसात् हो जाने पर उसमें परिवर्तन करना अच्छा रहता है। बाद की स्थिति में तो लेखक अपनी स्वतंत्र शैली भी विकसित कर लेता है, परंतु निबंध या मूल पाठ-लेखन वास्तव में किसी व्याख्यान का द्वितीय भाग होता है।

भाषण की आत्मा तो भावना होती है। विषय से स्वयं का तादात्म्य महत्त्वपूर्ण है। इसी कारण निबंध या व्याख्यान लिखने की अपेक्षा जब मैं उसे मौखिक रूप से गढ़ता चलता हूँ, तब ही मेरा भाषण सरस होता है, क्योंकि जैसे-जैसे भावना चेतती है, वैसे-वैसे भाषा, गति, आवेश, मुद्राविकार और अभिनय यथावत् सहज प्रकट होने लगता है। परंतु यह तन्मयता जिस भाषा से यथावत् प्रकट होनी है, उस भाषा पर अधिकार होना चाहिए। उस भाषा के शब्द, अलंकार, वचन आदि सब भावना के पीछे-पीछे—अश्व के पीछे चलनेवाले पहिए की तरह सत्वर, सलिल और सहज दौड़ने चाहिए। मैंने बचपन से अनेक कविताएँ, सुभाषित आदि कंठस्थ किए थे। जिस ग्रंथ से मिले, उससे उत्तम-उत्तम वाक्य, वाक्य-समूह मिलते ही लिख लिये थे और अपने निबंधों में उनका यथोचित उपयोग करने का प्रयास मैं करता रहता था। विशेषतः गद्य लिखते समय गद्य को न तोड़ते हुए उसीके प्रवाह में कविताओं के उद्धरणों का अंतर्भाव करने की रुचि मुझमें अधिक ही थी।

भावना, भाषा-शैली, अभिनय-गति आदि से भाषण खिल जाता है, यह बात सत्य होते हुए भी उसे वास्तव में परिणामकारी, प्रबल और दुर्जेय करना हो तो मुख्यतः उस विषय का ज्ञान होते हुए भी अन्य अनेक विषयों की जानकारी का बड़ा संग्रह पास में रहना चाहिए। मैं सोचता हूँ कि मेरे भाषण का जो अमोघ परिणाम

लोगों पर होता था, उसका कारण उस प्रसंग, आयु और विषय की तुलना में सहायक मेरे ज्ञान का बड़ा भंडार ही था। लिखने बैठता, तब 'क्या लिखूँ' की चिंता में कलम का अंतिम सिरा मुँह में डालकर चूसते रहनेवाली स्थिति मेरी कभी नहीं होती थी, उलटा यह होता कि कलम की नोक पर विषय जमघट और धक्का-मुक्की करने लगते थे। उनमें से किसे आगे बढ़ने दूँ और किसे पीछे रहने दूँ, ऐसे चौकीदार की भूमिका ही मुझे करनी पड़ती थी। इन सबका कारण बचपन से विविध विषयों का अथक वाचन, चिंतन और निरीक्षण था।

सारांश यह कि मेरी भाषण-कला की प्रतिभा का तेजस्वी आधार प्रकृतिप्रदत्त ही था। प्रकृतिप्रदत्त प्रतिभा भी अधिकतर प्रयासपूर्वक विकसित होती है और इस दिशा में मैंने अध्ययन, वाचन, चिंतन आदि प्रयत्नाधीन गुणों का संग्रह नित्य ही किया। इसलिए मेरे भाषण में जो ठोस, प्रबल और अजेय परिणाम दिखता है, वह उसीका प्रतिफल है।

संक्षेप में यह कि भाषण-कला के लिए कुछ आवश्यक घटक यद्यपि मुझमें प्रकृतिप्रदत्त ही थे, फिर भी उनका विकास कर, उसे परिशोधित कर, उसे कला का लालित्य प्राप्त कराने के लिए मैंने पूरे प्रयास भी किए। यह बात सच है कि ज्ञान-साधना मैंने ज्ञान-प्राप्ति के लिए ही की थी। व्याख्यानों में जो उसका उपयोग हुआ, वह दूसरा लाभ था। यहाँ यह भी कहना प्रासंगिक होगा कि जैसे काव्य-कला सिखानेवाला बचपन में कोई नहीं मिला था, वैसे ही भाषण-कला का मार्ग प्रदर्शन करानेवाला भी कोई नहीं मिला। इतना ही नहीं, इन दोनों में सहानुभूति से प्रोत्साहन देनेवाला भी कोई नहीं मिला। इसके विपरीत मेरे समवयस्कों ने अपने अरसिक अज्ञान के कारण और समकालीन प्रौढ़ों ने मत्सर भावना से मेरा मनोभंग तथा तेजोभंग करते रहने का ही प्रयास किया। परंतु इस संघर्ष से सुप्त अग्नि की चिनगारियाँ अधिक तेजी से उड़ने लगीं। किशोर वय के बाद भी भाषण-कला की अभिरुचि के कारण मैं डिमास्थेनीस, सिसरो, शेरिडन आदि अंग्रेजी मराठी चरित्रों का और लेखों का अध्ययन करता रहा। कई उद्धरण निकालकर कंठस्थ किए। मैकाले द्वारा लिखित अंग्रेजों के इतिहास की कई व्याख्यान-उपयोगी कंडिकाएँ मैंने बड़े चाव से कंठस्थ की थीं। महाभारत के श्रीकृष्ण के सभापर्व और कर्णपर्व में दिए अमोघ ओजस्वी भाषण मैंने गद्य और पद्य—दोनों में बार-बार पढ़े। मैं स्वयं को ही वे सब सुनाता। मुझे वे बहुत प्रिय थे। उन संभाषणों का हर गुण—उसमें वर्णित कोटिक्रम, तर्क-वितर्क, वह अधिकार, वह भाषा, वह तेज, वह प्रभाव, वह प्रकाश मुझे प्रभावित करता। निस्संदेह श्रीकृष्ण जैसा वाङ्मयी तो केवल श्रीकृष्ण ही था।

मेरे उपर्युक्त प्रथम सार्वजनिक भाषण को अर्थात् मेरे वय के संदर्भ में

जिन्होंने उसे बहुत सराहा, उनमें नासिक के एक आशु कवि, तिलक महाराज के अनन्य भक्त, वहाँ के नेता और वकील बलवंत खंडूजी पारख थे। इस भाषण के कारण उनसे मेरा परिचय हुआ। वे मेरे पिताजी के भी परिचित थे। अतः 'मैं भगूर के सावरकर का पुत्र हूँ' यह जानकर उन्होंने मुझे अतिरिक्त स्नेह दिया। रास्ते में मिल जाते तो मेरे सिर पर प्यार से हाथ फेरते। अपने साथ चल रहे किसी नेता या वकील से कहते, 'यही हमारे मित्र सावरकर का लड़का है। अच्छा, वत्स सावरकर! यह नाम सार्थक करना। जिसका कर (हाथ) गिरते राष्ट्र को सँवारे (सावर का मराठी अर्थ 'सँवारना' ही है), ऐसा सावरकर तू बन।' पारखजी शब्दों के जादूगर थे, बड़े हँसानेवाले वक्ता थे। आशु कवि भी ऐसे कि घटना घटते-घटते उसका आँखों देखा हाल छंदोबद्ध सुनाते जाते। मराठी काव्य का फटका (फटकार) रूप उनको विशेष प्रिय था। अन्य श्लोक जैसी कविताएँ भी वे करते थे।

उनके हास्यमूर्ति होने के कारण पंगतों, बैठकों, सभाओं आदि में उनकी उपस्थिति की चाह सभी को होती थी। उनकी उपस्थिति से अदम्य हास्य का झरना मानो बहता रहता था।

जब मैं नासिक आया तो मुझे अपनी राजनीतिक बौद्धिक प्रवृत्ति का कोई साथी नहीं मिला था। अतः मुझे अकेलेपन की भावना बहुत सताती थी, पर कुछ समय ऐसे निकल जाने के सात-आठ माह बाद ही मैं नासिक के प्रथम श्रेणी के नागरिकों तक से परिचित हो गया। इस कारण मुझे पहले जिनके बीच रहना पड़ा था, उन अज्ञ, अनाड़ी और ऊधमी लड़कों पर भी मेरा दबदबा बन गया। उनमें भी मेरी संगति से मेरी ही प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे विकसित होने लगीं और एक संप्रदाय का बीज अंकुरित होने लगा। इसी समय घर बदलकर तिलभांडेश्वर की गली में वर्तक के मकान के एक कमरे में हम रहने लगे। भोजनालय चालू ही था। इस स्थान पर जिन लोगों से मेरा सरोकार हुआ, वे उस पहले स्थान से अधिक अच्छे स्वभाव, योग्यता और प्रवृत्तिवाले थे। मेरे चरित्र-प्रवाह के कितने ही महत्त्वपूर्ण प्रसंगों और काल से इसी मंडली का बार-बार संबंध आनेवाला है। इसलिए उनके स्वभाव, चरित्र आदि का वर्णन यहाँ नहीं कर रहा हूँ।

प्लेग का प्रकोप

भगूर जाना-आना होता ही रहता था। मुझे चेचक निकल आई तो मैं बहुत दिनों भगूर में ही रहा। बंबई और पुणे में प्लेग का जो दुःखद प्रकोप हुआ, ये वही दिन थे। प्लेग के भयानक स्वरूप और उससे भी अधिक भयानक प्लेग निवारणार्थ सरकारी दमनशाही के वर्णन लोगों को 'केसरी' में पढ़ने के लिए मिलते थे। मेरे

पिताजी मुझसे 'केसरी' का वाचन करवाते थे। उसे सुनने गाँव के बहुत सारे लोग हमारी बैठक में आते थे। जिसे आज प्लेग लगा, वह कल चला गया। घर में एक आदमी को प्लेग होते ही देखते-देखते सारा घर मानो अग्नि की भेंट चढ़ जाता। घर में पाँच-छह लाशें बिछ जाएँ तो कौन किसको उठाए। बाड़े, गली-मोहल्ले, सब जगह कराहने की आवाजें, भागमभाग, रोना-धोना। जो आज दूसरों की लाश उठाते, वे ही दूसरे दिन प्लेग-पीड़ित हो जाते और तीसरे दिन उनका शव कोई तीसरा ढोता। ऐसे में कौन किसका शव उठाए? बच्चे माँ-बाप के शव बिना उठाए भाग जाते। वैसे ही बच्चों के शवों को छोड़कर माँ-बाप भाग जाते। घर में शव है, यह जानते ही सरकारी सिपाही घर में घुस आते। घर शुद्ध करने के बहाने उसे नष्ट करते, लूटते। बचे हुए लोगों को सेग्रेशन-शिविरों में कैद रखा जाता, पर वहाँ भी प्लेग पीछा नहीं छोड़ता, पहुँच ही जाता। घर-द्वार, गली-मोहल्ले में फैले दैवी प्लेग के साथ फैले राजनीतिक प्लेग के भयंकर वर्णन पढ़-सुनकर लोगों के हृदय कंपित हो उठते।

बंबई तथा पुणे में फैले प्लेग के कहर के वर्णन पढ़-सुनकर जिनके शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते थे, हमारी बैठक में बैठनेवाले हम भगूर के लोगों में से कई उसी प्लेग के शिकार होनेवाले हैं, वह घर और गाँव भी उजाड़ हो जानेवाला है, यह तब किसे पता था। पुणे में लोग कैसे मरते हैं, यह सुनकर घबरा जानेवाला हर श्रोता—एक-दो अपवाद छोड़कर—उस प्लेग में मर गया। उस एक-दो अपवाद में एक अपवाद मैं स्वयं था। मैं कथावाचक अकेला ही उस कथा को पढ़ने-सुनानेवालों में बचा रहा।

वीर चापेकर और रानडे

बात-बात में हिंदुस्थान भर में आँधी में आग की तरह प्लेग फैल गया। प्लेग-निवारण का सरकारी डंडा भी उसी तरह उसके पीछे-पीछे चला। जगह-जगह दंगे भी हुए, परंतु प्लेग की या प्लेग-निवारक अत्याचार की आँखें न खुलीं। पुणे में तो स्थिति बहुत ही बुरी हुई। सिपाहियों की धींगामुश्ती, बूटों से ठोकर मारना, घर गिराना, जलाना, देवगृह में रखी मूर्तियाँ भी फेंक देना, मरते पति से पत्नी को और माँ से बच्चे को जबरन खींचकर सेग्रेशन के कारावास में भेज देना—इन प्लेग-निवारक टोलियों की धींगामुश्ती दैत्यों के ये अत्याचार सभी लोगों को असह्य और त्रासद लगने लगे। इसका बदला लेने के लिए सन् १८९७ के जून में चापेकर बंधुओं ने रैंड और आयर्स्ट नामक दो अंग्रेज अधिकारियों का वध उनकी तेज दौड़ती बग्घी पर चढ़कर गोली मारकर, कर दिया। यह वध उस रात में किया गया, जिस रात से

सरकारी तौर पर महारानी विक्टोरिया का हीरक उत्सव मनाया जाना था। गोली शासन के मर्म पर लगी। साहसी विद्रोह का अंत:स्थ उद्देश्य सफल हुआ, पर सरकार पागल हो गई। विलायत तक पुणे के ब्राह्मणों का द्वेष और दहशत पहुँच गई। सरकार की रावणी गर्जनाएँ होने लगीं। पुणे के नेताओं की पीठ पर बीच चौक पर बेंत मारने होंगे, ऐसी बातें कही जाने लगीं। उसे उतना ही निडर प्रत्युत्तर 'केसरी' ने दिया। उसने अपने संपादकीय में पूछा—'सरकार का दिमाग तो ठिकाने पर है?' तिलक पकड़े गए। पुणे के दूसरे प्रमुख नेता नातू को सीमा-पार का दंड सुनाकर कारावास में रखा गया। राष्ट्रीय विचारों के अन्य पत्रों के संपादक भी बंद कर दिए गए।

दामोदर पंत और बालकृष्ण पंत चापेकर पकड़े गए। उनके द्वारा प्राप्त जानकारी ने तो आग में घी का काम किया। हिंदुस्थान से ब्रिटिश सत्ता का नामोनिशान मिटाने के लिए चापेकर बंधु वासुदेव बलवंत फड़के के रास्ते पर ही चलने का इरादा रखते थे। ध्येय की उतनी स्पष्टता या षड्यंत्र या कार्यक्रम की व्यापकता इनके पास अभी नहीं थी, पर बंबई स्थित रानी विक्टोरिया की प्रतिमा के मुँह पर कालिख पोतने, उसे जूतों की माला पहनाने आदि राजद्रोही कार्य उन्होंने इसके पहले ही किए थे। इन सब अपराधों के लिए उन्हें फाँसी दी गई। इस समाचार से पूरा देश दु:खी था। तभी दस हजार रुपए लेकर सरकार को चापेकर बंधुओं का नाम बतानेवाले द्रविड़ बंधुओं को चापेकर के तीसरे भाई वासुदेव और उसके एक मित्र रानडे ने दिनदहाड़े पुणे में मार डाला। इस समाचार से पूरा देश कंपित हो गया। उन्हें भी फाँसी पर चढ़ाया गया, परंतु चापेकर बंधुओं और रानडे को फाँसी दिए जाने के साथ ही उन प्लेग-निवारक नियमों को भी, जिनके कारण लोगों को असह्य कष्ट हुए और जिसका बदला लेने के लिए ही इन तरुणों ने वह अद्भुत भीषण कर्म किया, फाँसी पर चढ़ा दिया गया। वे सारे सिपाही भी पुणे से हटा लिये गए। वह कष्टकारी दमनशाही बंद हुई। यदि उपर्युक्त भीषण प्रतिक्रिया के पहले ही वह बंद कर दी जाती, तो? परंतु नहीं की गई। प्रतिक्रिया के बाद ही वह अप्रिय क्रिया हुई। ऐसा ही संयोग बना!

उपर्युक्त अति अद्भुत लोमहर्षक घटनाएँ लगातार और इतनी द्रुत गति से घटित हुईं कि मृत शरीर में भी उनके धक्कों से रक्त-संचार की गति तीव्र हो गई होगी। सारा देश अत्याचार से क्रुद्ध हो गया। फिर स्वदेश को स्वतंत्र करने के लिए मुझ जैसे पहले से बेचैन और शिवाजी तथा अन्य पौराणिक वीरों के रंग में रँगे युवक की तो बात ही क्या की जाए?

उपरोक्त घटनाओं का वर्णन मैंने जिन शब्दों में किया है, वास्तव में ये शब्द उन भावों के शतांश भी नहीं हैं जो उक्त घटनाक्रम को पढ़ते हुए मेरे मन में उठते रहे थे।

चापेकर-रानडे का मुकदमा, दंड, फाँसी आदि के वर्णन पढ़ते-पढ़ते समाचारपत्र के अंक मेरी आँखों से झरते आँसुओं से भीग जाते। अन्य कई लोग उनके साहस की प्रशंसा तो करते, पर उनका नाम लेना तो दूर, उन नामों को सुनते हुए भी थरथराते थे। समाचारपत्रों में भी उनके लिए गालियाँ ही लिखी होतीं। उन्हें वे 'देशद्रोही', 'कुल-कलंक' और न जाने क्या-क्या कहते! मैं इससे बहुत उदास और संतप्त हो जाता। मैं खुले रूप से उनका समर्थन करता और उन्हें 'वीर' (शहीद) कहता (तब तक 'हुतात्मा', 'देशवीर' आदि शब्द प्रचलित नहीं थे)। मुझे स्वभाषा की यह कमी बड़ी खलती थी। मैंने उसके लिए अनेक शब्दों की खोज की, परंतु बात बनती नहीं थी। जब मैजिनी के चरित्र का अनुवाद मराठी में किया, तब मैंने नेशनल 'मारटायर' के अर्थ में 'देशवीर' शब्द निश्चित किया। परंतु यह शब्द 'मारटायर' जैसा व्यापक नहीं था। इसलिए मैं बदल-बदलकर धर्मवीर, देशवीर, शास्त्रवीर आदि शब्दों का प्रयोग करता था। उत्तर भारत में प्रचलित 'शहीद' शब्द का भी प्रयोग मैंने किया था, परंतु वह शब्द अरबी भाषा का है, ऐसा ज्ञान होते ही उसका प्रयोग छोड़ दिया। अंदमान के कारागृह में अपने भाई से चर्चा करते समय मुझे 'हुतात्मा' शब्द सूझा और निश्चित ही वह 'मारटायर' शब्द से अधिक उपयुक्त, व्यापक और पवित्रतासूचक होने के कारण मुझे पसंद आ गया और मैंने उसे प्रचलित भी किया।

'केसरी' में उन्हें 'पागल', 'सिरफिरे' कहा जाता—उसे पढ़कर मन कड़वाहट से भर जाता। सामान्य लोगों में 'केसरी' के शब्द ज्यों-के-त्यों, बिना उनके अर्थ पर ध्यान दिए रूढ़ हो जाते थे। इसलिए मैं इन शब्दों का तीव्र विरोध करता था। मैं कहता—वे सिरफिरे, तो तुम मुर्दा। सिरफिरों से ही शत्रु अधिक डरता है। दंडसंहिता के भय से भी उन्हें 'सिरफिरे' कहने की आवश्यकता नहीं थी। दंड के भय से उन्हें 'अच्छे' मत कहो, पर गाली-गलौज क्यों करते हो? लोग अपनी कायरता ढकने के लिए उन्हें 'पागल' या 'सिरफिरे' कहते हैं, जबकि ऐसे ही कृत्य करनेवाले अंग्रेजों, रूसियों, आइरिशों को यही समाचारपत्र और यही लोग 'वीर', 'शहीद' आदि कहकर उनका सम्मान करते थे। ऐसा करने में उन्हें इंडियन पैनल कोड का डर नहीं लगता था।

इसी समय नाटकों में जाने के लिए घर से भागे पुणे के कुछ लड़के एक दिन हमारे घर में घुस गए। गणपति उत्सव में गाए जानेवाले कुछ वीर रसपूर्ण गीत मैंने पहली बार उनसे सुने। चूँकि वे पुणे के थे, इसलिए मैं और भगूर के मेरे मित्र उनसे चापेकर बंधुओं के बारे में अधिकाधिक पूछताछ करते और समाचारपत्रों द्वारा उनको गालियाँ देने की बातों पर लोगों को धिक्कारते, पर उनमें से दो प्रमुख लड़कों लवाटे

और अण्णा ने एक दिन बड़े गोपनीय ढंग से हमें बताया कि यद्यपि तिलकजी 'केसरी' में चापेकर को गालियाँ देते हैं, पर असली बात यह है कि तिलकजी ने ही उन्हें रैंड का खून करने का आदेश दिया था। मुझे मेरे पिता ने यह बात कह रखी थी कि पुणे के लोग बेढंगी गपें हाँकने में प्रवीण होते हैं। वे बात को इस ढंग से कह रहे थे, मानो उस सारे षड्यंत्र के बहुत निकट हों। फिर भी वह समाचार मुझे अच्छा लगा। मैंने मन-ही-मन कहा—ऐसा है तो तिलक जैसे वीर केसरी ने वीर केसरी के अनुरूप ही यह कार्य किया है, पर तुरंत ही लगा, यदि ऐसा है तो 'केसरी' तथा अन्य पत्रों द्वारा चापेकर आदि को 'सिरफिरे' आदि कहना और अधिक अक्षम्य तथा निंदास्पद है। राष्ट्र-कार्य के लिए चापेकर से अपना संबंध अस्वीकार करना, यह युक्ति तिलक जैसे नेता को, वीर सेनापति को, बचाने के लिए प्रयोग करने की छूट हो सकती है। पर यह महान् कार्य है, ऐसा कहकर उस महान् कार्य को करने के लिए पहले स्वयं युवा क्रांतिकारियों को उत्प्रेरित करना और उन वीरों द्वारा उसे कर डालने के बाद अपनी चमड़ी बचाने के लिए टोपी बदलकर उसी कृत्य के लिए उन्हें 'सिरफिरे', 'पागल' कहना, इससे अधिक लज्जास्पद तथा राष्ट्रद्रोही मूर्खता दूसरी और क्या हो सकती है; क्योंकि उन्हें 'सिरफिरा', 'पागल' कहने के बाद दूसरा कोई भी युवा ऐसा करने को मूर्खतापूर्ण मानकर डरेगा और वकील, न्यायमूर्ति, हाइकोर्ट का जज आदि बनना ही उसे देशभक्ति का मृतप्राय, परंतु बड़ा सभ्य और उचित मार्ग लगेगा तथा शत्रुंजयी बलिदान का जीवंत मार्ग पागलपन लगेगा। परिणामत: चापेकर के तेज से चेतना पा रही शत्रुंजय वीरवृत्ति फिर से ठंडी होकर रह जाएगी।

और यह अंतिम विचार ही मुझे बेचैन करने लगा। चापेकर और रानडे अपने देश पर होते अत्याचार का बदला लेते हुए फाँसी पर चढ़ गए। जाते-जाते यदि अपनी प्राण-ज्योति से प्रज्वलित शत्रुंजयवृत्ति के यज्ञ-कुंड में एक के बाद एक समिधा डालते हुए उसे ऐसे ही प्रज्वलित रखना और अंत में स्वतंत्रता के एक महायुद्ध में परिवर्तित करना हो तो यह दायित्व मेरी सीमा तक मुझपर भी क्यों नहीं है? चापेकर का कार्य कोई एक तो आगे बढ़ाए—यदि ऐसा है तो फिर वह मैं क्यों न करूँ, मैं भी उस होमकुंड की समिधा क्यों न बनूँ?

स्वतंत्रता-संग्राम की शपथ

वासुदेव चापेकर और रानडे फाँसी पर चढ़े—अर्थात् एक नाटक का अंतिम दृश्य संपन्न हुआ। यह समाचार मैंने समाचारपत्र में पढ़ा। वे फाँसी के पहले, रात्रि में बड़े सुख से सोए। भोर में उठे, गीता-पाठ किया और 'नैनं छिंदति शस्त्राणि' की गर्जना करते-करते एक-दूसरे के गले मिले और फाँसी पर चढ़ गए। यह सारा वर्णन

जब पढ़ा, तब से कुछ दिनों तक उपर्युक्त सारे प्रश्न रात को नींद में भी मुझसे उत्तर चाहते हुए मुझे सताते रहे। दो-चार दिन इसी अवस्था में बीत जाने के बाद अंत में मैं अपने बचपन के आधार, संकट में समाधान करनेवाली देवी माता, जिससे मैं अपने सुख-दुःख कहता था और जिसे सुनाने के पश्चात् मुझे सदैव एक बोझा उतर जाने जैसी अनुभूति होती थी, की ओर दौड़ा। पूजाघर में गया। बड़े भक्ति-भाव से उसकी पूजा की। स्वदेश की दुःस्थिति से बेचैन अपने मन की सारी व्यथा उसे सुनाई और उसके चरणों पर हाथ रखकर उसे साक्षी मान और उन दिनों जैसा आभास मुझे होता था, तदनुरूप उसकी अनुमति लेकर मैंने प्रतिज्ञा की कि अपने देश की स्वतंत्रता के लिए मैं सशस्त्र युद्ध में चापेकर की तरह ही मर जाऊँगा या शिवाजी जैसा विजयी होकर अपनी मातृभूमि के सिर पर स्वराज का राज्याभिषेक करवाऊँगा!

हमारे नए घर के छोटे, परंतु सुंदर देवगृह में सुगंधित फूलों का परिमल भरा हुआ है, घी का दीप नीरांजन में मंद-मंद जल रहा है। धूपबत्तियों का मादक-सर्पाकृति धुआँ, कुसुमों के कोमल परिमल में गुँथा जा रहा है। महिषासुर पर पाद-प्रहार करनेवाली, सिंहासनारूढ़, अष्टभुजा, जिसके आठों हाथों में नंगे शस्त्र हैं, उग्र परंतु मेरी ओर सुहास्य मुख से देखती हुई वह सुंदर देवी-मूर्ति देवगृह में विराजमान है—उसके सामने उस पुण्यमय वातावरण में मैंने प्रतिज्ञा की—मैं अपने देश की स्वतंत्रता वापस प्राप्त करने के लिए सशस्त्र क्रांति की पताका खड़ी कर—मारते-मारते मर जाने तक लड़ूँगा।

उस छोटे से देवगृह में अपने पंद्रह वर्ष के वय में मैंने देवी के चरणों को अपने हाथों से बड़े समर्पण भाव से स्पर्श करते हुए यह प्रतिज्ञा की। वह जो छोटी चिनगारी उड़ी—आगे भविष्य में उसकी कितनी प्रदीप्ति होनेवाली थी! कितना रक्तपात, घात-प्रत्याघात, वध, फाँसी, वनवास, अत्याचार, यश और अपयश, दौरात्म्य और हौतात्म्य, प्रकाश और अंधकार, अग्नि और धुएँ के बादल—ऐसा जो कुछ होनेवाला था, उसका अति सूक्ष्म रूप उस संकल्प (प्रतिज्ञा) की चिनगारी में छिपा हुआ था। एक भयंकर तूफान उस प्रथम चिनगारी में समाया हुआ था। अब भूतकाल की दूरबीन से अपने जीवन की घटनाओं पर नजर डालता हूँ तो स्पष्ट दिखता है कि पूरे हिंदुस्थान में जिसका डंका बजा, उस 'अभिनव भारत' की क्रांतिकारी संस्था का उदय उसी संकल्प में से हुआ। यह मेरी प्रतिज्ञा ही 'अभिनव भारत' का मूल थी—यही बीज था। वह सन् १८९८ का वर्ष था।

परंतु उस समय उस व्यापक भविष्य की कल्पना किसे हो सकती थी? फिर भी अपना जीवन बदल डालनेवाली कोई महत्त्वपूर्ण बात मैंने अपनी सीमा तक ही की है—इसका एक दृढ़ संस्कार जो उस दिन जाग्रत हुआ, वह कभी भी मंद नहीं

पड़ा। वह दिन, वह घटना, लिखकर दिए हुए किसी ऋण-पत्र की तरह मेरे मन में नित्य अनुभूत होते रहे हैं।

स्वयं द्वारा रचे जा रहे पूर्वोल्लिखित ग्रंथ 'देवीदास विजय' में मैंने यह घटना छंदोबद्ध लिखी। मेरे उस निश्चय को बल प्राप्त हो, इसके लिए बहुत आर्तता से देवी की विनती भी मैंने की। परंतु अपने मन में प्रज्वलित हुई यह चिनगारी मैंने जैसे ही उन कागजों पर उतारी, मेरा बचपन का वह खिलौना जलकर भस्म हो गया, क्योंकि छह-सात वर्ष बाद ही क्रांतिकारी षड्यंत्र के आरोपों के अधीन सरकारी कोप की बिजली जब हमारे तरुण मंडल पर गिरी, तब मेरे मित्रों को वे सारे साक्ष्य जलाकर राख करने पड़े, जो घर की तलाशी में प्राप्त होने पर उल्लिखित क्रांति की प्रतिज्ञा में षड्यंत्र का पक्का साक्ष्य बन सकते थे।

भगूर में क्रांतिकारी विचारों का प्रसार करने के लिए तथा लोकमान्य तिलक और चापेकर-रानडे का खुला सम्मान करने के लिए मैंने तत्काल एक एकांकी लिखा। नाटक लिखने का यह मेरा प्रथम प्रयास था। हमारे गाँव के राणू दरजी आदि की नौटंकीवालों ने उस एकांकी को मंच पर लाने की तैयारी शुरू कर दी थी। तभी कुलकर्णी पटेल ने उनके कान फूँक दिए। फलतः उस एकांकी की इतिश्री हो गई।

उस समय मैं एक काव्य भी लिख रहा था। उसका भाग्य अवश्य दूर तक फैलने का और बहुत सफलता पाने का था। वह काव्य था—चापेकर का फटका। वह फटका कम-से-कम सन् १९१० तक तरुणों के रक्त को गरमाते हुए और चापेकर की स्मृति जाग्रत रखते हुए, गुप्त और प्रकट, महाराष्ट्र भर में गाया जाता रहा। मेरे दो सहकारी श्री म्हसकर और श्री पागे उसको छपवाना चाहते थे। उन्होंने उसके लिए बहुत प्रयास किए। उसे छापने योग्य बनाने के लिए उसकी ज्वलनशील भाषा बहुत सौम्य और द्विअर्थी अर्थात् एकाएक क्रांतिकारी न लगनेवाली, परंतु क्रांति की विरोधी भी नहीं, ऐसी बनाई गई—फिर भी उसे छापने का साहस कोई नहीं कर सका, क्योंकि उस समय चापेकर का नाम ही किसी क्रांति के समान सरकार और जनता को भयावह लगता था, राजद्रोही समझा जाता था। फिर भी घर-घर में, पाठशाला-विद्यालयों में, बैठकों में, उपाहारगृहों में, सभाओं में वह चापेकर का फटका तरुण, प्रौढ़ स्त्री-पुरुषों में बहुत प्रिय था। जब कभी मैं स्वयं ही उसे गाकर सुनाता, तब मेरी वृत्ति इतनी उच्च हो जाती कि मेरे बाहु कंपित होने लगते। मेरा और सुननेवालों का कंठ भर आता। आवेश और शोक की भावना में देह का मान क्षण भर को बिसर जाता।

इस समय मेरे विचारों का यह क्रांतिकारी रुझान देखकर और मेरे कदम उस ओर बढ़ते देखकर मेरे पिता को एक अलग ही चिंता सताने लगी। सच तो यह है कि

उन्होंने ही मुझमें बचपन से देशप्रेम, काव्य, इतिहास और लोकमान्य तिलक की राजनीति में रुचि जगाई थी। मेरे इन गुणों को वे परिपुष्ट करना चाहते थे और मन-ही-मन मेरे कर्तृत्व का अभिमान भी रखते थे। परंतु लोकमान्य तिलक की राजनीति के भी आगे कदम बढ़ाने की प्रवृत्ति मेरी होने लगी—मैं अल्प वय में ही अंग्रेजों को मारने और विद्रोह करने की बातें बोलने लगा—रात-रात भर एकांत में जागने लगा और मेरी मुद्रा पर एक अकालिक चिंता तथा गंभीरता दिखने लगी, तब वे कुछ भयग्रस्त हो गए—मेरे जीवन को यह भयंकर दिशा प्राप्त हो जाने से मेरे प्राण-संकट के भय से वे बेचैन हो गए। एक दिन वे आधी रात में सहज भाव से बँगले में आए। मैं कोई कविता गुनगुना रहा हूँ और उसमें पूरा खो गया हूँ—गाल पर आँसू की बूँदें हैं, नेत्र किसी अदृश्य चित्र की ओर टकटकी लगाए हुए हैं, ऐसा दृश्य उन्होंने देखा। उन्होंने धीरे से मेरा स्पर्श किया और 'क्या है रे?' कहकर मेरे सामने का कागज उठाया। चापेकर पर रचित पोवाड़ा—उसके कुछ चरण उन्होंने देखे, पढ़े—मुझे बड़ी ही शाबाशी दी। फिर मेरा मुँह अपनी दोनों हथेलियों में संपूर्ण वात्सल्य से लेते हुए वे बोले, 'तात्या, अभी तू कच्ची-कोमल आयु का है रे—तेरी देह भी सुकुमार है—ये विचार और मार्ग भयंकर तथा कठोर है! मस्तिष्क में अतिशय तनाव पैदा करनेवाले इस विषय की ओर मत बढ़। अपने परिवार की आशा का एकमेव केंद्र तू ही है। मेरी द्वारका का सहारा तू ही एक स्तंभ है। इस घर का उद्धार भी करेगा तो तू ही। इसलिए अपने प्राण संकट में मत डाल। तुझे इस मार्ग के भयंकर परिणामों की कल्पना नहीं है। कविता करना चालू रख, पढ़-लिखकर बड़ा बन, फिर जो मन में आए, वह कर।' मैं सुनता हुआ चुप बैठा रहा, पर मन-ही-मन कहा—'चापेकर के परिणाम से और भयंकर क्या होगा? वह भोगने के लिए हम तैयार ही हैं।'

उसके बाद से 'गरमी लगती है' यह कहते हुए मैं बँगले में झूले पर अकेला सोने लगा। जब सब सो जाते, तब उठकर कविता करता। दिन में जैसे उस विषय को भूल ही गया हूँ, मैं अन्य वाचन, लेखन-चर्चा किया करता। कभी-कभी इसी स्थान पर सोते हुए कविता के कुछ चरण जुड़ जाते। सुबह उठते ही मैं उन्हें कंठस्थ कर लेता।

पुणे में प्रवेश

संयोग ही रहा कि इसी वर्ष के आगे-पीछे मैंने पहली बार पुणे देखा। मेरी भाभी के एक भाई का विवाह कर्जत में था। मैं और बाबा—दोनों इस विवाह के लिए कर्जत गए थे, पर किसी कारणवश यह विवाह आठ दिन के लिए स्थगित हो गया। इसका लाभ उठाकर हम दोनों भाई पुणे देखने पहुँचे। मेरे भावी ससुर

श्री भाऊसाहब चिपळूणकर के परिवार से हमारा घनिष्ठ परिचय पहले से ही था। अत: हम जव्हार के बाड़े में पहुँचे थे। हमारे साथ आए लोगों में से किसीकी नजर कहीं तो किसीकी कहीं थी, पर मेरा सारा ध्यान शनिवार बाड़ा की ओर ही लगा था। मराठा बखरों (ऐतिहासिक अभिलेखों) का जो अध्ययन मैंने किया था, उसके कारण पुणे को देखे बिना भी वह मेरे परिचय का था। मैंने न जाने कितनी रातें मन-ही-मन पुणे में बिताई थीं। शाइस्ता खान जिस बाड़े में ठहरा था, वह बाड़ा; जिस रसोईघर के रास्ते उस खान पर हमला करने वह सिंहगढ़ का सिंह घुसा था, वह रसोईघर; पर्वती नामक टेकरी पर नाना साहब पेशवा चिंतित हो कहाँ बैठे थे, वह स्थान; सवाई माधवराव का सारा रंग जिन रास्तों से होकर बह गया, वे रास्ते; वह दुर्दैवी फव्वारा, जिसपर कूदकर सवाई माधवराव घायल हुआ था, वह नाना फड़नवीस का बाड़ा, वह दिंडी (दरवाजा) जिसमें से जल्दबाजी में निकलते हुए (माधवराव के घायल हो जाने का समाचार सुनकर) नाना फड़नवीस गिरे थे। एक-दो नहीं, पुणे के हजारों स्थान देखने की मेरी इच्छा थी, पर मेरे साथ के सब बड़े लोग इस संबंध में पूरे उदासीन थे। उन्हें पुणे में केवल ताबूत देखने थे। मुझे छोटा समझकर कहीं जाने भी नहीं देते थे। मुझे स्वयं भी रास्ते में खो जाने का डर लगता था। फिर भी शनिवार बाड़ा और पर्वती देखी। मैं इन दोनों स्थानों से हटना ही नहीं चाहता था—उन स्थानों का माहात्म्य कहना चाहता था, पर सुनने को कोई राजी ही नहीं था। सब लोग 'चलो-चलो' करनेवाले थे। पेशवाई के संबंध में रुचि की यह दशा, तो आजकल के वासुदेव बलवंत-चापेकर-रानडे के विषय में क्या कहा जाए? वहाँ मुझे सिवाय दो-तीन गप्पी लोगों के, कोई न मिला। मुझे लगता था कि पुणे में पैर रखते ही मुझे तिलक-चापेकर के सिवाय कुछ और सुनाई नहीं देगा। रास्तों में इन्हींकी चर्चा सुनने को मिलेगी। देखा तो उलटा—मैं जहाँ-जहाँ गया, वहाँ-वहाँ हमारे यहाँ आनेवाले लोग उन दो नामों को टालकर ही—जो बोलना था—बोल रहे थे। इतना ही नहीं, चापेकर को गाली देनेवाले लोग भी पुणे में मिले! मेरी अपेक्षा से तो यह विपरीत निकला। पर पुणे देखकर मुझे जो आनंद आया, उसे कैसे कहूँ? ऐसा लगा कि सदैव शनिवार बाड़ा की ओर ही रहें।

पाँच-छह दिन बाद ही हम विवाह हेतु कर्जत वापस लौट आए। कर्जत आते ही मुझे ज्ञात हुआ कि पड़ोस के ही दहिवेली गाँव में वाद-विवाद प्रतियोगिता है। मैंने तुरंत भाषण देने की तैयारी शुरू कर दी। दो-चार दिन में मैंने निबंध लिखकर उस आधार पर समारोह में भाषण दिया। मुझे प्रथम घोषित किया गया। अध्यक्ष ने पुरस्कार बाँटते समय मुक्त कंठ से मेरे भाषण की प्रशंसा तो की, पर कहा—इस वय का प्रतियोगी ऐसा निबंध और ऐसी भाषा लिख सकेगा, ऐसा मुझे लगता नहीं। वह

निबंध किसी और का लिखा हुआ है, परंतु प्रथम पुरस्कार इसी बालक को दिया जा रहा है, क्योंकि निबंध चाहे किसीने लिखा हो, पर उत्कृष्ट भाषण इसी लड़के ने किया है। इस आयु में ऐसा भाषण निर्विवाद रूप से सराहनीय है।

उनके इस कथन से मुझे विषाद ने आ घेरा। मैंने तत्क्षण खड़ा होते हुए कहा, 'निबंध मैंने ही लिखा है और लिखते समय मुझे अनेक लोगों ने देखा है। मेरे बार-बार ऐसा कहने पर भी व्यवस्थापकगण इस निबंध को मेरा नहीं मान रहे, इस हठ के पीछे क्या है—यही कि मेरी आयु छोटी है। मेरी बात छोड़ दें, पर इसी न्याय से सोचें तो ज्ञानेश्वर ने ज्ञानेश्वरी ग्रंथ लिखा था, यह बात भी झूठी कही जाएगी। गुणाः पूजास्थानम् गुणिषु न च लिंगम् न च वयः।' इतना कहकर मैं बैठ गया। सभा क्षण भर के लिए अचंभित हो गई। अध्यक्ष मेरी बात से कुपित हो उठे और 'इसने छोटा मुँह बड़ी बात की है' कहकर झुँझलाने लगे, पर अन्य सदस्यों और व्यवस्थापकों ने बात सँभाल ली। सभा के प्रमुख कार्यवाह सभा समाप्त होते ही मुझसे मिले और उन्होंने मुझे अपने घर पर भोजन के लिए आमंत्रित किया। वहीं उन्होंने यह भी कहा कि निबंध तुमने ही लिखा है, यह बात स्वीकार कर ली गई थी।

इस सारी घटना का मेरे जीवन की दृष्टि से कोई उल्लेखनीय महत्त्व जो हो, पर वह न तो पुरस्कार था, न बहसबाजी, वरन् इस कारण मुझे पुणे से प्रकाशित होनेवाले 'काल' पत्र का परिचय प्राप्त हुआ।

'काल' पत्र का परिचय

उपरोक्त सभा में जो पुरस्कार मुझे मिला, उसमें एक व्यवस्था यह थी कि एक वर्ष तक बिना मूल्य 'काल' नामक पत्र मुझे मिलनेवाला था। यह 'काल' पत्र पुणे का गौरव था और उसके संपादक शिवराम पंत परांजपे सुप्रसिद्ध व्यक्ति थे। तब उस पत्र का प्रारंभ-काल ही था, पर न जाने क्यों या किस कारण दहिवेली की उस सभा ने वही पत्र मुझे पुरस्कार में दिया। इसका योजक कौन था, यह ज्ञात नहीं, परंतु वह दुर्लभ योजकों में से एक योजक था, इसमें कोई शंका नहीं। प्रसिद्ध पत्र 'केसरी', जिसके संबंध में लोगों को विशेष जानकारी भी नहीं थी, को छोड़कर ऐसे पत्र को चुनना और उसे पुरस्कार में देना अपने आप में विलक्षण था। अब पीछे मुड़कर देखता हूँ तो उस समय न दिखाई देनेवाले संबंध और परिणाम-परंपरा दिखाई देती है। उसे देखकर यही कहना पड़ता है कि मेरे उस समय के अभीष्ट को सिद्ध होने के लिए मेरे हाथ में जो समाचारपत्र पहले आना चाहिए था, वह 'काल' ही था और 'काल' को भी उसके संदेशों को वास्तव में उतारने के लिए जो वाचक चाहिए था, वह मैं ही था। उस समय 'काल' से मेरा जो परिचय हुआ, वह आजन्म

बना रहा। 'काल' के संपादक से परिचय अभी होना शेष था। परिचय के बाद मैं 'काल' का भक्त ही बन गया। 'काल' में छपे एक लेख में चापेकर और रानडे को 'मर्डरर' की जगह 'मारटायर' लिखा हुआ मैंने पढ़ा, जिससे मैं अति आनंदित हुआ। मेरे मन में खलबली मचा देनेवाली भावना को 'केसरी' से भी अधिक साहस से व्यक्त करनेवाले 'काल' के प्रति मैं कृतज्ञता से भर गया। 'काल' में छपे उपर्युक्त लेख पर 'टाइम्स ऑफ इंडिया' ने बड़ा कोहराम मचाया। दादाभाई नौरोजी ने भी 'काल' के संपादक मालिक को राष्ट्रीय महासभा में नहीं आने दिया। उस समय से 'काल' पत्र में प्रकाशित कोई लेख बिना पढ़े मैंने छोड़ा नहीं। कुछ लेख तो दस-दस बार पढ़े। जहाँ जाता, वहीं 'काल' पत्र की प्रशंसा करता। लोगों को 'काल' के लेख जबरन पढ़कर सुनाता। उस समय उसका विरोधी पक्ष भी बड़ा था।

कुल मिलाकर लोक-समाज डरपोक ही था! क्रांतिकारी विचार पढ़ने से भी लोग न केवल कतराते थे, अपितु यह कहना भी नहीं चाहते थे। अत: 'काल' पत्र को ही अतिरंजित, सिरफिरा, बकवासी आदि कहते थे। मैं जहाँ जाता, वहीं उसके ऊपर लगाए जानेवाले इन आरोपों के विरुद्ध लड़ पड़ता, क्योंकि उस जैसा सशस्त्र क्रांति का समर्थक और सूचक दूसरा कोई समाचारपत्र तब नहीं था। मेरे विचारों पर तो नहीं, पर मेरी भाषा, ज्ञान, संस्कृति और उत्साह पर 'काल' पत्र के अखंड परिशीलन का बहुत बड़ा प्रभाय पड़ा। वह प्रभाव इतना बड़ा था कि मुझे अपने क्रांतिकारी जीवन की स्फूर्ति का गुरुपद यदि किसीको देना पड़े तो मैं वह 'काल' को ही दे सकता हूँ, परंतु केवल क्रांतिकारी जीवन की स्फूर्ति का, कृति का नहीं; क्योंकि अपने क्रांतिकारी संगठन और समर में हमेशा मुझे ही अपना नेता बनना पड़ा। मुझे अपने सिवाय दूसरा कोई भी गुरु अथवा नेता उस रणक्रंदन में प्रत्यक्ष सक्रिय सहायता देनेवाला नहीं था, अधिकतर लोग मुझे नकारनेवाले ही थे। एक-दो अंदर से ठीक और समय-समय पर 'धन्य' कहनेवाले भी थे, पर मेरे ध्येय, साहस और रणक्रंदन के कदम आगे बढ़ानेवाला, उसमें मेरा नेतृत्व करनेवाला उस पीढ़ी के नेताओं में कोई नहीं था। वे सब-के-सब बहुत-बहुत पीछे खड़े रहनेवाले लोग थे। हम पिछड़ रहे हैं, ऐसा न समझते हुए वे यह समझते थे कि मैं ही भड़भड़ाहट में बहुत आगे बढ़ रहा हूँ। 'काल' से जुड़े लोगों ने ऐसी त्रुटि कभी नहीं की। उन्होंने दूसरे को कभी नहीं खींचा।

'गुरुणां गुरुः' केसरी

'काल' के विषय में यह चर्चा करते हुए भ्रम को टालने के उद्देश्य से यहाँ यह भी कहना आवश्यक है कि क्रांतिकारी नीति की बातें छोड़ दें तो 'काल' जितनी

ही नहीं, उससे भी कई गुना अधिक मेरी आबाल्य भक्ति 'केसरी' पर थी। पूरे महाराष्ट्र और आंशिक रूप से हिंदुस्थान की भी राजनीतिक गढ़ाई जिस 'केसरी' ने की, उसके लेखन का कोई अंशदान मेरी गढ़ाई में नहीं हो, यह असंभव था। लोकमान्य के अति कृतज्ञ और अति निष्ठावान् अनुयायियों से भी अधिक कृतज्ञ और निष्ठावान् मैं था और अंत तक बना रहा। उसका प्रत्यक्ष साक्ष्य यही है कि मैं और मेरे सहयोगियों ने लोकमान्य की सारी राजनीति और उपदेशों पर आचरण करने का प्रयास किया और उनके कार्यक्षेत्र से भी आगे प्रत्यक्ष रणक्षेत्र में उतरने की न केवल इच्छा रखी, अपितु दौड़े भी। उनके गणेश उत्सव, शिवाजी उत्सव, राष्ट्रीय शिक्षा, बहिष्कार, सभा-परिषदों का आयोजन—इन सब आंदोलनों के विस्तार का जो संकेत होता था, वह बिना उनके द्वारा स्पष्ट किए, स्वयं ही जानकर हमने पूरा किया। इतना ही नहीं, उस सबका अपरिहार्य पर्यवसान जिसमें होता है और जो केवल लोकमान्य ही जानते थे, उस रणक्षेत्र में हम अचानक कूद पड़े—यही हमारा उनके निष्ठावान् अनुयायी होने का प्रमाण है।

उनके प्रत्यक्ष ध्येय सुराज, होमरूल, स्वराज की सीढ़ियाँ चढ़कर हम उनके मन के वास्तविक ध्येय, अर्थात् स्वतंत्रता के ध्येय की सीढ़ी चढ़ गए। वे जो कुछ मन में बोले, उसकी गर्जना हमने की। वे जहाँ ठहर जाते, हम वहीं से आगे बढ़ते। वे नेता थे, वे राष्ट्र से एक कदम आगे रहते थे, पर वे अगले कदम निर्विघ्न डाल सकें, इसलिए उनके ही आगे सौ कदम चलकर—राष्ट्र की सशस्त्र सेना का मार्ग निष्कंटक करनेवाले खुदाई और सफाई करनेवाले (सेपर्स ऐंड माइनर्स) की टोली जो करती है, वैसे प्रयास हमने किए। जहाँ उनके साधन कुंठित हो जाते, वहीं अचानक उन्हीं साधनों के लोहे को पिघलाकर हम शस्त्र बनाया करते। कुंठा को धार चढ़ाते। इसीलिए हम उनके वास्तविक निष्ठावान अनुयायी थे; क्योंकि आगे-आगे दौड़कर उनके मन का हेतु सिद्ध करने के लिए प्रयासरत रहे। वे खड्ग की मूठ थे, हम क्रांतिकारी उसका फाल थे। खड्ग की मूठ कभी फाल नहीं हो सकती, पर फाल तो मूठ के इशारे पर ही रण में नाचता है। फाल मूठ के मन को ही आकार देता है।

मेरे इन क्रांतिकारी आंदोलनों तथा मेरी परिधि में आनेवाले छोटे-बड़े लोगों के बीच किए गए प्रयासों का थोड़ा-बहुत प्रभाव मेरे बड़े भाई पर न पड़ना असंभव था। उस छोटे वय में मेरी कविता, लेख, भाषण आदि की प्रशंसा होती देखकर किसी भी भाई को इतना आनंद नहीं हुआ होगा, जितना मेरे बड़े भाई को होता था। मेरे राजनीतिक विचार उन्हें भाते थे। परंतु मुझपर इन विचारों का जैसा भूत सवार था, वैसा उस समय तक उनके ऊपर नहीं था। पिताजी ने उन्हें मुझसे पहले ही नासिक पढ़ने के लिए भेजा था। पाँचवीं कक्षा उत्तीर्ण होने तक वे मन लगाकर

अंग्रेजी पढ़ते रहे। फिर उनका चित्त पढ़ाई से उचटा। परंतु पिताजी के आग्रह और भय के कारण सातवीं कक्षा में पहुँचे। उसी समय वे दो परस्पर विपरीत प्रवृत्तियों की खींचातानी में फँस गए। वे एक ही समय में दो तरह की संगति में रमे रहते। एक संगति साधु-वैरागियों की, तो दूसरी नाटक-मंडली की थी! एक तो भस्म रमाए लँगोटी लगाए धर्मशाला की किसी अँधेरी मठी में धूनी रमाए रहनेवाले। दूसरे, चेहरे को रंग-बिरंगा किए, हारमोनियम-तबले के साथ नाट्यशाला में रँगे हुए रहनेवाले। इन दोनों में यदि कोई समानता थी तो केवल बढ़े हुए बालों में। एक की मोटी जटाएँ तो दूसरे के सजे-सँवरे केश। मेरे भाई का सारा समय बिना पक्षपात के इन दोनों के लिए बँटा हुआ था। नाटक के मित्रों के कारण उनकी रातें चाय, चिवड़ा, गाना-बजाना नाट्य रंग में बीततीं और दिन प्रभात-स्नान करके ग्यारह बजे तक प्राणायाम, जप-ध्यान आदि के अभ्यास में बीतता। दोपहर बाद का समय वे गोसावी बैरागी के अड्डे पर वेदांत और भक्ति की चर्चा करने या मंत्र-तंत्र, जादू-टोने की गपें सुनने-सुनाने या उनकी सब्जी काटने उनका मठ झाड़ने, पैर दबाने आदि सेवा करने में बिताते थे।

पुत्र नाटक-मंडली के साथ कब निकल जाएगा, इस डर से पिताजी घिरे रहते थे। पुत्र के मन का झुकाव जरूर नाटक की ओर था, परंतु उसकी आत्मा का खिंचाव नाटक तो क्या, गृहस्थी में भी नहीं था। इस प्राकृतिक संसार को अपने तुच्छ प्राण की सर्वथा भेंट देकर इस चंचल संसार से सुदूर, सुभव्य, सुगूढ़ चिरंतन की ओर था। वैराग्य की आँधी उनमें कभी-कभी संचार करती थी। वैसी एक आँधी की कथा मैं लिख रहा हूँ जो उस अवधि में, अर्थात् सन् १८९८-९९ में जब मेरे भाई साहब बीस वर्ष की देहरी पर थे, बड़ी वेगवान थी। विवेकानंद अमेरिका में वेदांत की विजय-पताका फहराकर लौटे ही थे। पूरा हिंदुस्थान उनके वेदांतिक व्याख्यानों और राजयोग, कर्मयोग आदि पुस्तकों से भरा था। वे ग्रंथ और व्याख्यान मेरे भाई साहब ने और उनके साथ मैंने भी पढ़े थे। प्रत्यक्ष निर्विकार समाधि पाद का अनुभवप्राप्त राजयोगी विवेकानंद और वह अलभ्य राजयोग जो भी वहाँ पहुँच जाए, उसको सिखाने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध वे मायावती के आश्रम में बैठे हुए हैं, यह समाचार सुनते ही योगानंद के लिए बचपन से ही बेचैन मेरे बड़े भाई का धैर्य छूट गया। उन्होंने घर से भागकर मायावती जाने का पक्का विचार बना लिया।

अकस्मात् 'तत्रतं बुद्धि-संयोगम् लभ्यते पौर्वदेहिकम्' ऐसा कुछ हुआ कि वे गृहस्थी से विरागी हो गए। कौटुंबिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि ऐहिक घटाटोप उन्हें अति तुच्छ लगने लगे। यदि वे उस समय घर त्यागकर निकल जाते तो उनके पूरे जीवन को निराली दिशा ही मिलती। परंतु उनके निश्चय और वैराग्य धारण कर

घर त्यागने के रास्ते में यदि दुर्लंघ्य बाधाएँ न खड़ी होतीं और वह वैराग्योन्मुख युवक मायावती को भागने में सफल हो जाता तो उसके जीवन को एकदम अलग दिशा मिलती और तब राज्यक्रांति-आंदोलन में उसके द्वारा की गई उठापटक की कमी रह जाती। उसी अनुपात से उसकी प्रगति में लक्षणीय अंतर पड़ जाता, परंतु तभी अकस्मात् हमारे परिवार पर भी प्लेग का संकट आ पड़ा।

परिवार पर प्लेग का प्रकोप

फलस्वरूप बड़े भाई की सब योजनाएँ ताश के तंबू की तरह भरभराकर गिर गईं। वह सन् १८९९ का वर्ष था। नासिक में उस वर्ष प्लेग ने फिर से हाहाकार मचाया। हम दोनों भाई नासिक की जिस तिलभांडेश्वर गली में रहते थे, वहाँ हमारे पड़ोस में ही प्लेग फूट पड़ा। एक वर्ष पूर्व जब नासिक में प्लेग फैला था, तब मेरे बड़े भाई के आग्रह के कारण मेरे पिताजी ने भगूर के अपने घर में जिन्हें आश्रय दिया था, उनके ही घर में प्लेग हुआ। मेरे बड़े भैया ने इस बार प्लेग से ग्रस्त उस आदमी की सेवा-टहल अपने पुत्र जैसी की, पर वह बच नहीं सका। पास-पड़ोस में भी लोग चटपट मरने लगे। तब हमारे पिता हमें स्कूल से निकालकर भगूर वापस ले गए।

मेरी बहन जिस त्र्यंबकेश्वर नामक गाँव में ब्याही थी, उस गाँव में भी ज्येष्ठ-आषाढ़ के मध्य प्लेग फैल जाने का समाचार आया। वे दिन आम के थे। भगूर में हमारी बड़ी प्रसिद्ध अमराइयाँ थीं। आम के दिनों में गाड़ियाँ भर-भरकर आम निकाले जाते। उन दिनों में हमारे परिवार के इष्ट मित्र, सगे-संबंधी गाँव-गाँव से आकर हमारे घर आठ-दस दिन रहते और आमों का आनंद लेकर ही जाते थे। त्र्यंबक में प्लेग फैलने का समाचार मिलते ही मेरी छोटी बहन और बहनोई भास्करराव काले को प्लेग से बचाव के लिए भगूर ले आने की बात चली। आम की बहार थी ही। इस कार्य के लिए पिताजी ने मेरे बड़े भैया को त्र्यंबक भेजा।

भेजा अवश्य, परंतु स्वयं भगूर का क्या हुआ? स्वयं भगूर गाँव प्लेग की चपेट में आ गया। सभी के चेहरों पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। नासिक का प्लेग वहाँ आते-जाते लोगों ने देखा था। पुणे-बंबई में प्लेग चालू था, तब वहाँ के हृदयस्पर्शी वर्णन 'केसरी' आदि समाचारपत्रों में छपते थे। उन भयावह वर्णनों को भगूर गाँववालों ने हमारे ही घर की देहरी पर बैठकर सुना था। तब वे 'युद्धस्य कथा रम्या' थे। प्लेग का वही कहर अब अपने दरवाजे पर आकर प्रत्यक्ष खड़ा नहीं हो जाए, यह डर हर एक को था। आषाढ़ आया और चूहे मरने के गुप्त समाचार गाँव में सुने जाने लगे। अशुभ समाचार झूठा है, ऐसा समझने की मानव-प्रकृति तब तक होती है, जब तक

वह गले तक नहीं आ जाता। इसके विपरीत वह शुभ समाचार सच ही होगा, ऐसा भी माना जाता है। चूहा मरने के बाद भी मेरे घर में चूहा मरा, यह मानने को कोई तैयार नहीं होता था। तू चोर है—ऐसा किसीको कहा जाए, तो जैसे वह क्रुद्ध होकर उस बात को नकारता है, वैसे ही 'तुम्हारे घर चूहा मरा' ऐसा किसीको कहते ही वह क्रोध में भरकर नकारने लगता, क्योंकि तब घर में चूहा मरने की घटना सचमुच बड़ी भयावह थी। चूहा मरा है, यह समाचार फूटते ही सरकारी आदमी आकर घर खाली कराते। उस परिवार को जंगल का रास्ता नापना पड़ता। घर का सारा सामान धोया जाता। उस कार्य में काफी सामान गायब हो जाता; और यह सब इतना भयावह था कि कल प्लेग से मरनेवाला आदमी आज ही चल देता! इसी कारण चूहे के मरने की बात मरण तक छिपाई जाती। जो बेचारे मानते, वे भी यह कहते कि शायद बिल्ली ने मारा हो, प्लेग से नहीं मरा। इस कारण जितनी तेजी से प्लेग फैलता, उससे अधिक तेजी से वह समाचार फैलता। परंतु प्लेग की अपेक्षा उसके निवारण का सरकारी प्रयास अधिक डरावना था। इसलिए इस अशुभ को 'अशुभ' कहने की बात यथासंभव टाली ही जाती। हमारे घर में भी दो-चार चूहे मरे। परंतु अण्णा (मेरे पिता) ने—प्लेग के नहीं हैं, ऐसे तो हमेशा ही मरते हैं, ऐसा कहते हुए चुपचाप दूर फेंकवा दिए और हम बच्चों को कहीं भी उसकी चर्चा नहीं करने का आदेश दिया।

मेरे दोनों मित्रों राजा और पारशा के भी घर में चूहे मरे, परंतु वे उसे छिपा गए। दो दिन बाद उनका एक बड़ा भाई तुकाराम प्लेगग्रस्त हो गया। उसपर देवता की सवारी आया करती थी। उसीसे उसे बुखार आया है, ऐसा ढोंग उन्होंने दिन भर किया, पर दूसरे दिन भोर होते ही वह मर गया। पूरे गाँव में इस घटना का बड़ा हल्ला-गुल्ला हुआ। लोगों के पाँवों के नीचे से जैसे जमीन खिसक गई। उस राणू दरजी का घर पटेल कुलकर्णी ने सील किया। पच्चीस-नौ जनों का वह परिवार गाँव के बाहर फेंक दिया गया। हमारे घर के पड़ोस का एक आदमी ऐसे ही प्लेग से मरा। उस रात दस बजे के करीब वह जोर-जोर से कराहने लगा। वह आवाज हमें खिड़की से सुनाई देने लगी। हम बच्चों को डर लगेगा, इसलिए हमें दूसरी जगह सोने को कहा गया, पर मैं चुपचाप वह आर्त स्वर सुनता रहा और खिड़की पर बैठा रहा। कभी डर लगता तो कभी कौतूहल होता। और फिर ऐसे विचार वेग से आए कि यदि कल मेरे घर पर यह आपदा आई तो मुझे क्या करना होगा? पिताजी ही प्लेग से मर गए तो? सरकारी लोग घर को तहस-नहस कर देंगे, सारा सामान उठाकर फेंक देंगे। भाई की चिंता हुई, यदि वह मर गया तो? अण्णा कितना शोक करेंगे, हमें भी कितनी रुलाई आएगी, पर हम बड़ा धीरज रखकर पिताजी को समझाएँगे। वे हमारे धीरज की तारीफ करेंगे, पर मैं ही मर गया तो? अपना लिखा

'दुर्गादास विजय' ग्रंथ, 'सर्वसार संग्रह' और अन्य रचित साहित्य प्रकाशित करने की बात अपनी मृत्युपूर्व इच्छा के रूप में मैं पिताजी से कह दूँगा।

इस प्रकार की अपशकुनी आशंकाएँ मेरे मन में तब से ही पैठ गईं। यह अपशकुनी और विक्षिप्त वृत्ति हमेशा बनी रही। परंतु मेरे भाग्य में अशुभ से ही हमेशा संघर्ष करते रहने का जो विधान था, उसमें यह वृत्ति उपयोगी रही। ऐसे अनेक अपशकुनी विचार मन में आते गए। फिर भी हर संकट का सामना अविचलित भाव से करनेवाली अपने मन की तैयारी देखकर उन अपशकुनी विचारों को मैंने धन्यवाद ही दिया।

वह पड़ोसी जोर-जोर से चिल्लाने लगा। उसके परिवारवाले अण्णा को बुलाने लगे। प्लेग जैसे स्पर्शजन्य रोग के कारण सगे-संबंधी भी प्लेग के रोगी के पास नहीं जाते थे। अण्णा भी निरुपाय होकर ही गए। खोज-खबर लेकर आए। कुछ-थोड़ा सो पाए थे कि रोने-धोने की आवाजें आने लगीं। चौबीस घंटे के अंदर हट्टा-कट्टा पड़ोसी मर गया। सुबह ही सरकारी आदमियों ने आकर उस घर के खपरे उतार लिये। सामान के साथ अनाज भी आँगन में फेंक-फाँककर घर धो डाला और शव के साथ ही स्त्री-बच्चों को भी घर के बाहर निकाल दिया। गाँव के बाहर रहने को कहा गया, पर झोंपड़ी बनाकर नहीं दी। वह सरकार का काम नहीं था।

उसी रात अण्णा एक और प्लेग के रोगी का समाचार लेने गए। भगूर में प्लेग फैलने का समाचार सुनते ही मेरे मामा ने भगूर छोड़ने का संदेश भिजवाया, पर 'घर छोड़ो' कहना जितना आसान है, उतना ही उसे छोड़ना कठिन होता है। कहाँ जाएँ, यह सोचने तक का समय नहीं रहा, और केवल चार दिन में ही मानो पूरा गाँव जलने लगा।

अण्णा उस रात घर छोड़ने का ही विचार करते हुए घर लौट रहे थे तो गली के ही उस राणू दरजी के घर पर उनकी नजर गई। चार-पाँच दिन पहले पच्चीस-तीस आदमियों का वह परिवार लड़कों-बच्चों की किलकारियों से गूँजता रहता था। उसी परिवार के मकान को आज श्मशान बना हुआ उन्होंने देखा। आदमी नहीं, दीया-बत्ती नहीं! खपरैल भी उतरी हुई। दरवाजे, खिड़कियाँ खुली हुईं, उल्लू बोलने के सिवाय कोई स्वर नहीं। अण्णा काँप गए—रास्ता न सूझे। रास्ता रोज का था, पर उनको लगा कि गड्ढा है। गड्ढे से पैर बचाने के चक्कर में उनके पैर में मोच आ गई। मैंने उन्हें कुछ लँगड़ाते हुए घर में आते देखा—हम सब दरवाजे पर ही उनकी चिंता में खड़े थे। मैंने पूछा, 'क्या हुआ?' बोले, 'कुछ नहीं, यूँ ही थोड़ा मुड़ गया है।' हम सब घबरा जाएँगे, इसलिए उन्होंने ऐसा कहा। उन्होंने एक औषधि बताई। मैंने उसे उनके पैर पर लगाया। बैठकर पैर दबाता रहा। एक प्लेग-प्रतिरोधक

औषधि वे नासिक से लाए थे, वह सबने ली, फिर सो गए। दूसरे दिन मैंने और भाभी ने मिलकर रसोई बनाई। मैं हमेशा ही अपने से छोटी भाभी की सहायता रोटी आदि बेलकर करता था। थोड़ी देर बाद देखा कि अण्णा जाँघ में कुछ टटोलते खड़े हैं। मुझे देखते ही सकुचा गए—मैं डर गया। क्या हुआ, यह पूछने पर बोले—कल पैर जो लचक गया था, उसीमें कुछ पीड़ा है।

हम लोगों ने भोजन किया। अण्णा दुछत्ती पर जाकर सो गए। मेरा छोटा भाई 'बाल' छोटा, केवल ग्यारह वर्ष का था। माँ मरी, तब चार-पाँच का था, तब से पिताजी ही उसकी माँ थे। रोज दोपहर वह पिताजी के पास ही सोता था, पर उस दिन उन्होंने उसे न ले जाते हुए केवल मुझे ही ऊपर बुलाया। मैं सोलह वर्ष का, भाभी चौदह वर्ष की और बाबा बीस वर्ष का था। ऊपर मेरे जाते ही मुझे सीने से लगाकर भरी आँखों से अण्णा बोले—'बेटे, मुझे प्लेग हो गया है। अब तुम लोगों का क्या होगा?' यह सुनते ही मैं दहल गया। परंतु बचपन से ही मेरे स्वभाव का यह विशेष गुण रहा कि संकट आते ही मेरा मन पत्थर जैसा हो जाता और मुझमें कर्तव्य का उत्साह बढ़ जाता। मैंने कहा, 'चिंता नहीं करें, मैं अभी वैद्य को बुला लाता हूँ।'

वे बोले, 'नहीं, यह बात किसीको बताना नहीं, वरना पुलिस आ जाएगी।' मैंने समाचारपत्र में एक रामबाण औषधि के बारे में पढ़ा था—उसे लगाने के बारे में उनसे पूछा। उनके 'हाँ' कहते ही मैं बाहर की ओर भागा। मेरा एक दरजी मित्र था, उसके घर से चुपचाप मुरगी के दो अंडे ले आया। अंडे के बलक में सिंदूर मिला वह औषधि अण्णा की गाँठ पर मैंने बाँध दी। भाभी को सारा-कुछ बता दिया। बाल रोने लगा, अण्णा के पास उसे जाना था। उसे ऊपर ले जाकर दिखा लाया। उसे बताया कि अण्णा को मलेरिया हो गया है।

जिस मित्र के यहाँ से मैं अंडे लाया था, उनके घर चर्चा चली—ब्राह्मण के यहाँ अंडे क्यों गए, यह प्रश्न था उनके सामने। संकट के समय हमेशा साथ देनेवाले राजा, पारशा—दोनों ही भाई प्लेग के कारण जंगल चले गए थे। उनके भाई की मृत्यु के बाद उनकी माँ को भी प्लेग ने दबोचा। दो दिन में वह अधमरी हो गई, नीचे का आधा भाग तो मर ही गया। दूसरे बाल-बच्चों को प्लेग से बचाने के लिए उस माँ को चारों ओर कपड़ा बाँधकर उन लोगों ने एक पेड़ के नीचे डाल दिया। सवेरे देखा तो चींटियों और दीमक ने उसके शरीर में छेद बना दिए थे। यह सारा समाचार सुनने को मिला।

बाल फिर अण्णा के पास जाने के लिए मचलने लगा। उसे बताया, अण्णा बीमार हैं और यह बात बाहर कहनी नहीं है, तू चुप रहना। उस लड़के ने समझदारी दिखाई, चुप हो गया। इतना ही नहीं, अण्णा की सेवा में अर्थात् उन्हें ऊपर दूध-

दलिया-पानी पहुँचाने में रात भर मेरी सहायता करने लगा। भोर होते-होते अण्णा बेचैनी से कराहने लगे। बापू काका को ज्ञात हुआ। वे बहुत घबराए, पर घर नहीं आए। पुलिस को चुप करा आता हूँ, कहकर जो गए तो लौटे नहीं। परंतु उन्होंने पटेल-कुलकर्णी को इतना कह दिया कि अण्णा बीमार हैं और यह भी कहा कि अनजान बनते हुए ज्यादा पूछताछ न करें और यथासंभव हमें घर से बाहर न निकालें। और भी कुछ-कुछ उपाय होते रहे। भाभी ने किसी तरह रसोई बनाई। बाल और मैंने भोजन किया। अण्णा फिर बहुत बेचैन हो गए। कोई दूसरी औषधि देना जरूरी था। दरवाजे से कोई भी पूछताछ के लिए टपक पड़ता, इसका डर था। इसलिए बाल को दरवाजे पर बैठाया—कहा कि कोई आए तो कहना कि घर में कोई नहीं है।

पिछले आँगन में साँवरी का एक पेड़ था, उसकी कलियों से बननेवाली एक दवाई देने के लिए किसीने कहा था। कलियाँ मैं तोड़ ही रहा था कि बाल वहाँ आ गया। मैंने गुस्से में कहा, 'तू अपना काम छोड़कर यहाँ क्यों आया? जाओ, वहीं रहो।' वह बेचारा लौटने लगा, पर मैंने उसकी आँखों में आँसू देखे—अण्णा के लिए रो रहा होगा, ऐसा सोच मैं उसे पास लेकर समझाने लगा। तब बहुत लजाते हुए वह बालक बोला, 'तात्या, गुस्सा नहीं करोगे तो एक बात तुम्हें कहनी है।' मेरे 'कहो' कहते ही वह बोला, 'अण्णा के लिए पहले से ही आप कितने कष्ट उठा रहे हो, इसलिए मैंने सुबह से छिपाकर रखा, पर अब मैं खड़ा नहीं रह सकता। मेरी जाँघ बहुत दुख रही है।' और वह रोने लगा। उस छोटे से लड़के ने 'मेरा कष्ट बढ़ेगा', इसलिए मुझसे इतनी देर तक अपना दुःख छिपाए रखा था। कितना धीरज और समझ! मुझे धक्का-सा लगा, पर मैंने न घबराते हुए उससे कहा, 'धत् तेरी की, इतना ही है ना। चल, मैं तुझे वह सिंदूर की दवाई लगा देता हूँ। अण्णा को नहीं बताना। अण्णा के पास तो नहीं जाओगे?' 'नहीं, बिलकुल नहीं जाऊँगा,' उसने समझदारी से कहा।

बाल को मैंने एक अलग कमरे में लिटाया। भाभी को बताया—तू बाल की सेवा कर, मैं अण्णा की करता हूँ। किसीको किसीकी बात नहीं बतलानी है। बेचारी भाभी! जिस ओर मैं कहूँ, वही उसका पूरब। अटूट विश्वास। वह भी छोटी ही थी—पर धीरज की बड़ी पक्की। बाल के पास चुपचाप जाकर बैठ गई। प्लेग के रोगी के श्वास-उच्छ्वास से भी दूसरे को प्लेग हो जाता है, यह हमें ज्ञात था। इसलिए मैं भी बीच-बीच में अपनी जाँघ दबाकर देखता—कहीं दुख तो नहीं रही! और भाभी से भी बार-बार पूछता, 'तुम्हारा सिर-विर तो नहीं दुख रहा है? दुख रहा हो तो बता देना, छिपाना नहीं।' एक प्लेग-प्रतिरोधक औषधि मेरे पास थी, वह उसे

पिलाता। मैं भी पीता।

हम दोनों राह देख रहे थे कि बहन को लिवा लाने गए बाबा कब लौटकर आते हैं? शाम होते ही अण्णा और बाल जोर-जोर से कराहने लगे—उन्हें बहुत प्यास लगती थी। पर पानी नहीं देना, ऐसा लोग कहते थे। ऊपर अण्णा, नीचे बाल—दोनों का कराहना। बाल था बड़ा बहादुर, पर था तो बच्चा ही। कोई दूसरा और हो, इसलिए हमारी ड्योढ़ी पर कुत्ते की तरह पड़े रहनेवाले दो-एक असामियों को बुलवा भेजा, पर कोई न आया। हमारे सगे-संबंधियों में से एक मामा ही थे जिनका सहारा हमारे परिवार को था। उन्हें तार भेजा।

अण्णा की बीमारी की वह दूसरी रात थी। नौ-दस बजे वायु का एक बड़ा झटका उन्हें आया। मैं पानी नहीं दे रहा था, इसलिए मुझपर वे बहुत बिगड़े। उठने-दौड़ने लगे। मेरे जैसे बच्चे के वश का नहीं था उनको सँभालना। इतने में दीया नीचे गिरकर बुझ गया और मुझे ऐसा लगा, जैसे वे मुझे मारने के लिए आ रहे हैं। उनसे डरकर मैं अँधियारे में ही धड़-धड़ जीने से नीचे उतर आया। वे नहीं आ पाए, यह भाग्य की ही बात थी। दरवाजे के पास ही कराहते पड़े रहे। बीच-बीच में करुण स्वर में कहते—'तात्या, बाल, पानी लाना रे!' मैं उनके पास जाना चाहता था, पर डर के मारे जा नहीं पा रहा था। बाल भी इधर 'तात्या' कहकर जोर से पुकारता था। भाभी उसके पास थी। मैं उसके पास गया—वह भी वायु-प्रकोप में था। उसे डाँटा, 'चिल्ला नहीं, अण्णा को पता चल जाएगा कि तू भी प्लेग में पड़ा है।' डाँटते ही अर्धमूर्छा में पड़ा वह बालक कुछ देर चुप हो जाता। मेरे आते ही भाभी भड़भड़ाकर रो पड़ी। मैं काँप गया—कहीं इसे तो प्लेग ने नहीं पकड़ लिया। बड़े स्नेह से सहलाते हुए उससे पूछा, 'कहीं दुख तो नहीं रहा?' उसने कहा, 'मेरा क्या, कुछ हो, पर आपके क्लेश देखकर चिंता हो रही है, आप थोड़ा विश्राम कर लो।' मैंने कहा, 'ऐसे समय रो-धोकर रहने से कैसे काम चलेगा—धीरज से संकट से लड़ना ही होगा।'

वायु-प्रकोप से अण्णा के दरवाजे से नीचे गिर जाने का डर था। हमने सोचा, ऊपरवाला दरवाजा बंद कर लें। दीया लेकर हम दोनों उधर गए तो अण्णा फिर से दौड़कर आए और नीचे उतरने लगे। मैंने उन्हें थोड़ा पानी दिया और जब तक वे पानी पीते, दरवाजा लगा लिया। अण्णा फिर चिल्लाने लगे, 'पानी, तात्या पानी।' अण्णा की वे आतुर आवाजें—'तात्या-बाल, अरे कोई पानी तो लाओ' मुझे अभी भी सुनाई देती हैं और ऐसा लगता है, अभी दौड़कर उनके पास पानी लेकर जाऊँ।

वह रात भाभी और मैंने बाल के सिरहाने बारी-बारी से ऊँघते हुए काटी। बाल भी वायु में था, फिर भी वह सँभाला जा सकता था, किंतु अण्णा को सीढ़ियों

पर ही रोके रखना हमारे लिए असंभव था। वह डरावनी रात, उसमें कराह और चिल्लाहट! मेरे प्रिय पिता और लाड़ले भाई की वह भयंकर पीड़ा और उन्हें देख-देखकर बढ़ती हमारी वेदना!

खैर, डरते-डराते रात समाप्त हुई और जिनकी राह हम देख रहे थे, वे हमारे बड़े भाई बाबा, बहन और बहनोई को लेकर आ गए। उन्होंने घर में झाँका और अवाक् रह गए। बाबा उन्हें आमों की बहार का आनंद चखाने लाए थे और यहाँ यह भयावह स्थिति! मेरी बहन की आयु भी केवल तेरह-चौदह वर्ष की थी। अण्णा के पास गई, पर वे उसे पहचान भी नहीं पाए। स्पर्शजन्य रोगी के घर पर कुछ खाना-पीना संभव नहीं, इसलिए किसी दूसरे के घर में खिला-पिलाकर दोपहर की गाड़ी से किसी और संबंधी के यहाँ उन्हें भेज दिया। अण्णा को वैसी स्थिति में छोड़कर जाते हुए बहन को बहुत दुःख हुआ, पर कोई उपाय नहीं था। उसे लेकर तुरंत जाने की बात बहनोई ने चलाई, जो वही ठीक ही थी।

बाबा के आ जाने से मुझे धीरज बँधा। पूरे गाँव में हमारे यहाँ के संकट की बात फैल गई थी, पर जहाँ-तहाँ घर-घर में रोना-धोना और भागमभाग चालू थी। कौन किसके लिए रोता? दो-एक वैद्य आए-गए। नासिक से कोई बड़ा डॉक्टर लाने की बात चली, पर अण्णा के जीवन का धागा तीसरे दिन टूट-सा गया। जिस घर में प्लेग का रोगी हो, उस घर से सरकारी नियम के अनुसार रोगी सहित सबको जबरन बाहर कर दिया जाता, पर पटेल-कुलकर्णी ने वैसा कुछ किया नहीं। शाम को मामा आए, वे दूसरे ही घर में टिके थे। 'अण्णा को पहले ही गाँव छोड़ने को कहा था—तब नहीं सुना—मेरे बच्चों को काल के गाल में धकेल दिया।' ऐसा कहते हुए ही वे आँगन में पधारे—अण्णा को भरपेट गालियाँ दीं और सारे समाचार लेकर चले गए।

रात में अण्णा का देहावसान हो गया। किसीको ज्ञात नहीं हुआ। भोर होने पर देखा तो वे हमें छोड़कर जा चुके थे। वह दिन शक संवत् १८२१ श्रावण अमावस का था। बाल भी मरणासन्न ही था—उसकी मुंडी ढीली पड़ी थी। मुँह से रक्त बह रहा था, पर साँस चालू थी, हलकी-हलकी। बापू काका कहीं गए थे, वे आए। चार आदमी इधर-उधर के बटोरकर अण्णा की अंत्यविधि की गई। अण्णा की देह को अग्नि देकर लौटे। दोपहर हो गई थी। हमने घर छोड़ा। रोने का भी अवसर नहीं मिला। मुझे तो रोना आ ही नहीं रहा था। मन सुन्न हो गया था, पर दूसरों को सुबकते देख अपनी आँखें गीली न होने का भी दुःख था। अब हम तुरंत घर छोड़ जाएँ, यह निश्चय हुआ। मुझे, भाभी और बड़े भैया को मृत्यु के मुँह से बचाने के लिए मेरे अति त्रस्त मामा बोले—'अब ये छोटा बच्चा बाल, क्षण भर का साथी है। उसे

भगवान् भरोसे छोड़ तुम तीनों ननिहाल 'कोठूर' चलो, निकलो जल्दी।' पर बाबा का एक ही कहना था—जब तक इसके प्राण हैं, मैं इसे छोड़कर कहीं नहीं जाऊँगा। हम तुरंत कहीं भी नहीं जा रहे, यह देख हमारे मामा अपने गाँव चले गए, क्योंकि प्लेग के गाँव में कहीं भी खाना-पीना उन दिनों वास्तव में बड़े संकट का था।

गाँव के बाहर एक झोंपड़ी बनाने के लिए बड़ी कठिनाई से एक आदमी मिला। झोंपड़ी बनने तक गाँव की सीमा पर बने महादेव और गणपति के मंदिर में रात काटी। काका भी अब हमारे साथ आ गए, पर बीच-बीच में उन्हें बंधु-वैर के झटके आ जाते और वे बक-झक करने लगते। अपने पिताजी के लिए कही जानेवाली बातें मुझसे सहन न होतीं। मुझसे न रहा गया तो उनसे कहा, 'पिताजी की मृत्यु के बाद आप ही हमारे पिताजी हैं। आपका आदेश हमारे लिए प्रमाण है, पर आपका पिताजी से जो पुराना वैर था, उसको अब हमारे सामने उकेरते रहना आप बंद करिए। पिताजी की मृत्यु के बाद उन्हें कोई बुरा-भला कहे, यह हमसे सहन न होगा। या फिर आप पहले जैसे अलग ही रहिए।'

वे थोड़े लज्जित हुए और बोले, 'मैं इसलिए कहता हूँ कि तुम बच्चों को उसने भीख माँगने के लिए बाध्य कर दिया। मेरा इसमें क्या गया? मेरा मन इसीलिए टूटता है—अब तुम बच्चों को क्या बताऊँ।' मैंने कहा, 'चिंता नहीं करें, हम भीख माँग लेंगे, पर पिताजी के विरुद्ध कोई बात नहीं सुनेंगे।' बापू काका चुप हो गए और बड़ी ममता से काम करने लगे।

बापू काका के कारण हम पुलिस के अत्याचार से बच गए। बाबा ने बाल को कंधे पर उठाया, उसकी मुंडी लटक-सी गई थी—उसे सँवारते-सँवारते हम गणपति मंदिर में आ गए। मैं, भाभी और बाबा में से कोई दो गणपति मंदिर में मरणासन्न बाल के पास बैठकर जागते और तीसरा शिव मंदिर में काका के पास जाकर सो लेता। अब भाभी—वह छोटी बच्ची—और मैं बुरी तरह थक गया। चलते तो ऐसा लगता कि अब गिरे। बापू काका के साथ आ जाने से धीरज था। रात का डर कम हो गया। परंतु वह आधार भी टिकना नहीं था, क्योंकि दो-चार दिन में ही बापू काका ज्वरग्रस्त हो गए—शाम तक प्लेग की गाँठ पड़ गई और महादेव के मंदिर में बिस्तर पड़ गया। रात में उन्हें वायु भी हो गई।

संकट चरम हो गया। महादेव के मंदिर में वायुग्रस्त बेसुध काका और गणपति मंदिर में मरणासन्न छोटा भाई। उस जंगल में इधर-उधर सब वीरान, लोमड़ियों की चहल-पहल, उल्लू की आवाजें तथा मैं, भाभी और बाबा। कोई काका के पास तो कोई भाई के पास। उन दोनों को आते वायु के झटकों से संघर्ष करते हम भय, चिंता, दुःख के साथ काँपते हुए जागते रहे। गाँव के बाहर बनी

झोंपड़ियों के कारण चोरों की बन आई थी। हम ठहरे साहूकार, इस कारण हमपर कब चोरों का हमला हो, कहा नहीं जा सकता था। आती-जाती शव-यात्राओं की वह भयंकर 'राम नाम सत्य' की आवाजें। हमसे बहुत दूर नहीं था श्मशान। चिताएँ जलती दिखती थीं। एक चिड़िया का भी साथ नहीं, लेकिन एक कुत्ता न जाने कहाँ से उस रात हमारे पास आकर बैठा। पत्ता भी खड़के तो भौं-भौं कर सारा परिसर दहला देता। उन भयंकर दो-चार रातों में वही एक अनायास सुहृद् मिला था। मैं पगला गया था—लगता, न जाने कब बाबा, भाभी प्लेग से ग्रसित हो जाएँ? आज अभी इस क्षण साथ हैं, न जाने अगले क्षण किसकी बारी है! कौन कहे, मृत्यु का क्या भरोसा? जीवन का कोई विश्वास नहीं रहा था। आश्चर्य यही था कि सप्ताह भर के मानसिक ताप और असह्य शारीरिक क्लेशों में भी मुझे कुछ नहीं हुआ। मैं अपने पैरों पर खड़ा था। कितना भयावह स्पर्शजन्य रोग है यह! मैं और भाभी दोनों रोगियों के पास ही चिपके रहे, पर सिर भी भारी नहीं हुआ। जीने के लिए मानो नींद भी आवश्यक नहीं थी।

अब तक हमारे परिवार पर गुजरे संकट का समाचार नासिक तक पहुँच गया था। वहाँ के रामभाऊ दातार यह समाचार पाते ही सीधे भगूर आ गए। पिछली बार इन्हीं रामभाऊ दातार की पत्नी पर यही संकट आया था और उनको भगूर में ही सेवा के लिए हमारे घर में अण्णा ले आए थे। वैसे ही नासिक में रामभाऊ के पिताजी जब प्लेगग्रस्त थे, तब बाबा ने प्राणों की बाजी लगाकर उनकी सेवा की थी। इसी उपकार और प्रेम के कारण वे हमारे संकट की घड़ी में सहायता करने आए थे। बाबा के और दो-एक तरुण मित्र भी उनके साथ थे। नासिक नगर में भी प्लेग का आतंक था, पर वहाँ बड़ा प्लेग-चिकित्सालय होने से काफी-कुछ सुविधा थी। रामभाऊ और उनके साथी दो-तीन वर्ष के प्लेग के अनुभव को झेलते-झेलते मजबूत हो गए थे। चापेकर द्वारा रैंड की हत्या कर दिए जाने के बाद से प्लेगग्रस्त घर से लोगों को जबरन बाहर निकालने और घर की तोड़-फोड़ करने का सरकारी अत्याचार कम हो गया था। फिर भी रोगियों को इस गाँव से उस गाँव ले जाने पर कड़ा प्रतिबंध था। नाकेबंदी, सेग्रीगेशन भी थी। रामभाऊ बाबा के समवयस्क थे, पर थे बड़े साहसी। किसी भी संकट में प्राणों की चिंता न करनेवाला वह जवान था। उपकार करने में भी तत्पर। इस कारण सारी बाधाएँ पार कर हम सब नासिक आ गए। रामभाऊ ने ही जगह दी, पर उनके पड़ोसियों और गलीवालों ने कोहराम मचाया। उस काल में प्लेगग्रस्त माँ-बाप को भी घर में रखना महाचोरी था। कारण ठीक ही था—रोग स्पर्शजन्य था!! किसी एक घर के रोगी के कारण पूरे मोहल्ले पर मृत्यु की छाया फैल जाने का भय रहता था, पर रामभाऊ ने वैसी स्थिति में भी हम लोगों को घर में जगह दी। दूसरे

दिन बापू काका की मृत्यु हो गई। मित्रों की सहायता से बाबा ने उन्हें अग्नि दी। बापू काका ने अपनी एक अच्छी रकम किसी वकील के यहाँ अमानत रखी थी। वे संतानहीन थे। कई बार कहते—नाम-पता दूँगा, पर अंत तक न नाम बताया, न पता दिया। हम भतीजों पर रत्ती भर विश्वास नहीं किया। तीन-चार हजार रुपए इस तरह डूब गए।

पिता के जाने के दस दिनों के अंदर काका का सहारा भी टूटा। बाकी रहे हम चार—बाबा, भाभी, मैं और बाल। उसमें बाल का भी कोई भरोसा नहीं था। दो-चार दिन में ही गली के लोगों के कारण उसे सरकारी प्लेग अस्पताल में भरती करा दिया। पर वह तो बच्चा था। उसे वहाँ अकेला छोड़ आने का अर्थ था कि जो 'काल' उसे ग्रसित करने को आतुर था, उसके गाल में उसे अपने हाथों से धकेलना। हमें कहा जाता, अब जो बचे हो, सुरक्षित रहो—एक के पीछे दूसरे का काल के गाल में कूदना अच्छा नहीं। बात सही भी थी, पर बाबा ने बाल की सेवा के लिए अस्पताल में उसके पास ही रहने का निर्णय किया। यह प्राण दाँव पर लगाने का खेल था। स्पर्शजन्य रोग होने के कारण रोगी की सेवा में लगे मनुष्य को भी अस्पताल के बाहर नहीं जाने दिया जाता था। बाहर के आदमियों से किसी भी तरह का संपर्क नहीं होने दिया जाता। इस तरह बाबा और बाल प्लेग अस्पताल में बंद हो गए तथा मैं और भाभी रामभाऊ के घर में पिछवाड़े घर पर रहने लगे।

अस्पताल में रात-दिन प्लेग के रोगियों के बीच ही रहनेवाले बाबा की चिंता मुझे बहुत सताती थी। बाल के प्लेग की गाँठ दो बार काटी गई, पर पाँव की उठा-पटक के कारण टाँके टूट गए। स्थिति गंभीर थी। रात्रि में वहाँ का वातावरण किसी पुराण-वर्णित भीषण चीख-पुकारों भरे श्मशान जैसा हो जाता था। कोई रेत में दौड़ रहा है, कोई खाट से बाँधा होने पर गालियाँ बक रहा है। कोई माँ-बाप, भाई-बहन के नाम ले-लेकर गला फाड़-फाड़कर रो रहा है। रोगी के आकस्मिक श्वास से भी कोई भला-चंगा आदमी प्लेगग्रस्त होकर पछाड़ खा जाए, ऐसे वातावरण में बाबा रह रहे थे। उनकी शारीरिक और मानसिक शक्ति पर कितना बड़ा बोझ और तनाव होगा, इसी चिंता में मैं व्याकुल था। बाबा के लिए कपड़े और भोजन लेकर दिन में दो बार मैं अस्पताल जाता। वहाँ अंदर जाना मना था। बाबा बाहर आते, किंतु बाहर का आदमी अंदर के किसी आदमी को छू नहीं सकता था। दूर ही भोजन रखना, बोलना, लौटना। वहाँ जाते समय नित्य यही डर रहता कि बाबा उस मृत्यु की दाढ़ से आज बाहर आते भी हैं या नहीं। उन्हें जरा भी विलंब हो जाता तो जी बैठने लगता। उन्हें भी प्लेग हो गया है, यही सोचते हुए दूसरी व्यवस्था क्या और कैसी हो, इसकी निर्दय योजना भी मेरा मन बनाने लगता। नासिक भी प्लेगग्रस्त था। अधिकतर

घर वीरान। रात में जब मैं भोजन ले जाता, तब अँधेरे में, उस वीराने में जाते हुए मन में डर पैदा होता। कभी कोई साथ मिलता, कभी नहीं मिलता। मिलता तो शवयात्रा का 'राम बोलो भाई राम' सुनता। मन में आता—आज राम बोलो मैं सुन रहा हूँ, कल शायद मेरे प्रिय बंधु की या मेरी ही शवयात्रा निकले तो उसका यह रावणी राम बोलो किसी तीसरे को सुनना पड़ेगा।

उस उग्र अस्पताल के द्वार पर जाते ही जिस अशुभ समाचार को सुनने की आशंका मुझे नित्य कंपित करती थी, वह समाचार सुनने को मिला। बाबा का भोजन लिये मैं अस्पताल के बाहर उनकी राह देखता खड़ा था। बाबा को बाहर आया देखते ही उस दिन के लिए मैं बहुत खुश हो जाता—कुछ देर के लिए चिंतामुक्त भी। परंतु उस दिन बाबा को देर हो गई। उत्सुकतापूर्ण चिंता से राह देखते बहुत देर हो गई। अंत में एक परिचित-से अधिकारी बाहर आए और सदय आवाज में बोले, 'आपके बड़े भाई को भी कल से ज्वर है, वे आज बाहर नहीं आ सकते।'

यह सुनते ही जैसे वज्रपात हो गया। खोद-खोदकर पूछा, तब उन्होंने पहले सद्हेतु से मन में छिपाई बात भी कह दी कि 'ज्वर प्लेग का ही है' और वे चले गए। नियमानुसार मैं बाबा को देख नहीं सकता था। बहुत दुःखी होकर लौट आया। लगा, आज वास्तव में अनाथ हो गया। आज मैं और भाभी—दो ही रह गए। इस समाचार से धक्का लगेगा, इसलिए उसे बताया नहीं। केवल रामभाऊ को यह बात बता दी। वह दिन मेरे परिवार पर प्लेग के पड़ रहे मारक आघातों की मार का अंतिम वज्राघात था। इन सब आघातों और क्लेशों से मेरी जीवनी शक्ति घटकर रह गई। मुझे प्लेग कैसे नहीं हुआ, यह सोचकर आश्चर्य होता है, पर प्रकृति ने साथ दिया।

उस दिन से धीरे-धीरे भाग्य चढ़ती पर बढ़ने लगा। बाबा का प्लेग अनिष्ट की ओर नहीं बढ़ा, संक्षेप में ही निपट गया। बाल भी क्रमशः ठीक होने लगा। दोनों ही चंगे होकर घर लौट आए और लगभग दो-तीन माह में नासिक का प्लेग भी ठंडा पड़ गया। हम चारों ही—भाई-भाभी, बाल और मैं, शिक्षण आदि की सुविधा के कारण नासिक में ही स्थायी रूप से रहने के विचार से वहीं रामभाऊ के घर में रहने लगे। इन सब पारिवारिक चिंताओं और क्लेशों में भी मैंने अपने निर्धारित कार्य और व्रत को छोड़ा नहीं था। परंतु वे सारी बातें सुसंगत रूप से अगले अध्याय में ही दूँगा। भगूर का मेरा संबंध इसके बाद छूट-सा गया और नासिक ही मेरा तथा मेरे परिवार का वास्तविक निवास-स्थान हो गया। इस तरह जिस रात हमने आसन्नमरण बाल को लेकर गुप्त रूप से भगूर छोड़ा, उसी रात भगूर को, अपनी उस मातृभूमि को मैंने सदा के लिए राम-राम कर लिया!

□

परिशिष्ट

स्वातंत्र्यवीर देशभक्त बैरिस्टर विनायकराव सावरकर के बचपन के एक साथी श्री गो.आ. देसाई द्वारा लिखित कुछ स्मृतियाँ-सुधियाँ—

१. विनायक के पिता दामोदर पंत अपने समय में भगूर गाँव के एकमात्र अंग्रेजी पढ़े-लिखे आदमी थे। भगूर में लोग उन्हें 'अण्णा साहब' कहते थे। अण्णा मैट्रिक तक अंग्रेजी पढ़े थे। वे विद्वान् और अच्छे वक्ता थे। उचित समय पर चुटीला विनोद करना उनका स्वभाव था। चूँकि वह अपने गाँव में अंग्रेजी पढ़े-लिखे एकमात्र आदमी थे। अत: वहाँ की जनता के सार्वजनिक एवं घरेलू कार्य का भार उनपर ही पड़ता था। उन्हें सार्वजनिक-राजनीतिक कार्य करने का बड़ा चाव था। उनके भाषणों का उत्कृष्ट प्रभाव जनता के मन पर पड़ता था। जनता में उनके भाषणों से जोश आता था।

२. अण्णा साहब की पत्नी श्रीमती सौभाग्यवती राधाबाई (बै. सावरकर की माताजी) स्वर्गीय मनोहर दीक्षित, तहसील निफाड़, गाँव कोठूर की कन्या थीं। पाँच हजार स्त्रियों में भी राधाबाई जैसी साध्वी, तेजस्वी, अत्यंत सुंदर और सुशिक्षित स्त्री का मिलना कठिन था। वे जब तक जीवित रहीं—अण्णा साहब के घर में साक्षात् लक्ष्मी का निवास था। हैजे में उनकी मृत्यु के बाद अण्णा साहब का वैभव दिनोदिन घटने लगा। सावरकर बंधुओं जैसे तेजस्वी रत्नों का जन्म साध्वी राधाबाई जैसे पवित्र, शुद्ध, तेजस्वी गर्भ से ही संभव था—इसमें रत्ती भर भी शंका नहीं। तुकाराम महाराज की वाणी—'शुद्ध बीज ही देते, फल उत्तम रसीले' यहाँ पूरी खरी उतरती है।

३. राधाबाई जब तक जीवित थीं, तब तक भगूर के महिला वर्ग के धार्मिक, सांस्कृतिक आदि सारे समारोह सावरकर के बाड़े में उन्हींके नेतृत्व में होते थे। वट सावित्री, संक्रांति आदि वार्षिक समारोहों में सावरकर का बाड़ा महिलाओं, बच्चों से भर जाया करता था। परंतु सावरकर घराने का यह

आनंद राधाबाई जैसी भाग्यशाली महिला के निवास-परिवर्तन के कारण समाप्त हो गया। सावरकर घराने की लक्ष्मी अंतर्धान हो गई। गृहस्थी का सारा बोझा अण्णा साहब पर आया।

४. वैसी दुःखमय स्थिति में भी अण्णा साहब ने धीरज एवं विवेक से अपने लड़कों और एक कन्या का लालन-पालन पूरी तत्परता से किया। बच्चों की व्यवस्था भी वे इतने नियोजित ढंग से करते थे कि उसे देखनेवाला आश्चर्य में पड़ जाता था—चाहे वह स्त्री हो या पुरुष। बच्चों के योग्य लाड़ पूरे करने में वे कभी टाल-मटोल नहीं करते थे। वैसे ही बच्चों की शिक्षा पर यथायोग्य दृष्टि का लाभ सावरकर बंधुओं की संगति में रहकर उनके साथियों को भी मिलता था। विनायक अथवा तात्या (बै. विनायक को बचपन में घर के सदस्य 'तात्या' ही कहते थे) को साहित्य-वाचन का व्यसन था। अतः उनके पाठशाला का काम समय पर न होने पर अण्णा के प्रखर वाग्बाण छूटे बिना नहीं रहते थे। उसमें सावरकर बंधुओं के साथ उनके मित्रों पर भी इन बाणों के आघात हुए बिना नहीं रहते थे, पर अण्णा साहब का स्वभाव ऐसा था कि तरकस के बाण समाप्त होते ही कुछ देर बाद वे सभी बच्चों को प्रेम और हास्य-विनोद से अपना बना लेते थे।

५. सावरकर के बाड़े में खेलने का जो समय रहता था, उस समय तात्या के मित्र गोपाल आनंदराव देसाई, आत्माराम कोंडाजी शिंपी (दरजी), रावजी कोंडाजी शिंपी, राजाराम राणुशिंपी, परशुराम राणुशिंपी, त्र्यंबक सखाराम शिंपी, त्र्यंबक सदाशिव कुलकर्णी, सावलीराम सुनार आदि के साथ पाठशाला का दूसरा छात्र वर्ग भी उपस्थित रहता था। इन बच्चों को खेलने के लिए जो साधन वहाँ प्राप्त थे, उनमें धनुष-बाण, चक्र, गदा, परशु, तलवार आदि प्रमुख थे। वे सारे शस्त्र देखने योग्य थे। उन शस्त्रों में बाण तो अप्रतिम थे। उनके अग्रभाग लोहे के और पीछे वाले भाग पंख के बने होते थे। सावरकर के बाड़े में इन शस्त्रों को लेकर सेना सज्जित हो जाने पर उनके दो दल बनते। उन दलों के नाम पौराणिक या ऐतिहासिक होते थे। राम-रावण, कौरव-पांडव, मराठा-मुसलमान का युद्ध शुरू होता और उसमें प्रमुख भूमिका तात्या की ही होती। अण्णा साहब इन युद्धों को देखा करते। 'पूत के पाँव पालने में ही दिखने लगते हैं' कहावत का अनुभव अण्णा साहब को तात्या के संबंध में पग-पग पर होने लगा। उस छोटे वय में भी तात्या का पुराण और इतिहास का अध्ययन बड़ा ही अच्छा था।

६. बचपन से ही तात्या के भाषण में मधुरता, मार्मिकता, समय-सूचकता और

व्यवहार-ज्ञान भरा रहता था। रास्ते में आते-जाते लोग तात्या को इस-उस बहाने रोकते और कुछ-न-कुछ बोलवाते। उनके भाषण से तृप्त हुए बिना उन्हें कोई जाने ही नहीं देता था।

७. तात्या अपने शालेय अभ्यास-क्रम में से कोई-न-कोई नई चीज निकालते। एक बार शिक्षकों की बताई पद्धति से हम रुपए-आने-पाई का योग निकाल रहे थे। इस पद्धति में पहले पाई, उसके बाद आना और अंत में रुपए का जोड़ लगाया जाता है, पर तात्या ने अलग ही पद्धति चलाई—उसमें पहले रुपए, बाद में आने और अंत में पाई जोड़ी। तात्या का और हमारा उत्तर एक-सा आया। एक अल्पवय छात्र की जोड़ करने की अनोखी पद्धति देख शिक्षकों को भी आश्चर्य हुआ।

८. पुराण, इतिहास आदि के ग्रंथ पढ़ने, कविता करने आदि के कार्यों के कारण पाठशाला के गृह-कार्य में वे पिछड़ जाते। इससे पाठशाला में श्रेष्ठता-क्रम गड़बड़ा जाता। अत: श्रेष्ठता बनाए रखने की तात्या की एक युक्ति बड़ी अनोखी थी। पाठशाला में नियम था कि जो पहले आएगा, वह पहले क्रम पर बैठेगा। उसके लिए उसे अंक भी मिलते। आने का समय भी निश्चित रहता। वह समय निकल जाने पर वे अंक नहीं मिलते। सभी छात्र अपनी-अपनी योग्यता से गृहपाठ करके लाते थे, पर जिस दिन तात्या का गृहपाठ पूरा नहीं हो पाता, उस दिन तात्या देर से पाठशाला आते और सबसे अंत में बैठते। कक्षा प्रारंभ होने पर शिक्षक पहले क्रम से प्रश्न पूछते जाते। तात्या का क्रम जब तक आता, तब तक वह अपना गृहपाठ पूरा कर लेते और समय आने पर सही उत्तर देकर प्रथम स्थान प्राप्त कर लेते।

९. तात्या जब कक्षा पाँच 'मराठी' उत्तीर्ण हुए, तब देशभक्त बाबाराव सावरकर नासिक में अंग्रेजी पढ़ रहे थे। छुट्टी होने के कारण वह भगूर आए हुए थे। ऐसे में एक दिन सावरकर के घर में भगूर पाठशाला के शिक्षक श्री गंगाधर नथू खरे, उर्दू पाठशाला के मुख्य शिक्षक, तात्या के पिता अण्णा साहब आदि बुजुर्ग और तात्या के संगी-साथी सब बैठे थे। बड़े आदमियों में इतिहास पर चर्चा चल रही थी। उस चर्चा में तात्या भी सहभागी थे। और उसी समय वहीं बैठकर बाबाराव सावरकर गणित का एक प्रश्न हल करने में एकाग्रता से जुटे हुए थे। बहुत प्रयास के बाद भी वे उस प्रश्न को हल नहीं कर सके। फिर अंग्रेजी शिक्षक गंगाधर नथू खरे ने प्रयास किया—वे भी विफल रहे। तीसरे वर्ष के ट्रेंड उर्दू पाठशाला के मुसलमान शिक्षक भी उसमें जुटे। उनका भी प्रयास विफल रहा। तब अण्णा साहब ने तात्या को

थोड़े व्यंग्य से कहा, 'तात्या, तुम भी देखो।' तात्या ने गणित का वह प्रश्न हल करना प्रारंभ किया। आश्चर्य यह कि तात्या ने उसे हल कर दिया और उपपत्ति के साथ सबको समझा भी दिया। जोरदार तालियाँ बजीं। तात्या के पिता को उस समय कितना हर्ष हुआ होगा, यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

१०. तात्या रात-बिरात में अकेले ही उठकर देश की स्वतंत्रता के प्रोत्साहन हेतु कविता, लेख आदि लिखा करते थे। अण्णा साहब इसके लिए उन्हें डाँटते, पर तात्या का क्रम चालू था। पिताजी से चुराकर वे लिखते थे, परंतु एक बार रात के कोई दो-तीन बजे कविता करते हुए तात्या को पिता ने पकड़ा। क्रोध में उन्होंने पूछा, 'क्या कर रहे हो?' तात्या ने कहा, 'कुछ नहीं—नींद टूट गई, इसलिए कुछ परमार्थ कविताएँ लिखकर देख रहा हूँ।' अण्णा साहब इस उत्तर से संतुष्ट होनेवाले नहीं थे। उन्होंने तात्या के सारे कागज छीने और उन्हें देखा। ऊपर के कागज पर सचमुच एक परमार्थ कविता लिखी हुई थी, किंतु नीचे के कागज पर झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई के शौर्य पर लिखे कुछ छंद थे। पिताजी की इस छानबीन से बाल मूर्ति गड़बड़ा गई, पर पिताजी उन छंदों को पढ़कर संतुष्ट हुए। तात्या की सहमी हुई स्थिति भी उनके ध्यान में आ गई। तब उन्होंने तात्या का सिर सहलाते हुए उसे रात में न जागने का परामर्श दिया। श्री परशुराम शिंपी, राजाराम शिंपी और यह लेखक विद्यार्थी के रूप में रोज सावरकर के ही घर में सोने जाते थे, इसीलिए तात्या का जागना और सारे कार्यक्रम देख चुके थे।

११. बंबई में हिंदू-मुसलमानों का जो दंगा हुआ, उस समय तात्या की आयु कोई बारह-तेरह वर्ष की थी। ऐसे बाल वय में भी मुसलमानों के अनीतियुक्त व्यवहार और धर्मांधता पर इस पवित्र हृदय बाल किशोर को बड़ा क्रोध आता था। उसी क्रोध के कारण वे हम संगी-साथियों को मुसलमानों के कपटी दुर्गुणों की सारी जानकारी बड़े स्पष्ट शब्दों में देते थे और हममें स्वधर्माभिमान भरते थे।

१२. भगूर गाँव के बाहर वायव्य दिशा की ओर मुसलमानों की उनके धार्मिक दिनों में नमाज पढ़ने की 'निमजगा' नामक मध्यम ऊँचाई की एक टेकड़ी है। इसकी ऊँचाई के कारण वहाँ शुद्ध और शांत हवा हमेशा बहती रहती थी। उस वातावरण का लाभ लेने के लिए संध्या समय हम दोस्त लोग तात्या के साथ उस टेकड़ी पर घूमने जाया करते थे। वहाँ यह बाल किशोर, यह स्वतंत्रता-सेनानी, अपने प्रिय भारत राष्ट्र पर छाई परतंत्रता रूपी भीषण

काली रात कब बीते और कब स्वतंत्रता का सूर्योदय हो, इसकी चिंता में हमसे घंटों बतियाता था। यह टेकड़ी उस बालक के लिए विचार करने की एक क्षेत्र-भूमि ही हो गई थी, जहाँ वह अपनी मातृभूमि को परतंत्रता के नरक से निकालकर स्वतंत्रता के स्वर्ग में लाने के उपायों पर प्रखरता से विचार करता था। तात्या से हमें वहाँ सदैव उच्च विचार ही सुनने को मिलते थे। पुणे के 'काल' पत्र में जब तात्या के लिखे लेख प्रकाशित होने लगे, तब उनके शीर्षक—'सह्याद्री के कब्जे में पड़ी कल्पनाशक्ति, शिवाजी पुण्याह वाचन' आदि पढ़कर तात्या द्वारा हमें पूर्व में ही सुनाए गए विचारों का सहज स्मरण होता रहा।

१३. तात्या के पूर्वजों ने एक बहुत सुंदर देवी-मूर्ति अपने पराक्रम से प्राप्त की है, यह तात्या के पिता अण्णा साहब स्वयं कहा करते थे। तात्या इस देवी के बचपन से ही बड़े भक्त थे। उसकी ध्यान-धारणा करने में बालभक्त तात्या का घंटों समय जाता। देश को स्वतंत्र करने की सौगंध इसी महिषासुरमर्दिनी के सामने उस बालक ने ली और वे अपने को 'दुर्गादास' कहने लगे। कुछ लिखने के पहले 'श्री' या 'श्री गजानन प्रसन्न' लिखने की परंपरा का निर्वाह करने के लिए तात्या 'श्री योगेश्वरी प्रसन्न' लिखते थे। यह उनका अपने इष्ट देवता का आह्वान था। 'श्री योगेश्वरी प्रसन्न' का आगे चलकर 'स्वातंत्र्य लक्ष्मी प्रसन्न' ऐसा रूपांतरण हुआ।

१४. ऊपर संदर्भित महिषासुरमर्दिनी की पीतल की वह मूर्ति वर्तमान में भगूर के श्री खंडेराव के मंदिर में है। यह मूर्ति दर्शनीय है। अपने इस इष्ट देवता के आगे देश को स्वतंत्र करने की सौगंध लेने के बाद उन्होंने अपना आत्म-चरित्र 'दुर्गादास चरित्र' लिखना प्रारंभ किया था। वह बहुत-कुछ लिखा भी जा चुका था, परंतु फिर कालाग्नि में नष्ट हो गया। उसी समय इस लेखक ने भी स्वातंत्र्य वीर विनायक राव का चरित्र-लेखन प्रारंभ किया था और वह उस समय के वृत्त सहित काफी-कुछ लिखा भी गया था, पर वह भी काल की आँधी में बच नहीं सका। वह चरित्र-गाथा आज अगर उपलब्ध होती तो उसमें वर्णित तात्या के स्वतंत्रता-प्राप्ति के प्रयासों में से उनके बाल स्वभाव की अधिक जानकारी मिली होती, पर संयोग कुछ भिन्न ही थे।

१५. बालक तात्या का स्वभाव इतना चंचल और उपद्रवी था कि कहिए मत। हिंदू-मुसलमान दंगों के समय में मुसलमान हमेशा अण्णा साहब से तात्या की शिकायत करते रहते, क्योंकि वे कुछ-न-कुछ उत्पात करते ही थे। अण्णा साहब तात्या को जो डाँट-फटकार करते, उसका प्रसाद हम संगी-

साथियों को भी मिलता। एक बार हम कई मित्र संध्या समय तात्या के साथ निमजगा टेकड़ी पर घूमने गए थे। हम सब एक ओर थे और तात्या किसी गूढ़ विचार में डूबे दूसरी ओर थे। घर लौटने के लिए तात्या को साथ लेने हम उनके पास पहुँचे। वहाँ तार के एक टुकड़े को झुकाकर बनाई एक चिमटी में एक काला साँप पकड़े तात्या को देखा। साँप फुफकार रहा था और तात्या उसका मजा ले रहे थे। यह देखकर हम सब डर गए, पर तात्या निर्भय थे। मैंने चिल्लाकर तात्या से कहा, 'तात्या, छोड़ो उस साँप को—जल्दी छोड़ो! काट खाएगा', लेकिन तात्या ने अनसुनी कर दी। वे साँप पकड़े शांत खड़े थे। जब मैं अधिक हल्ला-गुल्ला करने लगा, तब उन्होंने चिमटी सहित उस साँप को नीचे गिरा दिया। वह भी बेचारा तत्काल भाग गया। यह बात हमने घर पर किसीको बताई नहीं, नहीं तो अण्णा साहब सबकी महापूजा करते और कुछ दिनों के लिए हमारा घूमने जाना बंद हो जाता।

१६. 'केसरी' में शिवाजी उत्सव के विषय में समाचार और संपादकीय लेख जब आने लगे, तब भगूर में भी शिवाजी उत्सव का आयोजन करने का विचार तात्या ने हम बाल सहयोगियों की सहमति से बनाया। भगूर का यह पहला शिवाजी उत्सव हमने श्री बालमुकुंद मणीराम सेठ मारवाड़ी की बड़ी-सी छत पर बड़े उत्साह से आयोजित किया। उस समय उत्सव की प्रस्तावना का भाषण इस लेखक ने दिया तथा मुख्य भाषण तात्या का हुआ। हम दोनों के वे ही पहले सार्वजनिक भाषण थे। तात्या का, उस बालवीर का अति सुंदर और ओजपूर्ण वह भाषण सुनकर श्रोता तो आश्चर्यचकित हो ही गए, अण्णा साहब भी चकित हुए।

१७. पुणे में पहली बार प्लेग की महामारी शुरू हुई। उसमें सरकारी अधिकारी रैंड और आयर्स्ट ने जनता पर जो अत्याचार किए, वे सर्वविदित हैं। जनक्षोभ के आवेश में उस समय उन अधिकारियों की हत्या हुई। उस सारे दुश्चक्र में चापेकर बंधु, रानडे और द्रविड़ बंधु बलि चढ़े। उस सारे वृत्तांत पर तात्या ने 'वीर श्रीयुक्त' नामक एक नाटिका लिखी थी। उसका मंचन करने की योजना भी तात्या और उनके बाल सहयोगियों ने बनाई थी, पर अण्णा साहब ने ऐसा नहीं होने दिया और अण्णा साहब के उस समय धारण किए नरसिंह अवतार में वह नाटिका भी नष्ट हो गई।

१८. मुझे बचपन से ही वाचन प्रिय है, बशर्ते वह कहानियाँ, उपन्यास, पौराणिक ग्रंथ आदि का वाचन हो। परंतु तात्या ने अपने इस बालसखा की रुचि

उपरोक्त तरह के वाचन से मोड़कर मराठी भाषा के विद्वान् कै. विष्णु शास्त्री चिपळूणकर की निबंधमाला की ओर घुमाई। उस समय मैंने निबंधमाला में छपा एक लेख 'हमारे देश की स्थिति' कम-से-कम सात-आठ बार बड़े लगन से पढ़ा था। मुझमें राजनीति की रुचि तात्या ने ही जगाई, यह कहे बिना मुझसे रहा नहीं जाता।

१९. भगूर में पहली बार प्लेग फैला। अतः दूर अपने मामा के गाँव रहने मुझको जाना था। जाने से पूर्व सावरकर बंधुओं से मिलने मैं नासिक गया। सावरकर बंधु उस समय नासिक में ही अण्णा राव की मृत्यु के बाद दीन-हीन अवस्था में, परंतु साहस से रह रहे थे। भेंट हो जाने के बाद मुझको तात्या ने निबंधमाला की कुछ पुस्तकें पढ़ने के लिए दीं। पुस्तकें लेकर जाते समय रास्ते में उस समय नासिक के प्रसिद्ध विद्वान् बहुश्रुत, उत्तम वक्ता और आशु कवि कै. बलवंत खंडूजी पारख मिले। उन्होंने पूछा, 'बगल में कौन से ग्रंथ हैं—कहाँ से लाए हैं?'

मैंने उन्हें सारी बात बता दी। उस समय उन्होंने तात्या के लिए इतना आदर प्रकट किया कि क्या कहूँ? तात्या की काव्य-क्षमता, अप्रतिम भाषण-शैली, तेजस्वी लेखन-कला आदि को लेकर उन्होंने तात्या के लिए अनेक प्रशंसनीय बातें कहीं। मुझे जाने की जल्दी थी, इसलिए पारखजी का व्याख्यान रुक गया, अन्यथा न जाने कितनी देर तक वह चलता रहता।

□□□

नासिक

नासिक

नासिक-पंचवटी नामक संयुक्त नगर और क्षेत्र अपने भरतखंड में प्रसिद्ध और अति पुरातन नगरों में से एक है, इसमें कोई शंका नहीं। रामायण काल में दंडकारण्य में जिस गोदावरी के तट पर राम और सीता पर्णकुटी बनाकर वन में रहते थे और जहाँ बाद में राक्षसों से संघर्ष करके राम-लक्ष्मण ने शूर्पणखा राक्षसी की नाक काटी और खरदूषण को मारा, उसी स्थान पर और उसी पराक्रम के स्मारक रूप में यह नगर बसा और उसे 'नासिक' नाम मिला। यह पुरातन दंतकथा विख्यात है। इसी कारण नासिक-पंचवटी का कोना-कोना राम और सीता की स्मृति से भरा हुआ है। पंचवटी के पास में ही—'सीता देवी यहाँ रहती थीं' कहकर दिखाई जाती 'सीता गुफा'—राम-निवास है। वहीं निर्मित काले राम का मंदिर, तीन राक्षस जहाँ मारे गए वह तिबंधा, नासिक और पंचवटी के बीच से बहती गोदावरी, राम-लक्ष्मण-सीता कुंड, रामचंद्रजी के पदरज से पुनीत इस पुण्यभूमि के दर्शनार्थ, सिंहस्थ मेले में पूरे भरतखंड से वहाँ आनेवाले लाखों भावुक भक्तों, साधु-संतों, बैरागियों, गोसाइयों का प्रचंड मेला लगता है और उन लाखों कंठों से, सैकड़ों भाषाओं में 'सीताराम' की जय-जयकार गूँजती है। नासिक का सारा वातावरण राम और सीता की स्मृति से भरा-भरा रहता है।

ये सारी पौराणिक आख्यायिकाएँ कुछ देर के लिए अलग रख दें, तो भी ऐतिहासिक काल में भी नासिक की गिनती प्राचीन और प्रसिद्ध नगरों में होती थी। राष्ट्रकूटों के समय में यह नगर प्रख्यात था—कितने ही राजाओं की राजधानी रहा और अर्वाचीन काल में भी हमारी हिंदू संस्कृति का नाम भी रह न पाए, ऐसी क्रूर महत्त्वाकांक्षा से मुसलमानों ने जब हमारे अनेक प्राचीन नगरों के नाम बदले, तब नासिक का भी नाम बदलकर उसे 'गुलछनाबाद' रखने का प्रयास किया, पर सामना था शूर्पणखा से। उसका पुण्य भारी था। तभी तो लक्ष्मण से नाक कटाने का सौभाग्य उसे मिला था। उस पुण्य के प्रताप से ही मुसलमानों की नाक भी नीची हुई और

उसकी खंडित नासिका का नाम ही अखंड रहा। एक बार हमारे रावबाजी—दूसरे बाजीराव पेशवा—की भी नासिक को अपनी राजधानी बनाने की इच्छा हुई थी। उस हेतु से एक उत्कृष्ट भवन भी उन्होंने बनवाया था। मैं जब नासिक आया, तब वह 'पेशवावाड़ा' के नाम से प्रख्यात था। उस बाड़े के अंदर जाकर जब भी मैं देखता, मेरे मन में पूर्वजों और पूर्व वैभव के स्मरण से उथल-पुथल मच जाती, मन में क्रांति की ज्वाला चेतती और संयोग यह कि जिस बाड़े को देखकर क्रांति की ज्वाला चेती, उसे बुझाने के लिए भी उसी बाड़े का उपयोग अंग्रेजों ने किया। नासिक के कलक्टर का वध किए जाने के बाद जब हमारे क्रांतिकारी दल की धर-पकड़ हुई, तब 'अभिनव भारत' संस्था के कितने ही क्रांतिकारी युवाओं को इसी बाड़े में बंद कर अंग्रेजों ने उन्हें यातनाएँ दी थीं।

नासिक की उपर्युक्त पौराणिक और प्राचीन जानकारी छोड़ दें तो गत दो-तीन सदियों में उसका कोई उल्लेखनीय महत्त्व नहीं रह गया था। सन् १८९९ में जब हम स्थायी रूप से नासिक रहने आए, तब यह महाराष्ट्र का एक पिछड़ा नगर था। कुछ संस्कृत विद्या मात्र जीवित थी, बस। बाकी सार्वजनिक नूतन जीवन या राजनीतिक तेज उसमें रत्ती भर भी नहीं था। तीर्थस्थल होने के कारण धंधेबाज पंडों की चिल्ल-पों, फालतू के उत्पात और घर-घर के रगड़े-झगड़े, झगड़ों में उलझे-रमे बच्चे और वयस्क, इससे अधिक कुछ उस समय के नासिक में सुनाई नहीं देता था। पुरानी सँकरी और धूल-भरी फर्शी की गलियाँ ही वहाँ थीं। चौड़ी, सीधी सड़क एक-आध ही दिखती थी।

तिलभांडेश्वर की गली और उसके निवासियों का जो वर्णन आगे मैं लिखने वाला हूँ—वह वर्णन अपवाद नहीं था, उसे ही बढ़ाकर देखने पर नासिक नगर का जीवन-क्रम उभरता था। उस समय तिलभांडेश्वर और नगरकर की गली उस समय के नासिक की रचना और चरित्र का एक यथावत् नमूना ही थी। ऐसी स्थिति के नासिक में हमारा परिवार प्लेग के प्रकोप के बाद भगूर छोड़कर सदा के लिए रहने आया, क्योंकि भगूर से निकटवर्ती और जिला मुख्यालय होने से भी अंग्रेजी की पढ़ाई की सुविधा के लिए नासिक में रहना आवश्यक और सुविधापूर्ण था।

श्री म्हसकर

प्लेग के सरकारी अस्पताल में बाल और बाबा जब बंद थे, तब वहाँ बाबू का काम करनेवाले श्री म्हसकर से उनका परिचय हुआ। यह व्यक्ति रहन-सहन से गरीब, पर हृदय से विशाल था। उस अस्पताल में श्री म्हसकर स्वयं एक छोटे से अधिकारी थे। उनका अपने बड़े अधिकारियों से मेलजोल होने के कारण बाबा को

उनसे सहयोग लेने की आवश्यकता बार-बार पड़ी और म्हसकर ने भी अंत तक बाबा की अपने विशेष संबंधी की तरह पूछताछ और सहायता की। उनका स्वभाव मूलत: दयालु, संकट में हर किसीका सहायक, पापभीरु, सीधा परंतु मर्मज्ञ था।

म्हसकर और बाबा के बीच स्नेह-सूत्र बँध जाने का कारण स्वधर्म और स्वराज पर खुली चर्चा का होना था—अस्पताल में एक बाबा के सिवाय कोई और सुशिक्षित और उदारमना व्यक्ति नहीं था जिससे म्हसकर राजनीतिक विषय पर बात कर सकते। भाषण प्रतियोगिता में हुए मेरे भाषण के कारण म्हसकर परोक्ष रूप से मुझे जानते थे। धीरे-धीरे उनसे मेरी राजनीतिक चर्चाएँ होने लगीं। बाबा ने उनसे चापेकर तथा रानडे पर मेरे द्वारा रचित पोवाड़ा पढ़ने की बात कही थी। म्हसकर के राजनीतिक विचार 'काल' समाचारपत्र की ओर झुके हुए थे और वे स्वयं भी 'काल' पत्र में छद्म नाम से बहुत पहले से लिखते थे। उन्होंने मेरा चापेकर-रानडे पोवाड़ा पढ़ा तो उन्हें वह बहुत भाया। उनका उसे प्रकाशित करने का विचार था। बाबा-म्हसकर और उनके एक मित्र पागे—तीनों का विचार था कि उस पोवाड़े की शब्द-रचना में से कुछ बहुत तीखे, चुभते शब्द हटाकर मैं उसे थोड़ा सौम्य बना दूँ। मैंने वैसा ही किया। फिर भी जो रहा, वह किसी भी छापाखाने के लिए तीखा ही था। 'काल' पत्र को भी एक संशोधित प्रति भेजी गई, पर वे भी उसे छाप न सके। धीरे-धीरे वह योजना ठंडी पड़ गई।

इस तरह हमारे बीच जब राजनीतिक विषयों पर ऊहापोह बढ़ने लगा, तब हमारा आपस में विश्वास और परस्पर आदर भी बढ़ने लगा। म्हसकर उस समय तीस वर्ष के थे। सरकारी नौकरी में रहते हुए भी नासिक के छोटे-मोटे सार्वजनिक उत्सव, सभा आदि के कार्यों में बिना प्रकाश में आए जो काम कर पाते, वह वे करते थे। नासिक के उस समय के बड़े-बुजुर्ग नेता बापूराव केतकर, वयोवृद्ध दाजीराव केतकर, लोकसेवाकार बर्वे, रायबहादुर वैद्य, कवि पारख आदि लोगों में म्हसकर की अच्छी पहचान थी। उन नेताओं का अभिमत था कि सार्वजनिक रूप से प्रामाणिक और संग्रहणीय कार्य के लिए म्हसकर एक उपयुक्त व्यक्ति हैं। म्हसकर का अभिमत था कि नेता के नाम से जाने जाते वकील वर्ग के अधिकतर लोग दिखावटी कार्यकर्ता हैं और यदि उसके हाथों कुछ काम होना भी है तो वह उन जैसे अंतर्प्रवाही कार्यकर्ताओं द्वारा सबकुछ पहले से ही तैयार करने के बाद केवल हस्ताक्षरों के लिए उनके पास पहुँचता है। अर्थात् नेता म्हसकर को दूसरी श्रेणी का समझते थे तो म्हसकर उन्हें अपना दिखावटी नेता मानते थे। कुल मिलाकर म्हसकर विद्वान् नहीं, पर सुविज्ञ; धनी नहीं, पर परोपकारी; साहसी नहीं, पर स्पष्टवक्ता; प्रबल नहीं, पर प्रामाणिक और पूर्णत: देशभक्त, सज्जन तथा निस्स्वार्थ

कार्यकर्ता थे। वे स्वयं प्रत्यक्ष क्रांति करने के लिए आगे आनेवाले नहीं थे, पर उनका राजनीतिक झुकाव—स्वदेश को स्वतंत्र करने के लिए यदि सशस्त्र क्रांति के रास्ते जाना पड़े तो अंदर से सहायता देने में संकोच न करने का था। उनका रहन-सहन भी उनके सरल, सद्‌शील और निष्कपट स्वभाव के अनुसार ही था। घुटने तक की ढीली धोती, माथे पर भव्य भस्म-लेपन, मटमैला गोरा रंग, प्रात:काल पूजा पात्र हाथ में लेकर मंदिर-मंदिर जाना, उनके सहज सौम्य शब्दों को प्रकट करने के लिए सहायक आगे बढ़े दाँत, व्रत-उपवास, बिना इस्त्री का कोट, टोपी और बहुत कार्य करने के बाद भी अल्प बात करने की वृत्ति—म्हसकर का नाम लेते ही ऐसी छवि आँखों के सामने आ जाती है।

श्री पागे

म्हसकर के एक मित्र पागे का उल्लेख ऊपर आया है। वे भी सरकारी नौकर ही थे। तब उनकी भी आयु तीस के आसपास थी। उनके स्वभाव और म्हसकर के स्वभाव में जो अंतर था, वह अधिकतर एक-दूसरे का पूरक ही था। इसलिए उनकी सहकारिता और स्नेह आजन्म बना रहा। पागे आगे-आगे दिखते थे, जबकि म्हसकर का स्वभाव संकोची—पीछे-पीछे रहने का था। पागे को अपनी छोटी सी आय में भी यथासंभव बड़प्पन दिखाने, दस आदमियों में बैठने-उठने का उत्साह था। पागे ने अपना आत्म-वृत्त लिखा था। दोनों इकट्ठे ही समाचारपत्र पढ़ते। पागे कतरनें काटकर उन्हें प्रयासपूर्वक लगाकर रखते। लेख म्हसकर लिखते, पर जानकारी पागे देते थे। पागे घर में एक छोटी पाठशाला चलाते थे। म्हसकर भी उसमें कभी-कभी पढ़ाते थे। पागे ठिगने थे—मुँह और आँखें छोटी और गोल, शरीर बहुत दुबला, निस्तेज और सूखा-सा, पर उनकी चटपटी बातचीत का प्रभाव लोगों पर पड़ता था। उनके साथ हमेशा चार-पाँच अनुयायी रहते थे। कोई-न-कोई सार्वजनिक आंदोलन चलाने में अल्प शक्ति होते हुए भी वे व्यस्त रहते थे।

नासिक के सार्वजनिक कार्य में अनेक छोटे-बड़े कार्यकलापों में उनका हाथ रहता ही था। म्हसकर और पागे—दोनों ही राजनीति में 'काल' पत्र के आदर्शानुसार क्रांतिकारी मार्ग से राष्ट्र को स्वतंत्रता की ओर ले जाने का विचार रखते थे, पर उन्हें उस दिशा की, साधनों की स्पष्ट कल्पना, योजना या विचार नहीं थे। उनके सार्वजनिक कार्य गणपति उत्सव, शिवाजी उत्सव आदि तिलकपंथी विचारों के ही थे। वकीलों में किसीने यदि उदार भाषा का प्रयोग किया तो उसको लक्ष्य बनाकर जिसे राष्ट्रीय-उग्रवादी नीति कहते थे, उसका उपयोगकर विदेशी शासन के विरुद्ध लोगों में हलचल उत्पन्न करने की इच्छा उनकी रहती थी, परंतु स्वयं कोई

विधि-विरुद्ध कार्य करने के विरोध की नीति का वे सामान्यतया समर्थन करते थे।

प्लेग अस्पताल में बाबा की दोस्ती म्हसकर से होने के बाद उनके मित्र पागे से भी बाबा की दोस्ती हो गई। म्हसकर मेरे भविष्य के बारे में बड़े आश्वस्त हो गए। तब मैं केवल सोलह वर्ष का था। इसलिए मेरे क्रांतिकारी विचार सुन उन्हें मेरी चिंता होती थी और अपने विचारों के कारण मेरा अकाल नाश न हो जाए, इस विचार से वे मुझे समझाते थे। बिना भयभीत किए यथासंभव मुझे रोकना, बड़ा होने के नाते उनका कर्तव्य है, यह उनका सोचा-समझा पक्का निर्णय था। कुछ ही समय के साहचर्य से मेरे मन में म्हसकर के लिए बहुत आदर उत्पन्न होने लगा था। उनकी देशभक्ति किसी सरोवर की तरह अगाध और गहरी लगती थी। प्लेग के संकट में परिवार की दुर्गति के समय भी अपने क्रांतिकारी विचारों का, जो भी व्यक्ति मुझे मिलता, मैं उससे वाद-विवाद कर प्रचार करता रहता था। म्हसकर से भी वैसा ही वाद-विवाद मैंने प्रारंभ किया। भगूर में ली गई अपनी शपथ की बात मैंने उन्हें बताई। ऐसे ही शपथबद्ध लोगों की एक गुप्त मंडली की स्थापना करनी होगी, यह भी मैंने उन्हें कहा। पहले तो वे मुझे ऐसा जताते रहे कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसमें नया कुछ भी नहीं है और वैसी मंडली की स्थापना वे कर चुके हैं, परंतु जल्दी ही उनको यह मानना पड़ा कि उनके द्वारा स्थापित 'विद्यार्थी संघ' और जो मैं सुझा रहा हूँ, उस गुप्त मंडली में आकाश-पाताल का अंतर है। जब कभी मैं म्हसकर से यह कहता कि वैसी ही शपथ वे स्वयं भी लें, तो वे कहते कि केवल शपथ लेने से क्या होगा? या फिर कहते कि वैसी शपथ उन्होंने ले रखी है। उनके उन दोनों कथनों के मध्य कैसा विरोध है, यह मैं उन्हें बताता और कहता कि यदि शपथ ले ही ली, तो वही फिर से मेरे सामने लेने में क्या हानि है? उलटे एक-दूसरे के साक्ष्य से परस्पर विश्वास ही बढ़ेगा। ये सब बातें मैं उन्हें बार-बार कहता, परंतु पागे से मैंने इतनी स्पष्टता से तब तक चर्चा नहीं की थी, तथापि म्हसकर ये सारी बातें पागे तक पहुँचाते ही थे।

उत्सव आदि विधि-अधीन चलाए जा रहे आंदोलन अपूर्ण हैं, इस प्रकार की टीका मैं सतत करता रहता। उस टीका का प्रभाव उन दोनों पर होते रहने से सशस्त्र क्रांति की स्पष्ट कल्पना और उत्कट इच्छा भी उन दोनों के मन में धीरे-धीरे विस्तार पा रही थी। केवल अकेले-दुकेले सुधारों के लिए प्रयास करने से क्या होगा? विष-वृक्ष के मूल पर ही कुल्हाड़ी चलानी होगी, तभी शाखाएँ नीचे गिर सकेंगी। अत: पूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता का ही ध्येय सामने रखकर निर्भयता से उसकी घोषणा करनी होगी, ये मेरे विचार थे। उन सभी आंदोलनों, जो खुले या प्रकट रूप से किए जाते हैं, में भी यही हवा फैलानी होगी। मेरे इस विचार को उनकी स्पष्ट सहमति

धीरे-धीरे प्राप्त होती जा रही थी, परंतु चापेकर-प्रकरण के भयंकर धक्के से दहशत खाए उनके मन सैकड़ों को जलानेवाली उस गुप्त षड्यंत्र की अग्नि में अपने हाथ डालने तब तक बढ़ नहीं रहे थे। इतना ही नहीं, अपितु वैसा व्यर्थ साहस करने की ओर बढ़ने के लिए वे मुझे भी ममतापूर्वक, परंतु दृढ़ता से रोक रहे थे और तब भी ऐसा कुछ करना ही चाहिए, यह चुभन उनके हृदय में अंदर-ही-अंदर निरंतर हो रही थी।

प्रथम खंड के अंत में जो बात मैंने लिखी है, उसीके अनुसार प्लेग अस्पताल से बाबा और बाल के भले-चंगे होकर घर आ जाने के बाद हम श्री रामभाऊ दातार के मकान में किराये पर रहने लगे। वह घर तिलभांडेश्वर गली में था। मैंने उस गली में भी अपने राजनीतिक विचारों का प्रसार बड़े वेग से आरंभ किया। भविष्य में पूरे भारत में विस्तीर्ण क्रांति संस्था का जन्मस्थान होने का महत्त्व इस गली को प्राप्त होना था; और उस क्रांति में इस गली के हर निवासी—स्त्री-पुरुष को अपनी-अपनी बात के सामर्थ्यानुसार प्रत्यक्षत: कुछ-न-कुछ कष्ट सहन करके कुछ समय के लिए तो राज्यसत्ता भी सहम जाए, एक ऐसे क्रांति-केंद्र के निर्माण का सहयोगी होना था। यह बात उस समय यद्यपि किसीको स्वप्न में भी सच लगनेवाली नहीं थी, पर अब वह एक सत्य है। इसी गली के जिन व्यक्तियों को लेकर उनमें छिपे तेज-अंश को प्रज्वलित कर और उनकी परिस्थिति पलटकर, अभिनव भारत क्रांति की वह पहली चिनगारी हम सुलगा सके, उन व्यक्तियों का तथा इस तिलभांडेश्वर गली का परिचय करा देना, उनकी स्मृति जाग्रत रखना और आज उसे जो महत्त्व प्राप्त हो गया है, उसे समझने के लिए आवश्यक है। इतना ही नहीं, अपितु उनके द्वारा की गई छोटी-बड़ी देशसेवा का उपकार उतारने के एक कृतज्ञ कर्तव्य की दृष्टि से भी उस गली का, वहाँ के निवासियों का यथासंभव पूर्ववृत्त हम यहाँ दे रहे हैं। उन सबके मेरे उस समय के संगी-साथी और प्रेम के ऋणानुबंधी होने के कारण भी मेरे आत्म-चरित्र में उनका उल्लेख होना उन सबका अधिकार है।

तिलभांडेश्वर की गली

सन् १८९८ में मैं और मेरे बड़े भाई वर्तक के मकान में रहने के लिए इस गली में आए, यह मैं पहले ही बता चुका हूँ। बाबा और उनके वय के ही श्री रामभाऊ दातार उस समय हाई स्कूल में एक ही कक्षा में पढ़ रहे थे। इस कारण उनके परिचय से ही हम दोनों को पिताजी ने वर्तक के मकान में दूसरी मंजिल पर एक कमरा किराये पर लेकर पढ़ने के लिए रखा था। स्वयं वर्तक दिवंगत हो चुके थे और उनकी पत्नी श्रीमती माई वर्तक ही घर की सारी व्यवस्था देखती थीं। श्रीमती

माई वर्तक, जिन्हें हम सब 'माई' कहते थे, बड़ी साहसी, दयालु और कर्तृत्वशील महिला थीं। मेरे पिताजी ने जब अपने दोनों बालक उनके घर में रखे, तब माई से ही हमें सँभालते रहने को सहज रूप से कह दिया था। माई ने हमें सँभालने की बात भी सहज रूप में ही स्वीकार की होगी। उस सहज वचन को वे कभी भूली नहीं। उनके तीन पुत्र—नाना, त्र्यंबक, श्रीधर—और एक कन्या थी। इसके अतिरिक्त एक विवाहित सौतेली कन्या पुणे में थी। उसके सहित इस पूरे परिवार का हमारे ऊपर बड़ा स्नेह था। हम उनके घर में वर्ष भर भी नहीं रहे। प्लेग के कारण हम भाग-भागकर भगूर चले जाते। पर वहाँ इस अल्प काल के निवास से ही हमारे उन लोगों से अटूट घरेलू संबंध हो गए थे। माई ने स्वयं अपने बच्चों जैसी ही हमारी भी सेवा-सुश्रूषा अस्वस्थता के समय की। हम भोजनालय में खाते थे, इसलिए आते-जाते बड़ी चिंता से हमें वह दूसरी वस्तुएँ खिलातीं। हमारे हित-अहित की चिंता करतीं। मेरे गुणों की भारी प्रशंसा करतीं। उनका बड़ा पुत्र 'नाना' बाबा के, त्र्यंबक मेरे और श्रीधर बाल के वय का था। अतः हम तीनों भाइयों का इस बचपने से ही वर्तक बंधुओं से गहरा प्रेम हो गया था। दातार और वर्तक के घर लगे हुए थे। इन दोनों परिवारों का ऋणानुबंध लंबे समय से था। इसी कारण प्लेग के बाद सन् १८९९ में हम वर्तक के घर से दातार के घर में चले गए। फिर भी वर्तक के यहाँ रात-दिन जाना-आना लगा ही रहता था। घरेलू संबंध और भी प्रगाढ़ होते जा रहे थे।

दातार के दो पुत्र थे—पहला, रामभाऊ एवं दूसरा मेरे वय का वामन (आज के वैद्यभूषण वामन शास्त्री दातार)। उनका एक चचेरा भाई भी था जो किशोरावस्था में ही प्लेग से मर गया। पिताजी की मृत्यु के बाद रामभाऊ दातार ही पूरे परिवार के आधार-स्तंभ थे। वर्तक का घर खाता-पीता और सुखी था, पर रामभाऊ को पहले से चले आ रहे ऋण का बड़ा कष्ट था। उनके घर से लगा एक विष्णु मंदिर था। वह भी उनका ही था। मंदिर की पूजा, अर्चना, उत्सव आदि की सारी व्यवस्था दातार ही करते थे। इस मंदिर में हम कई बार रहते, बैठते, सोते। रामभाऊ कहीं नौकरी, धंधे आदि की चिंता में लगे रहते, पर इससे उनके आनंदी स्वभाव के दूध में कभी खटास नहीं आई। रामभाऊ संकट से डरते नहीं थे। किसी विरागी तत्त्वज्ञ की तरह ही वह मन से उत्साही और निडर व्यक्ति थे। एक बार प्लेग ने सारे परिवार को भयानक रूप से आ घेरा। मैंने कहा, अब तो गाँव छोड़ो। आज हैं, कल न भी हों। अब इस भयंकर रोग के विष की परीक्षा नहीं लेनी चाहिए। रामभाऊ ने कहा, उसमें क्या है, कल मैं मरा तो परिवार का बोझा हलका ही होगा। परिवार में से कोई मरा तो मेरा बोझा हलका हो जाएगा।' और सचमुच वैसा ही अविचल व्यवहार था उनका। परंतु यह निर्मम मनुष्य इतना ममतामय था कि रास्ते के चोर की भी मदद करे। उन्हें गाने

में बड़ी रुचि थी—गाना, बजाना, नाटक अर्थात् आनंद। गाते भी थे। उन्हींकी गति के कारण नाना वर्तक और बाबा भी उसमें रमे-रँगे रहते थे। और उसका प्रभाव उन तीनों तरुणों की हाई स्कूल की पढ़ाई पर भी उसी रूप में पड़ा। इन तीनों ने ही लापरवाही से मैट्रिक तक की यात्रा तो जैसे-तैसे पूरी की किंतु उसमें पारिवारिक बाधाएँ भी उत्पन्न हुईं और वे तीनों ही मैट्रिक उत्तीर्ण नहीं कर सके।

दूसरे थे श्री वामन शास्त्री दातार। उनके पुरातन संस्कार के दादाजी का विचार उन्हें बचपन से ही संस्कृत पढ़ाने का था। इनके घर में दो पीढ़ियों से संस्कृत विद्या की परंपरा चली आ रही थी और कुछ-थोड़ी पुरोहिताई भी थी। संस्कृत पढ़ाना है, इसलिए वामन को मराठी भी ढंग से नहीं पढ़ाई गई। अंग्रेजी का तो प्रश्न ही नहीं था। और जिस संस्कृत के लिए प्राकृत विद्या छूटी, उस संस्कृत में भी तब तक वे कुछ नहीं थे। सारा विद्याभ्यास इस प्रकार चौपट हो गया। पूरे दिन वह घर ही में, इधर-उधर करते रहते थे। उस गली में उसके पास-पड़ोस के सारे लड़के जैसे गप-शप करने में समय गँवाते थे, वही वामन भी करते। उस गाँव की गली की सामान्य उठापटक के सिवाय युवा मंडली का कोई उच्चतर ध्येय या जीवनक्रम तब तक नहीं था। अतः उस तुच्छ परिस्थिति से निकलकर जीवन का विकास करने की उच्च आकांक्षा भी उस गली में किसीके मन में उदित नहीं हुई थी, उसकी कोई संभावना भी नहीं थी।

और वामन तो सर्वमान्य अनाड़ी थे। उसपर भी वे जितने सीधे और निष्कपट थे, उतने ही तामसी और अकेले। इसलिए उनका संगी-साथी भी कोई नहीं था। ऐसे हर बात में पिछड़े और ढीले-ढाले वामन ही उस गली में मेरा पहला और अत्यंत विश्वसनीय मित्र बने। हमारी आयु भी समान थी। मैं उनके घर में ही रहने लगा तो वे मेरे एकनिष्ठ भक्त हो गए। उनके पूर्वपरिचित लोगों और संबंधियों ने प्रारंभ में—मुझसे कुछ थोड़ा मत्सर होने के कारण उन्हें दोष भी दिया। वे कहते—अरे, कल का आया तात्या तुम्हें इतना सगा लगता है? तुम उसके कहे में ही क्यों चलते हो? परंतु मेरे वहाँ रहने तक वामन ने कष्ट सहकर भी मेरे प्रति अपने भाव में कभी कोई अंतर नहीं आने दिया। मेरी संगति और टोका-टाकी से वे शीघ्र ही विद्यार्जन की ओर मुड़े। वे मराठी अक्षर घोटने लगा, शुद्ध लिखने का अभ्यास करने लगे। पुस्तक कैसे पढ़नी है, कविता कैसे लिखनी है, कैसे बोलना है? कैसे चलना है? स्वयं कुछ विद्या अर्जित कर कैसे दाल-रोटी कमाने योग्य बनना है आदि हर बात मैं अपने छोटे भाई की भाँति ही उनसे कहता और उनको सिखाता था। जल्दी ही उनकी मूल बुद्धिमत्ता सुसंस्कृत होती गई और कर्तृत्व का विकास होकर वामन मेरे उस समय के सब आंदोलनों में दिनोदिन मेरा एकनिष्ठ भक्त ही

नहीं, अपितु कर्तव्यनिष्ठ सहयोगी भी बनते गए।

उस समय हमारा और दातार का परिवार दो नहीं थे। हमारी रसोई एक स्थान पर बनती—पैसे आदि भी एक ही स्थान पर रखे जाते और खर्च भी साथ-साथ होता। इसमें दोनों ओर के बड़े-बूढ़ों की सहमति न होते हुए भी बाबा और रामभाऊ के उदार मन के कारण, निष्कपट स्नेह के कारण और मेरी संगति के कारण ही ऐसा चल रहा था। मेरे राजनीतिक ध्येय के नशे में हम सब युवा दिन-ब-दिन अपने संकुचित व्यक्तित्व को भुलाकर एक विस्तृत समष्टि में विलीन होते जा रहे थे। इसी कारण हम एक-दूसरे के लिए जन्म-संबंधों से भी अधिक निकट संबंधी लगने लगे थे।

उस मंडली का मेरा दूसरा स्नेही त्र्यंबकराव वर्तक था। उस समय की अपनी भाषा में हम उसे 'वर्तकांचा त्र्यंबक' कहते रहे। उस गली की सारी युवा पीढ़ी में यही एक युवक शिक्षा की ओर झुकाववाला था तथा उन सबमें वही एक कुछ क्षमतावान था। अध्ययन मन से करता। वाचन में भी उसकी रुचि थी। कुछ बड़े बनने की, कुछ विशेष प्राप्त करने की उसकी सदिच्छा भी थी। मैं जब तक वहाँ था, कक्षा में हम साथ ही बैठते थे। पूर्व में कहे अनुसार उनके घर से हमारे घरेलू संबंध हो गए थे। उसमें भी त्र्यंबक और मुझमें एक-दूसरे के प्रति स्नेह बहुत था। हम इकट्ठा पढ़ते, साथ घूमने जाते, एक साथ व्यायाम करते, एक साथ रहते। कविता करने, व्याख्यान देने और बोलने में मुझसे उसकी उपयोगी स्पर्धा भी चलती। त्र्यंबक को समाचारपत्र पढ़ने का थोड़ा-बहुत चाव पहले से ही था। इसलिए मेरे राजनीतिक आंदोलन में मुझे उसकी सहानुभूति तत्काल मिली। मेरे मैट्रिक होने तक हमारे सभी आंदोलनों में त्र्यंबक भी तन-मन-धन से मेरे साथ जुटा रहता, खटता रहता। उन लोगों के अपने सामान्य जीवन-प्रवाह के संकुचित वातावरण में उसके जो गुण मुरझाए-से रहते, वे देशभक्ति, साहस, आकांक्षा आदि गुण मेरे राजनीतिक तथा वाङ्मयी आंदोलनों और उसके दिव्य ध्येय के चेतनादायी स्पर्श से त्र्यंबक में विकसित हो गए। आगे स्थापित होनेवाली हमारी संस्था को उसके प्राथमिक महत्त्व तक पहुँचाने में सहायक हो सके, वह इतना विकसित हुआ।

गली के उत्पाती लड़कों में पुणे के एक सुशिक्षित सज्जन भी थे, जिनकी आयु तीस के आसपास थी। परंतु वे मंडली के उन उपद्रवों में हौसले से सम्मिलित रहते हुए भी दबे-छिपे रहते। वे और उनके दो भाई अंत तक हमारे साथ ही उठते-बैठते रहे। उस नगरकर की गली को मेरे आने के पूर्व थोड़ी राजनीति की चटक अर्थात् केवल गपों तक उनकी संगति में ही लगी थी । पुणे की 'सन्मित्र समाज' नामक संस्था के मेलों में गाए जानेवाले कुछ ख्यात गीतों को वे गाकर सुनाते थे। मैं

भी उन्हें बड़ी रुचि से सुनता। तिलक और चापेकर की गप वे सुनाते थे। इसलिए मैं उनसे वही गप करता। बाबा से उनका स्नेह था। इसलिए संकट के समय उन्होंने श्रम भी किए। वे सरकारी नौकर थे। इसलिए हमारे साथ छिपकर रहते। मेरी सराहना होती देख कभी-कभी ईर्ष्या भी करते। बाद में तो पुलिस के डर से उन्होंने संस्था से संबंध ही तोड़ लिया।

वर्तक और दातार—इन दो घरों के बीच में श्री धोंडोभट विश्वमित्र का घर था। नासिक के पंडा-वर्ग में धोंडोभट निराले पंडा थे। शरीर से भारी-भरकम, रंग से गोरे, रूपवान, स्वभाव से हठी, मन के प्रेमी, वृत्ति से 'गंगा गए गंगादास जमुना गए जमुनादास'। पंडागिरी के समय काम से काम और जहाँ उस काम से निपटे और पंडागिरी की वरदी उतार धोती पहनी, तो पान, तंबाकू, चाय, चिवड़ा, सोडा, लेमन, ताश और चौपड़ की मौज-मस्ती में डूबे रंगीन आदमी। इन्हीं धोंडोभट विश्वमित्र के खंडहर और अँधेरे कमरे में एक मराठा स्त्री रहती थी—आस-पड़ोस के ब्राह्मणों के घर में चौका-बासन करनेवाली। उसकी एकमात्र संतान, लाड़ला पंगु लड़का था। वही थे 'आबा पांगळे' आबा दरेकर! घुटने से नीचे लूले हो जाने से मेढक की तरह दोनों हाथों के बल छलाँगें लगाता वही इस गली की गुफा का राजा था। वह गली की तरुण मंडली का तो नेता था ही, साथ ही अपने यहाँ आनेवाले आठ-दस अशिक्षित हम्मातो पर भी शासन करता था। शुरू में आबा पांगळे लावणी रचता और नौटंकियों में मस्त रहता। उधर उसकी माँ बेचारी घरों में छोटे-मोटे काम कर अपना तथा अपने विकलांग लड़के का पेट भरती थी।

पहले ये दोनों किसी गाँव में थे, वहाँ से नासिक की इस गली में आए। आबा ने यहाँ आकर एक कदम आगे बढ़ाया। उसकी नौटंकी छूट गई—यहाँ सब ब्राह्मणों की संगति थी। अत: वह नाटकों की ओर मुड़ गया। तब विवाहों के अवसरों पर बरात के साथ कागज के फूलों की मालाएँ और रंग-बिरंगे कागज के 'बाग' ले जाने का चलन था—आबा ने 'बाग' बनाने की वह कला सीखी। बाग के काम से उसे कुछ पैसे मिल जाते थे। शेष सारा समय अपनी गली के बाहर के ऊधमी लड़कों की नेतागिरी करने में बीतता। उस मंडली में नेता की ही बात प्राय: मानी जाती थी। गंगाराम और गनपत नाई, श्रीपत और सखाराम गोरे, काशीनाथ अनंतराव वैशंपायन आदि अनेक आबा के प्रभाव में थे। हमारे दातार के रामभाऊ, वामन बंधु, वर्तक नाना और त्र्यंबक बंधु तो आबा के मुख्य सरदार ही थे। अंग्रेजी पढ़े-लिखे इन लोगों पर भी आबा की छाप यूँ ही नहीं पड़ती थी, आबा की बौद्धिक श्रेष्ठता थी ही वैसी। अक्षर-शत्रु होते हुए भी वे नाटक रचते और उनके साक्षर चेले लिखाई का काम करते। आबा गीत रचते तो गाते हमारे रामभाऊ दातार और जब रामभाऊ दातार गाते,

तब तबला बजाते आबा।

हर नए पराक्रम के कार्यक्रम का आयोजन करते आबा और उसको मूर्त रूप देते उनके सरदार-दरबारी। इस पराक्रम की विविधता इतनी विक्षिप्त होती कि पड़ोस के तिलभांडेश्वर मंदिर में आते-जाते स्त्री-पुरुष यह नहीं जान पाते कि आज कौन सा नया खेल उनके संग खेला जाएगा। खेल होते तो निरुपद्रवी थे, परंतु भोंडे। एक दिन के कार्यक्रम की कथा का उल्लेख करना ही पर्याप्त होगा। यह कथा भी उस पांगळे की राजसभा के सदस्यों ने कई-कई बार कही और हर बार ठहाके लगाए—इसलिए स्मृति में रही। ये सारे लोग छज्जे पर खड़े रहते—नीचे से आते-जाते लोगों के सिर दिखते। कोई व्यक्ति बड़ा सा साफा बाँधे निकलता तो ये अपने-अपने क्रम से उसपर थूकते। यह थूकना बहुत ही कलात्मक होता—ऐसा कि कफ का खकारा साफे पर बतासे जैसा गिरे और उस व्यक्ति को आभास तक न हो। अब वे सज्जन साफे पर वह बतासा धारण किए मंदिर में प्रदक्षिणा लगा रहे हैं और इधर ये मंडली उसपर ठहाके लगा-लगाकर हँस रही है। उस व्यक्ति को यह ज्ञात ही नहीं होता कि मेरा ऐसा क्या बिगड़ा है कि ये मुझे देख-देख हँस रहे हैं। कभी-कभी कोई झगड़ा भी कर बैठता, ऐसे में ये सारे एकजुट होकर उससे भिड़ जाते। एक बार ऐसा अनुभव लेकर लौटा हुआ आदमी फिर उस मंदिर की गली में सहमा-सहमा ही आता और जैसे कोई कुत्ता काटे, उसके पूर्व ही निकल जाने की सोचता।

उक्त छज्जेवाले घर से सुरक्षित कोई आगे निकल भी जाता तो उस तिलभांडेश्वर के मंदिर की दूसरी एक चौकड़ी का सामना उसे करना पड़ता। उस गली की इस दूसरी संस्था का नाम देवी मठ था। वास्तव में वहाँ मठ था ही नहीं—शिव मंदिर से लगा देवी मंदिर ही था, पर उसे मंदिर न कहकर 'मठ' कहते थे। वहाँ जमा रहता पंडों का अड्डा और उनके राजा, जिनका उल्लेख मैंने ऊपर किया है, पंडाधिपति धोंडोभट विश्वमित्र। ऐसे विकट खेल रचने और खेलनेवाले आबा पांगळे का एक राज्य और धोंडोभट का दूसरा राज्य, ये दोनों मिलकर एक संयुक्त राज्य हो जाता था। पंडों के इस राज्य में शरद् पूर्णिमा को दूध, शिवरात्रि के आसपास भाँग, किसी-न-किसी कारण लड्डू और नित्य की चौपड़ का हल्ला-गुल्ला चलता। वह मारा, पौबारा, दस, पच्चीस, चोंटो और पियो की गर्जनाएँ सुनाई देतीं। जब कभी कोई विशेष कार्यक्रम नहीं रहता तो आने-जानेवाले की छेड़खानी से उपजा झगड़ा या आपस की हँसी-मजाक से उत्पन्न विवाद का कोलाहल तो वहाँ होता ही। उन देवताओं को इन महा झगड़ालू बेतालों की अधिष्ठात्री देवी बनना ही भाग्य में है, यह ज्ञात होता तो उस मंदिर के संस्थापकों ने उसे तिलभांडेश्वर की बजाय बेताल-

भांडेश्वर ही कहा होता।

फिर भी इनमें एक बात विशेष थी। जिस एकजुटता और जिद से उस गली के ये लोग ऊधम और चैनबाजी किया करते, उसी एकजुटता और जिद से परोपकार के काम भी करते थे। किसी अनाथ का रक्षण, किसी दुर्जन का दंडन, किसी विपत्तिग्रस्त की सहायता, कहीं आग लग जाए तो उसे बुझाने का प्रयास आदि काम भी ये पूरे मन से करते। उस समय का उनका जीवनक्रम कुल मिलाकर निष्कपट, चिंतारहित, फुटकर और फोकटी, अव्यवस्थित और असंयत, रसिया और रँगीला होता था।

आबा पांगळे

जब मैं वर्तक के बाड़े में सन् १८९८ में पहले-पहल रहने आया था, तब इनसे मेरा सामान्य परिचय हुआ था। परंतु उनकी राजसभा में कभी भी हाजिरी न लगाने के कारण उनकी मंडली ने पहले-पहल मुझे बेकार आदमी समझा। बाद में जब मेरे वाचन, लेखन, भाषण आदि की चर्चा नासिक के बड़े आदमियों में होने लगी, तब वे मुझे थोड़े काम का, परंतु एक 'पुस्तक कीट' अर्थात् उपहासास्पद समझते। उपहास करते-करते मेरे लिए उनमें से कुछ के मन में चोरी-चोरी कुछ आकर्षण होने लगा तो कुछ के मन में मेरे प्रति ईर्ष्या भी जागने लगी, क्योंकि मेरे जीवनक्रम को देखते हुए उन्हें अपना जीवनक्रम बिलकुल बेकार लगने लगा था। आकर्षित होनेवालों में आबा पांगळे भी थे। इसलिए उनके चेलों का मेरे प्रति मत्सर या विरोध फूल-फल न सका। वे सारे मुझसे बड़े थे। आबा तो मुझसे बारह-तेरह वर्ष बड़े थे। मैं कविता करता था, आबा तो उस मंडली के राजकवि ही थे। मुझसे ईर्ष्या रखनेवाले आबा के कुछ चेले आबा को कहते, 'कहते हैं, ये सावरकर का बच्चा कविता करता है, पर आपकी रचनाओं के सामने तो वह किसी तरह टिक नहीं सकता।'

कविता की पहचान होने के कारण इस तरह की टीका का प्रभाव उनपर उलटा ही होने लगा। मेरी कविता, उनकी लावणी, रास आदि कुछ विषयों में अधिक सरस है, मन-ही-मन ऐसा उन्होंने माना और फिर सरस इसलिए है कि मेरे पास शब्दों का भंडार अधिक है—ऐसा तर्क भी उन्होंने दिया। किस पुस्तक से मैं निकालता हूँ ये शब्द, वह पुस्तक अर्थात् कविता की चाबी मैं उन्हें क्यों दूँगा? क्योंकि मेरा उनका व्यवसाय एक और जैसे 'भिक्षुको भिक्षुकं दृष्ट्वा श्वान वत् गुरगुरायते' ऐसा कहा जाता है, वैसे ही 'कविः कवीं दृष्ट्वा' भी हो सकता है और मैं अपनी पुस्तकें आबा के माँगने पर कदाचित् अधिक ही छिपाकर रख सकता हूँ।

ऐसी सारी बातें सोचते एक दिन आबा अपने अड्डे पर विराजमान थे—और उनके मत में पारंगत एक व्यक्ति ने उन्हें समाचार दिया कि मैंने एक पोवाड़े की रचना की है। उस पोवाड़े को देखने एक दिन आबा पांगळे स्वयं मेरे कमरे पर पधारे। बात हुई तो यहाँ 'सारा खेल ही उलटा' है, यह तत्काल उनके ध्यान में आ गया। कविता की चाबी छिपाकर रखने के बदले मैं तो उनसे—यह देखो—यह पढ़ो—यह भी देखो, इसे भी पढ़ो, ऐसा साग्रह कहता चला जा रहा हूँ। शब्द-संपत्ति का प्रश्न उठाते ही मैंने मराठी शब्दकोश आबा के हाथ पर रख दिया। वह अति प्रसन्न हुए। मैंने उन्हें बताया कि पुस्तक माँगकर ले जानेवाले लौटाते नहीं हैं—वैसा आप न करें। कुछ शब्द पढ़कर उनके रूप कैसे बदलते हैं, कविता की दृष्टि से शब्द कैसे बन जाते हैं आदि बातें भी समझाईं। आबा ने तब तक 'कोश' क्या बला है, यह जाना भी नहीं था—वे तो स्वयंसिद्ध कवि थे।

ऐसी हुई आबा पांगळे से मेरी पहली भेंट। उस भेंट में मेरे मन की निश्छलता और प्यार का जो अनुभव उन्हें हुआ, उसे वे बड़े मजे से अपनी मंडली में सुनाने लगे। उस दिन से मैं उनके आदर का पात्र जो बना, वह बढ़ते-बढ़ते स्नेह, प्रेम और एकनिष्ठ अनुदायित्व में कब बदल गया, किसीको ज्ञात नहीं।

आबा के पहले मैंने वामन दातार को व्याकरण पढ़ाया था। अब मैं वही 'शुद्ध लिखना और शुद्ध बोलना'—के पाठ आबा को देने लगा। वामन तो फिर भी संस्कृत जानता था, आबा को तो विद्या का संस्कार ही नहीं था। अर्थात् कविता में समास कैसे रखना है, शब्दों को कैसे गढ़ना है; गणवृत्त, मात्रावृत्त, अलंकार आदि कला-विषयक शिक्षण मैं उनको कामचलाऊ रूप से देता रहा। आबा में गुण-ग्राहकता बहुत थी। जो कुछ मैं कहता, उसे वे बड़े विनय से सुनते। उनकी कविताओं को देखकर तथा अपनी भी दिखाकर मैं उन्हें संशोधन सुझाता। मराठी के मान्य प्राचीन मोरो पंत, वामन आदि कवियों के काव्य भी उन्हें सुनाए, उनके गुण-दोषों की चर्चा की। इस वैयक्तिक संसर्ग से उनमें विराट् परिवर्तन होते गए। स्वतंत्रता के ध्येय ने उनके मन को उल्लसित किया। उनके सुप्त गुण प्रकट होने लगे और व्यक्तित्व का विकास होते-होते वे महाराष्ट्र के उज्ज्वल देशभक्त और पहली पंक्ति के स्वातंत्र्य-कवि 'गोविंद' हो गए।

उस समय का नासिक नगर केवल पंडों और तीर्थयात्रियों का एक जमघट अर्थात् एक पिछड़ा, द्वितीय श्रेणी का जीवन-शून्य नगर था। उसमें नगरकर का मोहल्ला तो गंदा, सँकरा, छोटा भी था और उसकी एक गली तिलभांडेश्वर तो विचित्र ही थी। उस गली में नौ-दस घर थे और केवल एक आदमी ही सिकुड़कर उस गली से जा सकता था, इतनी सँकरी थी वह। ऐसे वातावरण में हम लोग

ऊपर वर्णित तरीके से रहते थे और ऐसे ही वातावरण के संगी-साथी लेकर मैंने क्रांतिकारी आंदोलन प्रारंभ किया था।

गुप्त मंडल की स्थापना

प्लेग अस्पताल से मेरे दोनों भाइयों के सकुशल लौट आने के बाद श्री म्हसकर और श्री पागे, जिनका उल्लेख ऊपर आया है, से मैं राजनीति के बारे में चर्चा करने लगा। वे दूसरे मोहल्ले में गोरे राम मंदिर के पास रहते थे, परंतु हमारे उनके संबंध बन जाने के कारण वे हमारी गली में आने लगे और फिर नगरकर की गली के ऊपर वर्णित लोगों से भी उनके घनिष्ठ संबंध होते गए। आपस में राजनीतिक चर्चा होते-होते अंत में हम इस परिणाम पर आए कि पहले हम तीन ही देश की स्वतंत्रता के लिए मेरी सुझाई शपथ-ग्रहण करें और सशस्त्र क्रांति के कार्य के लिए एक गुप्त संस्था स्थापित करें। परंतु मेरे आग्रह के कारण जैसे उन दोनों ने शपथ लेने और गुप्त संस्था की स्थापना करने की बात स्वीकारी, वैसे ही मैं भी उनका आग्रह स्वीकार करने के लिए राजी हुआ। वह आग्रह था कि 'काल' पत्र के स्वामी श्री परांजपे से परामर्श किए बिना किसी अन्य को संस्था में न लिया जाए और न ही बिना उनकी अनुमति के कोई क्रांतिकारी कदम ही बढ़ाया जाए। वास्तव में हममें से किसीने श्री परांजपे को देखा तक नहीं था। म्हसकर 'काल' पत्र के लिए लिखते थे और उनसे पत्राचार भी करते थे, परंतु मेरे परिचय के पूर्व किसी क्रांतिकारी संस्था की स्थापना करने की कल्पना भी चूँकि उनके मन में नहीं आई थी, इसलिए श्री परांजपे से परामर्श किए बिना कोई ऐसा कार्य करने की मन:स्थिति में वे नहीं थे। हम लोगों ने इस तरह श्री परांजपे को अपना नेता माना और क्रांतिकारी संस्था को उनका आशीर्वाद मिलने की बात भी सोच ली। यह बात अवश्य थी कि गुप्त संस्थाओं की प्रशंसा वह पत्र करता था और जानकारी भी प्रकाशित करता था। चापेकर-रानडे को उसी पत्र ने हुतात्मा (शहीद) घोषित किया था। लोकमान्य तिलक के प्रति हम तीनों ही नतमस्तक थे, एक तरह से उनके अनुयायी ही थे, पर सशस्त्र क्रांतिकार्य के लिए स्थापित किसी गुप्त संस्था का प्रत्यक्ष अभिनंदन यदि कोई कर सकता है तो 'काल' के स्वामी श्री परांजपे ही—'केसरी' के स्वामी नहीं—यह बात बिना किसीके बताए हमें ज्ञात थी और वह सच थी।

लोकमान्य तिलक उन्हीं दिनों कारावास से मुक्त होकर आए थे। अत: किसी तरह का कार्यभार लेने का निवेदन उनसे करना अनुपयुक्त था। इसपर भी हमने चर्चा की थी और सबसे मुख्य बात यह थी कि हमें अपनी योग्यता की जानकारी थी। तीन सामान्य आदमी—उनमें से दो सरकारी कर्मचारी और तीसरा

सोलह-सत्रह वर्ष का विद्यार्थी, प्रत्यक्षतः एक गुप्त संस्था की स्थापना कर अंग्रेजों से सशस्त्र युद्ध करने की, हिंदुस्थान को स्वतंत्रता दिलाने की बातें करें, यह हमें अपने को ही विचित्र लग रहा था। यद्यपि मुझे व्यक्तिगत रूप से यह कार्य विश्वसनीय, सुसंगत, न्यायोचित या कहें कि किसी भी विचारशील और जीवंत व्यक्ति का वह एक अपरिहार्य कर्तव्य है—ऐसा लगता था, लेकिन प्रश्न था कि लोकमान्य तिलक को वह कैसा लगेगा? उन्हें इसमें कितना पागलपन दिखेगा? वे किस तरह उसे हास्यास्पद समझेंगे, यह मैं और मेरे साथी जानते थे, पर मेरे सामने इतिहास घूम जाता। क्या वह चाणक्य भी सिरफिरा नहीं था? और वह मैजिनी! उनके कार्यारंभ का पहला दिन? अतः दादा तिलक के उपहास को टालने का एक रास्ता यह भी था कि पहले उन्हें कुछ नहीं बताना है। पहले कुछ कर दिखाना है और तब उनसे कहना है, यही हमने निश्चित किया था। पर श्री परांजपे तो यह कहनेवाले थे कि सिरफिरों के हाथों ही क्रांतिकाल में सयानेपन के काम होते हैं। और वैसी चेतना तथा आग तरुणों के हृदय में लगाने अपने 'काल' पत्र के इस्पाती सूप में अंगार लिये उत्क्षोभ की गंजी पर बैठकर फटकनेवाले तो वे स्वयं ही थे। वे हमारा साथ देंगे ही। दूर रहकर ही सही, शाबाशी तो देंगे ही। यह बात हमने पक्की तरह से मान ली थी। हम यह भी सोच रहे थे कि म्हसकर श्री परांजपे से मिलने चले जाएँ, पर अब स्मरण नहीं कि म्हसकर गए थे या नहीं। परांजपे की अनुमति और परामर्श के अनुसार ही यह गुप्त संस्था काम करेगी, इस शर्त पर ही म्हसकर और पागे संस्था में आने के लिए तैयार हुए थे। परंतु यदि अन्य अनेक परोपदेश पंडितों की तरह परांजपे भी केवल लेखन की सीमा तक के क्रांतिकारी हुए और उन्होंने प्रत्यक्ष क्रांतिकारी बनने या वैसों से दूर के गुप्त संबंध रखने से भी इन्कार किया तो? यह मेरा तर्क होता था। फिर भी मैं अकेला ऐसी गुप्त संस्था की स्थापना कर सशस्त्र क्रांति के मार्ग पर बढ़ूँगा ही। अपने देश को स्वतंत्र करने की प्रतिज्ञा—जो मैंने चापेकर-रानडे की राख का स्मरण करते हुए देवी माँ के सामने ली थी, वह प्रतिज्ञा, वह व्रत, मैं आजन्म, आमरण निभाऊँगा।

मैंने वह प्रतिज्ञा 'काल' पत्र या उसके संचालक शिवराम पंत परांजपे से परिचय होने के पूर्व ही ली थी, पर उस प्रतिज्ञा की आग को सतत और अधिक चेताए रखने का कार्य परांजपे के 'काल' ने किया था। उतना ही कार्य वे अब भी करें—तो उनका आभार मानूँगा—और अधिक किया तो उत्तम, और न किया तो भी उन्हें छोड़कर मैं अपने व्रत का पालन दृढ़ता से करूँगा।

जिस दिन हम तीनों ने शपथ ली, उस दिन मेरा उपर्युक्त भाषण हुआ। वह सुनकर म्हसकर मुझे अधिक ही चाहने लगे। वे मेरी बहुत प्रशंसा करते थे, पर

डरते थे कि कहीं असमय ही मैं कुछ साहसी कृत्य न कर बैठूँ, जिससे वे सारे संकट में पड़ जाएँ। इसीलिए उन्होंने 'काल' पत्र की अनुमति लेने की शर्त बड़ी युक्ति से लगा रखी थी। उसी बैठक में यह भी तय हुआ कि हम तीनों के सिवाय यह बात 'काल' पत्र की अनुमति प्राप्त होने के पूर्व किसी चौथे को नहीं बताई जाएगी; बाबा (मेरे ज्येष्ठ भ्राता) को भी नहीं, क्योंकि प्रथम तो यह कि वे इन बातों में उस समय तक केवल मेरी संगति के कारण ही ध्यान देते थे—उनकी स्वयं की रुचि उसमें नहीं थी। दूसरी बात जो म्हसकर कहते थे—बाबा तो नाच-गाना, चाय-चिवड़ा में रमे रहनेवाले व्यक्ति हैं। अत: अंदेशा यह है कि उनके मुँह से वह बात रँगीले लोगों में फूट जाएगी। तीसरी बात हमने यह तय की थी कि इस गुप्त संस्था के मत-प्रचार का कार्य चतुराई से करने के लिए, जो एक खुली संस्था दिखने में अक्रांतिकारी जैसी हो, की स्थापना करें और उसके माध्यम से युवा वर्ग को इकट्ठा करें तथा नासिक में चल रहे खुले सार्वजनिक आंदोलनों को अपने तरीके से मोड़ने के लिए अपने काबू में करें। श्री पागे लड़कों को एकत्र कर कुछ-न-कुछ सार्वजनिक काम पहले से ही करते रहे थे। उसीको अब व्यापक रूप से एक सोची-समझी नीति के अनुसार गति देना और उनमें से विश्वासपात्र लड़कों को उपर्युक्त गुप्त संस्था में लेना निश्चित हुआ।

हमारी उस गुप्त संस्था की स्थापना सन् १८९९ के नवंबर मास के किसी अंतिम दिन हुई। उसका पहला नाम 'राष्ट्रभक्त समूह' रखा गया। मैं इससे भी अधिक स्पष्टता से, ताकि हमारा क्रांतिकारी हेतु प्रकट हो, ऐसा नाम रखने के पक्ष में था, पर श्री म्हसकर के कहने पर यही नाम स्वीकार किया। राष्ट्रभक्त समूह—इस नाम का पहला और अंतिम अक्षर लेकर हमने एक और नाम 'रामहरि' रचा। यह नाम ऊपर से धार्मिक मुखड़ा लिये था, फिर भी व्यवहार में सहज नहीं था। इस नाम का उपयोग बातचीत में तथा पत्राचार में सहज किया जा सकता था। बाद के अनेक वर्षों में अपने पत्राचार में इसी नाम का उपयोग हम करते रहे। प्रयोग होता—जैसे 'आज रामहरि मिला।' 'रामहरि ने ऐसा कहा।' 'अमुक दिन रामहरि आनेवाला है।' 'रामहरि अमुक स्थान पर मिलेगा', अर्थात् गुप्त संस्था की बैठक हुई—यह निश्चय हुआ—अमुक स्थान पर गुप्त संस्था की बैठक है आदि।

'मित्र मेला' की स्थापना

इसके बाद उस गुप्त संस्था की खुली शाखा का प्रारंभ कब और कैसे हो, इसका विचार हम करने लगे। उसी अवधि के दिसंबर मास में कारावास से अचानक 'नातू बंधुओं' के मुक्त होने का समाचार नासिक में आया। उस समय मैं, म्हसकर,

पागे और कदाचित् मेरे बड़े भाई बाबा तथा उनके साथी भी किसी नाट्यगृह में नाटक देख रहे थे। वहाँ समाचार सुनते ही नाटक तत्काल बंद कर वहीं, उसी स्थान पर नातू बंधुओं का अभिनंदन करने हेतु एक सभा आयोजित की जाए, यह जोश भरा विचार हमारे मन में आया। परंतु नासिक के उस समय के जो सार्वजनिक नेता नाट्यगृह में थे, उन्होंने हमारे उत्साह पर पानी फेर दिया। हमारी न चल सकी। परंतु उनका वह विरोध बहाना हो गया—हम सब बाहर आ गए। और उस मंडली की सार्वजनिक उत्तेजना का पूरा लाभ लेने के लिए तथा इसपर विचार करते हुए कि नासिक में डरपोक नेतृत्व के कारण ऐसे कार्य नहीं हो पाते—उनको करते रहने के लिए तुरंत एक संस्था की स्थापना करने का निश्चय हुआ। तिलभांडेश्वर की मेरी गली के युवाओं में मेरे साथ होनेवाली राजनीतिक चर्चाओं के कारण काफी-कुछ राजनीतिक समझदारी आ गई थी। उनमें से कुछ मेरे विचार के हो गए थे। उनका सहयोग मुझे तत्काल मिला, और दो-चार दिन में ही कुछ आधे-पौने नियम बनाकर—मेरी स्मृति में १ जनवरी, १९०० को हमने पूर्वनियोजित खुली संस्था स्थापित की और उसका एक निरापद, परंतु व्यापक, सरकारी नौकरों के लिए अप्रतिबंधित, पर क्रांतिकारियों की तेजस्विता से सुसंगत और दोनों ओर से चाहे जितना खींचा जा सकनेवाला नाम 'मित्र मेला' रखा। यही वह मित्र मेला है, जिसका नाम नासिक बम कांड में पूरे देश में गूँजा।

यह 'मित्र मेला' म्हसकर, पागे और मेरे द्वारा स्थापित 'राष्ट्रभक्त समूह' नामक गुप्त संस्था की एक खुली शाखा थी। उस गुप्त संस्था में तिलभांडेश्वर गली के कई लोग, जैसे—दातार बंधु, भिड़े, दाते, वर्तक बंधु, आबा पांगळे आदि धीरे-धीरे समाविष्ट हो गए। आबा के खास लोग, जैसे गणपति नाई भी आ गए। मेरे बड़े भैया तो पहले से ही इसके सदस्य थे। संस्था की बैठकें हर शनिवार एवं रविवार को होती थीं। किसी एक को वक्ता बनाया जाता, अपने सोचे विषय पर उसका मुख्य भाषण होता, उसके मुख्य भाषण पर सब लोग अपनी-अपनी बात रखते। इस तरह चर्चा होती। 'मित्र मेला' में आयोजित भाषण शुरू-शुरू में सामान्य ही होते थे, परंतु मैं उनका संबंध राजनीति से जोड़ देता था और जब मैं राजनीति के विषय पर बात करता, तब क्रांतिकारी विचारों का प्रवाह मेरे भाषणों के प्रारंभ से ही दुर्दांत वेग से चल पड़ता। मैं कहता—यह कानून गलत है, इसे बदला जाए; यह कर भी भारी है, इसे हटाओ, ऐसा अलग-अलग रोना, गाना कब तक हम करते रहें? कब तक वृक्ष के जहरीले पत्ते तोड़ते रहेंगे? क्यों न उसकी जड़ पर चोट करें? और जब जड़ पर चोट ही करनी है तो कुल्हाड़ी आज से ही चलाना क्यों न चालू करें? जो यह कार्य प्रारंभ करेगा, उसे अपने प्राण का मूल्य तो देना ही पड़ेगा, चाहे वह प्रारंभ सौ वर्ष

बाद क्यों न करे। अत: क्यों न वह प्रारंभ हम आज ही करें और प्राण देकर मूल्य भी चुकाएँ। यह कहना कि इस वृक्ष की केवल पत्तियाँ ही विषैली हैं, उन्हें तोड़ना चाहिए, जड़ से हमारा कोई झगड़ा नहीं है—राष्ट्रीय कांग्रेस की गलती है—और यदि हम उस वृक्ष को किसी तरह भी कष्ट न पहुँचाते हुए उससे प्रार्थनाएँ करते रहने का पनियल दूध ही पिलाते रहे तो वह बढ़ते-बढ़ते अमृत वृक्ष हो जाएगा, यह मानना उनकी दूसरी गलती है। ये दोनों गलतियाँ समान रूप से बुद्धिभ्रष्टता के उदाहरण हैं। अत: उन्हें सुधारना चाहिए। यदि ये कार्य वे नहीं कर सकते, तो हम उसे करें, क्योंकि परवशता का विषैला वृक्ष सुधारने का एक ही उपाय है और वह है उस वृक्ष का पूर्ण उन्मूलन! हमारी सारी लड़ाई इस वृक्ष के मूल से ही है और यह बात स्पष्टता से तथा धधकती भाषा में, बंदीगृह की छत से या फाँसी के फंदे से, गरजते हुए कहे बिना लोगों की दीन-हीन स्थिति का अंत न होगा। वे कभी भी उठनेवाले नहीं हैं। उनके सामने एक अति उच्च, अति भव्य और अति दिव्य ध्येय उनकी उपेक्षा-वृत्ति का अंत हुए बिना रहना चाहिए!

त्याग और पराक्रम की जीवंत ज्वालाओं से जलता हुआ यह ध्येय लोगों की दृष्टि के सामने नहीं रहेगा तो उनके मन उस ओर कभी आकर्षित नहीं होंगे। व्यक्तिगत, गृहस्थी के चक्र से वे उस तरह के बेहोश दिव्य उछाल के सिवाय बाहर नहीं आएँगे। महान् ध्येय में पागल हुए बिना वे उछलकर उठेंगे नहीं। आज यदि यह कार्य करना प्रारंभ किया, तो समझो कि सौ वर्ष में वह कार्य संपन्न हो जाएगा, पर यदि प्रारंभ कल पर टाला, तो जितनी देर होगी, उतनी ही कार्य-संपन्नता भी होती जाएगी। अत: जोड़-तोड़ रहित संपूर्ण राजनैतिक स्वतंत्रता ही हमारा ध्येय होगा।

इस राजनीतिक गुलामी का धब्बा कहीं पर भी हमारे सिक्कों पर नहीं रहे—ऐसी स्वदेश-स्वतंत्रता हमारा ध्येय हो। यही 'स्वदेश-स्वतंत्रता की प्राप्ति' हमारा धर्म हो। यही 'स्वदेश-स्वतंत्रता' हमारी देवी हो—यहाँ तक कि हमारी मोक्ष-प्राप्ति भी स्वदेश की स्वतंत्रता ही हो।

और यदि संपूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता ही हमारा ध्येय हो तो उसकी साधना सशस्त्र क्रांति के अतिरिक्त दूसरी क्या हो सकती है? गोखले जैसे उदारवादी व्यक्ति के विचारों पर चलकर निवेदन, याचना आदि के द्वारा कुछ नौकरियाँ मिल सकती हैं, स्वामित्व नहीं। लोकमान्य तिलक की प्रखर राष्ट्रीयता के निषेध, स्वदेशी, असंतोष, बंदीवास से कुछ अधिकार मिल सकते हैं—वह अधिकार देने के अधिकार से भी मूल सत्ता नहीं मिलेगी। परंतु इन दोनों ही विचारों की सीढ़ियाँ बनाकर उनपर चढ़कर 'निवेदन' की व्यर्थता से उत्पन्न 'असंतोष' की म्यान से खड्ग, सशस्त्र

क्रांति की तलवार खींचकर निकालने के सिवाय वह स्वतंत्रता, वह सिंहासन, वह राजमुकुट मिलनेवाला नहीं है। इसलिए गोखले और तिलक जो कर रहे हैं, उन्हें करने देते हुए, बल्कि इस कार्य के लिए उनके प्रति आभार व्यक्त करते हुए, जो वे नहीं कर पा रहे हैं, वह हमें स्वयं करना चाहिए और उसकी घोषणा करनी चाहिए, अर्थात् 'स्वतंत्रता हमारा साध्य है और सशस्त्र क्रांति उसका साधन है'—ऐसी घोषणा हमें करनी चाहिए।

साध्य और साधन

'मित्र मेला' की बैठकों में मैं धुआँधार भाषण देने लगा। उन बैठकों में चर्चा का विषय स्वभाषा, साहित्य, व्यापार, इतिहास, व्यायाम, गोरक्षा, वेदांत आदि कुछ भी हो, मैं उसके निष्कर्ष को यहीं तक पहुँचाता था। राजनीतिक स्वतंत्रता के बिना जीवन के किसी भी घटक का अस्तित्व संभव ही नहीं—फिर परितोष कैसा? संस्था की बैठकें पहले अलग-अलग स्थानों पर होती थीं। कभी पागे तो कभी म्हसकर या कोई दूसरा-तीसरा अपने घर में बैठक आयोजित करता, परंतु जल्द ही आबा दरेकर के कमरे में ही संस्था का स्थायी स्थान बन गया, क्योंकि वह स्थान गुप्त संस्था की शास्त्रीय परंपरा के अनुकूल था। मूल में नगरकर की गली ही सँकरी, उसमें तिलभांडेश्वर की पट्टी तो और अधिक सँकरी, उसमें विश्वमित्र का मकान अर्थात् खोजने पर भी न मिलनेवाली एक सुरंग और उसके अँधियारे भाग के एक टेढ़े कोने के छोटे से दरवाजे से काफी अंदर सीढ़ियाँ चढ़कर आनेवाला यह कमरा तो जैसे चूहे का बिल था। मानो नियति ने उसका निर्माण पहले से ही किसी गुप्त मंत्रणा के लिए शास्त्रीय पद्धति से किया हो। उस उदास स्थान में हमारा मन रम गया।

गुप्त कार्यवाही के लिए हमने उसका आवश्यक शृंगार किया। रवि वर्मा द्वारा बनाया हुआ शिव छत्रपति का चित्र मुख्य स्थान पर लगाया। 'टाइम्स' में छपा नाना साहब विप्लवकारी का चित्र हमारे भगूरवाले घर में मेरे पिताजी ने बड़े यत्न से रखा था। मैं जब चौदह-पंद्रह की आयु का था, तब उसी छायाचित्र को देख-देख मेरे मन में सन् १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम के संबंध में उत्कट जिज्ञासा उत्पन्न हुई थी। उस चित्र को चौखटे में जड़कर तथा साथ ही झाँसी की रानी और तात्या टोपे, जो हम भावी विप्लवी लोगों के आदर्श देवता थे, के चित्र भी हमने दीवार पर लगा दिए। उसीके साथ नासिक में एक दरजी की दुकान से माँगकर लाया गया वासुदेव बलवंत का हाथ से बनाया हुआ बड़ा दुर्लभ चित्र लगाया। उसीके साथ चापेकर और रानडे के चित्र टाँगे गए। इस तरह महाराष्ट्रीय क्रांतिकारियों की पूर्व परंपरा हमारी आँखों के सामने सचित्र उपस्थित हो गई। लोकमान्य तिलक का भी चित्र वहाँ था।

'काल' के संस्थापक का चित्र तब तक बाजार में नहीं आया था। इसलिए वह विशेष रूप से मँगाकर लगाया गया। कभी किसीकी सूचना पर पुलिस-वुलिस वहाँ उस कमरे में आ गई तो सारे-के-सारे क्रांतिकारियों के चित्र वहाँ लगे देखकर इसका साक्ष्य उसे मिल जाएगा कि यह संस्था राजद्रोही है, इसलिए यहाँ अंग्रेज 'रानी' या 'राजा' का भी एक चित्र लगाएँ, म्हसकर ने ऐसा सुझाव दिया। मेरे युवा साथियों ने तिरस्कार के साथ उस सुझाव को अनसुना कर दिया। राजद्रोह का दंड भुगतने के लिए तैयार हैं, परंतु अपने देश के प्रत्यक्ष शत्रु के चित्रों का वंदन हम नहीं करेंगे—किसी ढोंग मात्र के लिए भी नहीं—ऐसा स्पष्ट उत्तर हमने दिया। इतना ही नहीं, स्कूली पुस्तकों में भी इंग्लैंड के राजा या रानी का चित्र हिंदुस्थान के सम्राट् या सम्राज्ञी के रूप में हम नहीं रखते थे।

मैं कहता था—वे राजा-रानी अंग्रेजों के हैं। हम उन्हें हिंदुस्थान का सम्राट् या सम्राज्ञी नहीं मानेंगे। हाँ, कुछ देवी-देवताओं के चित्र हमने वहाँ लगाए ताकि राजनीतिक गंध वहाँ न रहे। इसी स्थान पर हमारी सारी योजनाओं पर चर्चा होती थी। यही स्थान 'मित्र मेला' का, और आगे इसीसे रूपांतरित सुविख्यात संस्था 'अभिनव भारत' का केंद्रीय स्थान हो गया।

कदाचित् हिंदुस्थान के पहले क्रांतिकारी गुप्त संगठन—'अभिनव भारत' का विस्तार यूरोप तक हुआ और स्वदेश की स्वतंत्रता के लिए लड़नेवाले महाराष्ट्र के अति प्रमुख लोग इससे जुड़े थे। इसलिए इस स्थान का पूरे भारत के लिए वंदनीय और दर्शनीय हो जाना स्वाभाविक ही था।

यह कमरा तीन तरफ से घरों की दीवारों में पच्चड़ की तरह था, जिससे वहाँ पर होनेवाली भाषणबाजी सड़क पर सुनाई नहीं देती थी। हमारी संस्था 'मित्र मेला' पुलिस की दृष्टि में सहज ही न पड़ जाए, इसलिए हम कुछ बातें बड़ी सावधानी से करते थे। सड़क पर भाषण सुनाई नहीं देते थे, फिर भी बैठकों के समय एक-दो सदस्य सड़क पर टहलते रहते थे जिससे यह जाना जा सके कि कुछ सुनाई तो नहीं देता या कोई वहाँ सुनने के लिए तो नहीं बैठा। ऐसी आशंका होने पर हम आवाज कम करते या विषय बदल देते। कुछ सदस्य अपने भाषण निबंध जैसा लिखकर लाते थे। उनमें व्यापार, व्यायाम, स्वदेशी, शिक्षा, वेदांत, कविता आदि विषय होते थे। इस कारण पहले-पहले जिनकी प्रस्तुति होती, उन्हें सुरक्षित रखा जाता, लेकिन मेरे जैसे स्वातंत्र्यात्मक, क्रांतिकारी कड़क भाषणों के लेख नहीं रखते थे। कारण यह था कि कभी जाँच हुई तो वे सुरक्षित रखे निबंध दिखाकर यह सिद्ध किया जा सके कि हमारी संस्था राजनीति से दूर एक निरापद साधारण सभा है। पहले एक-दो वर्ष तक सदस्यों की नाम-सूची भी थी। उसपर

शीर्षक था 'मित्र मेला के सदस्यों की सूची'। 'मित्र मेला' संस्था का उद्‌देश्य— 'स्वदेश की सर्वांगीण उन्नति करना' भी अस्पष्ट लिखा हुआ था। नया सदस्य, पुराने सदस्यों के बहुमत से पसंद किया जाने पर लिया जाता। पहले वार्षिक आय-व्यय और वृत्त वार्षिक सभा में पढ़ा जाता था, परंतु जब 'मित्र मेला' का अंत: स्वरूप सरकारी अधिकारियों को संदिग्ध लगने लगा और सरकारी जाँच जोरों से चालू हो गई, तो उन सब अभिलेखों को नष्ट कर दिया गया और यह निश्चय किया गया कि भविष्य में कुछ भी लिखित नहीं रखना है। सदस्यों के नामों की सूची अवश्य किसी एक सदस्य के पास रहती थी। किंतु उसपर शीर्षक नहीं होता था। इस कारण पुलिस यह जान नहीं सकती थी कि वह क्या है या समाचारपत्र के ग्राहक या इस-उस पुस्तक की प्रतियाँ जिन्हें भेजी गईं, उनके नाम, ऐसे निरापद शीर्षक देकर नीचे नाम, शाखा आदि की जानकारी दी जाती।

जनवरी १९०० के प्रारंभ में ही 'मित्र मेला' की स्थापना हो जाने पर और उसकी साप्ताहिक बैठकें नियमित प्रारंभ होने पर जल्द ही 'शिवाजी उत्सव' का अवसर आया। उस बहाने नासिक के सार्वजनिक आंदोलन में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेने का निर्णय लिया गया। नासिक में शिवाजी उत्सव कभी-कभी होता था। परंतु पुराने नेताओं की ओर से आयोजित होने के कारण उसमें 'तेज' बिलकुल ही नहीं होता था। पर इस वर्ष 'मित्र मेला' की ओर से उसका आयोजन किए जाने के कारण उसका स्वरूप पूर्णरूपेण बदल गया। हम सारे लड़के ही थे। यह बड़ी बाधा ही थी कि पालकी के साथ कोई बुजुर्ग न होने से नगर के लोगों पर हमारा क्या प्रभाव होगा, ऐसी चिंता हमें सताने लगी। हमारे एक साथी थे नाना वर्तक। बड़ा भरा-पूरा शरीर था उनका। उनकी अच्छी-सी मूँछें भी थीं। पेट भी बड़ा था और बोलचाल भी वयस्क आदमियों जैसी थी। इसलिए हम उन्हें ही पगड़ी पहनाकर, बड़ा कुरता, रेशमी दुपट्टा आदि से सज्जित कर बुजुर्ग व्यक्ति की भूमिका में पालकी के साथ चलाते थे। वह भूमिका उन्होंने कोई पाँच-छह वर्ष तक बड़ी निष्ठा से निभाई। उस भूमिका से वे इतने एकनिष्ठ हो गए कि 'मित्र मेला' के अन्य कार्यक्रमों में विशेष भाग न लेते हुए भी पालकी ले जाने के कार्यक्रम में पगड़ी पहनकर चलने की जिद वे करने लगते थे। किसी और को वह भूमिका नहीं करने देते थे और स्वयं सजकर सबसे पहले खड़े हो जाते थे। सम्मान का यह कार्य करते समय वे भूल जाते थे कि मेला के सदस्यों को और भी कुछ काम करने पड़ते हैं। नासिक के लिए वह उत्सव अपूर्व ही था। और अंत में जब मैंने उस उत्सव के आयोजन के संबंध में अपनी कल्पना स्पष्ट की, तब उस उत्सव का स्वरूप बदल गया। मैंने अपने सार्वजनिक व्याख्यान में कहा—

'आज तक हम महाराष्ट्रीय लोग ऐसा कहते थे कि शिवाजी उत्सव ऐतिहासिक है, उसमें हमारा कोई राजनीतिक उद्देश्य नहीं है, पर हमने आज यह जो उत्सव आयोजित किया है, वह राजनीतिक है, इसीलिए आयोजित किया है। 'शिवाजी उत्सव' आयोजित करने का अधिकार उन्हींको है, जो अपनी इस परतंत्र मातृभूमि को स्वतंत्र करने के लिए शिवाजी की तरह संघर्ष करने के लिए तैयार हैं। शिवाजी उत्सव आयोजित करने का मुख्य उद्देश्य अंग्रेजी दासता की बेड़ियाँ तोड़कर स्वदेश को स्वतंत्र करने की स्फूर्ति उत्पन्न करना है। यदि परवशता में ही समाधान मानना है, यदि मोटे वेतन की नौकरियाँ पाना ही उद्देश्य है, परदास्य के पट्टेवाला ही होना है या यह 'कर' कम करना है, वह विधि हलकी करनी है, यही ध्येय है तो इसके लिए शिवाजी उत्सव सुसंगत नहीं है—इस ध्येय के लिए तो अंतिम बाजीराव पेशवा का उत्सव अधिक सुसंगत होगा। अंग्रेजी राज्य के विरोध में हमें कुछ कहना नहीं है, हमें तो केवल पेंशन चाहिए, पेट-भर खाने को चाहिए, सुविधाएँ चाहिए—इतनी ही जिनकी महत्त्वाकांक्षा है और परतंत्रता से राजनिष्ठ रहना है तो इसके लिए ब्रह्मावर्त का अंतिम बाजीराव पेशवा ही लाभकारी होगा—राजगढ़ का शिवाजी नहीं। वह स्वतंत्रता का देवता है। हम आज उसका आवाहन उसी उद्देश्य से कर रहे हैं जिससे वह शक्ति हममें संचरित हो और स्वदेश-स्वतंत्रता के कर्मक्षेत्र में जूझने तथा जीतने की शक्ति हममें प्रविष्ट हो। परिस्थिति के अनुरूप साधन बदल सकते हैं, पर साध्य वही रहेगा। बाण बदल सकते हैं, पर लक्ष्य वही होगा।' उत्तेजना से भरा ऐसा सरस व्याख्यान होते ही उस सार्वजनिक सभा में अंदर-ही-अंदर अभूतपूर्व खलबली मच गई। पूरे नगर में सात-आठ दिन वही चर्चा होती रही।

शिवाजी उत्सव से 'मित्र मेला' की जो छाप नासिकवासियों पर पड़ी, वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। 'शिवाजी उत्सव' के बाद तुरंत ही 'गणेश उत्सव' आया। 'मित्र मेला' की ओर से इस आयोजन के लिए गणपति की स्थापना हुई। उन दिनों म्हसकर और पागे का पूर्वपरिचय नासिक के सभी नेताओं से था ही। उनमें से कुछ को उन्होंने व्याख्यानों के लिए बुलाया। मेरे भी व्याख्यान हुए। हम लोगों के व्याख्यानों में जो नवतेज प्रकट होता, उसके प्रभाव में ऐसे व्याख्यानों के लिए श्रोताओं की बड़ी भीड़ उमड़ पड़ती। इसी उत्सव से आबा दरेकर ने गीत लिखना शुरू किया और पहले दो-तीन गीत पहली बार ही नासिक में गाए गए। इन गीतों, मेरे व्याख्यानों तथा अपनी शोभायात्रा के माध्यम से स्वतंत्रता के, स्वदेश के 'स्फूर्तिदायी' संदेश देने के सिवाय और कुछ हमें कहना ही नहीं था। इसी समय मेरे द्वारा रचित नारे—'स्वातंत्र्य लक्ष्मी की जय' की जय-जयकार से नासिक गूँज उठा।

'मित्र मेला' की स्थापना के पूर्व नासिक के एक बड़े नेता श्री गंगाधर पंत

(वापूराव) केतकर दिवंगत हुए थे। नासिक ही नहीं, महाराष्ट्र में भी वह काफी-कुछ नामवर व्यक्तित्व था। न्यायमूर्ति महादेव गोविंद रानडे की पीढ़ी के अधिकतर आंदोलन उन्होंने नासिक में चलाए थे। वे समाज-सुधारक थे, पर उस अवधि के कुछ अन्य सुधारकों की तरह पश्चिम के वैभव से अंधे होकर, स्वाभिमानशून्य बनकर अंग्रेजी राज को देवराज माननेवाले नहीं थे। वे तिलकजी के समधी थे, अर्थात् उनके पुत्र से तिलकजी ने अपनी कन्या ब्याही थी। उनकी स्मृति में एक नगरगृह के निर्माण की योजना थी। उस नगरगृह का शिलान्यास करने न्यायमूर्ति रानडे नासिक में आनेवाले थे। उनके स्वागत में कविता पढ़ी जानी थी, पर यह कविता लिखे कौन? किससे लिखवाई जाए? यह प्रश्न स्वागत समिति के सामने था।

'लोकसेवा' के संपादक श्री अनंतराव बर्वे, जिनका उल्लेख मैंने पूर्व में किया है, ने मेरा नाम इसके लिए सुझाया। मैं उस समय हाई स्कूल का एक विद्यार्थी था, पर पूर्व में वर्णित वक्तृत्व सभा में हुए मेरे व्याख्यान के कारण सभी नेताओं को मेरा परिचय प्राप्त था। अतः वह कार्य मुझे सौंपने की बात तय हुई और स्वागत समिति ने वह बात म्हसकर को बता दी। अपनी संस्था के एक युवक का इसमें गौरव है, यह बात सोचकर म्हसकर ने वह कार्य बड़े अभिमान से स्वीकार किया और वह कविता करने के लिए मुझसे कहा। न्यायमूर्ति रानडे के आगमन पर स्वागत समिति की ओर से उन कविताओं की प्रतियाँ बाँटी गईं। उस समय की मेरी कविता कैसी होती थी—इसका एक उदाहरण देने के लिए उस कविता के कुछ अंश, जो मुझे स्मरण हैं, यहाँ दे रहा हूँ—

मातृभूमि हित जो जिया विमल सुयश पाया।
उदारता से भरा, भव से तरा, सत्पुत्र भी कहलाया।
देश-हित में जुटा, कभी न थका, सद्यशो मंदिला।
मातृभूमि के सेवक केतकर प्रभो साष्टांग वंदन हमारा॥
देश-हित में जो लड़ें, जन्म कितने लोग लेते।
देश की परतंत्रता भी और मति कुंठित करें।
मृत्यु से उद्धार करने कौन अब आगे बढ़े।
यम सदन भेजे उन्हें आर्यों का हृदय जो चीरते॥
सत्कृतियाँ जो बड़ी-बड़ी हैं रहे स्मृति उन सबकी।
साधु जनों के निर्मित होते इसीलिए स्मारक भी।
वड़भागी हैं नासिकवासी उनको मिले केतकरजी।
बनते देख स्मारक उनका होता अति आनंदित जी॥

रखने को आधारशिला नगरगृह निर्माण की।
सन्मति रानडे आए बात मानकर जन-हित की।
करें बड़ों का बड़े स्तवन होगी उत्तम रीति यही।
साधुजनों के दर्शन पाकर धन्य हुए अपने दृग भी॥

स्वर्गीय बापूराव केतकर के बाद उनके सुपुत्र, तिलकजी के दामाद श्री विश्वनाथ पंत केतकर वकील ने भी सार्वजनिक कार्यों में पिता की जो ख्याति थी, उसको अपने तरीके से बनाए रखा। नासिक की अनेक संस्थाओं को उनका बड़ा सहारा था। स्वयं यद्यपि कोई कठिन देशकार्य उनसे नहीं हुआ, फिर भी जिनमें वह कार्य करने की शक्ति या साहस है, उनकी यथाशक्ति सहायता बिना किसी डाह के वे करते थे। कम-से-कम विरोध तो कभी करते ही न थे। 'मित्र मेला' संस्था के अंतरंग से यद्यपि उनका प्रत्यक्ष संबंध नहीं रहता था। फिर भी हम युवा मंडली की उत्कट देशभक्ति, त्याग और तेज देखकर उन्हें बहुत खुशी होती थी और हमारे वैध, खुले कार्यक्रमों—स्वदेशी-सभा उत्सव आदि आंदोलनों को समर्थन देने में वे आनाकानी नहीं करते थे। इस केतकर घराने की आज तक की दो-तीन पीढ़ियों ने नासिक की जनता का अविरत नेतृत्व वैध कार्यों में किया है।

हाई स्कूल में शिक्षा

इन सारे सार्वजनिक आंदोलनों के चलते मैंने अपनी पाठशाला-पढ़ाई में किसी तरह की बाधा नहीं आने दी। पिताजी के देहांत के बाद मेरे दोनों भाई प्लेग अस्पताल में जब तक थे, तब तक पाठशालाएँ भी बंद ही थीं। मैं राष्ट्रीय समझी जानेवाली पाठशाला में था, उसमें चौथी कक्षा के बाद की कक्षाएँ नहीं थीं। उसमें भी वह पाठशाला टूटने-जैसी हो गई थी। अत: सन् १८९९ के अंत में हाई स्कूल में पाँचवी कक्षा में मैं भरती हो गया। दो-तीन माह बाद ही वार्षिक परीक्षा हुई। उस परीक्षा में उत्तीर्ण होकर सन् १९०० में मैं छठी कक्षा में गया। उस समय नासिक हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक रा.ब. जोशी थे। उनकी विद्वत्ता और राजनीतिक उपयुक्तता महाराष्ट्र में प्रसिद्ध थी। जब गोपाल कृष्ण गोखले इंग्लैंड में हिंदुस्थान की ओर से एक कमीशन में आर्थिक परिस्थिति के संबंध में साक्ष्य देने गए थे, तब आर्थिक क्षेत्र की हर जानकारी देकर उन्हें साक्ष्य-सज्ज करने का कार्य रा.ब. जोशी ने किया था, यह जानी-मानी बात थी। सरकारी नौकरी से सेवा-निवृत्ति के बाद वे लोकमान्य के राष्ट्रकार्य में सहयोगी बने तथा स्वदेशी और बहिष्कार के आंदोलन में उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। यद्यपि ऐसे भारी विद्वान् और देशभक्त शिक्षक नासिक हाई

स्कूल में थे, फिर भी उन छात्रों को राष्ट्रीय वृत्ति के विकास की दृष्टि से कोई अधिक लाभ नहीं हुआ था। चूँकि शिक्षक-वर्ग पर सरकार की कड़ी निगरानी थी—विशेषकर चापेकर प्रकरण के बाद, अतः वे कक्षा में रटे-रटाए पाठ पढ़ाने के सिवाय एक भी शब्द अतिरिक्त नहीं निकाल सकते थे। फिर भी कभी-कभी कविता-पाठ की प्रतियोगिता करने के अवसर खोजकर देशभक्तिपरक—अर्थात् अंग्रेज देशवीरों का गुणगान करती हुई कविता वे हमसे पढ़वाते रहते थे। ऐसी एक कविता-पाठ प्रतियोगिता में उन्होंने मुझे चुना था। जो कविता मैंने सुनाई थी, उसका प्रारंभ कुछ ऐसा था—

We are the sons of sires of old
who crushed crowned and mitred tyrrany
they defied the field and scaffold
for their birth right so will we.

इस कविता-पाठ प्रतियोगिता में मैंने प्रथम स्थान पाया। मेरे सार्वजनिक कार्यों की जानकारी मेरे शिक्षकों को रहती थी। इसलिए उत्सव, सभा आदि के दिनों में मेरा गृहपाठ आदि पूरा न होने पर मेरे सार्वजनिक कार्यों पर शिक्षक वर्ग द्वारा आलोचना की जाती थी। परंतु मेरे प्रति हर शिक्षक के मन में जो आदर और स्नेह था, वह कक्षा में प्रसंगानुरूप प्रकट किए बिना उन्हें चैन नहीं पड़ता था। हमारे पूरे हाई स्कूल में यदि कोई ओजस्वी और श्रेष्ठ छात्र है तो वह सावरकर ही है, ऐसा स्पष्टता से सारा शिक्षक वर्ग नगर में और कक्षा में भी कहता था, पर इसके साथ ही वे बड़े स्नेह से कहते—इसे सँभालनेवाला कोई चाहिए, नहीं तो यह व्यर्थ चला जाएगा।

शिक्षकों का यह कथन अभी भी मेरे कान में गुंजित हो रहा है। मुझे सचमुच आश्चर्य है कि जिस समय मेरे पिताजी दिवंगत हुए और मैं तिलभांडेश्वर की गली में रहने आया, तब मैं उस आलसी और ऊधमी प्रवाह में कैसे नहीं बहा? जो पाठशाला को बंदीशाला मानते थे, नाटक-तमाशा-ताश आदि में उनका सारा दिन जाता था। मैं ऐसी संगति में वाचन, लेखन करता रहता था। इसलिए वे मुझे ग्रंथ-कीट (Book-worm) कहकर चिढ़ाते थे। चूँकि मैं छिछोरा नहीं था, इसलिए मुझे बेकार का समझते थे। ऐसी स्थिति में उन लोगों के साथ बह जाने का रास्ता मेरे लिए भी सरल था। परंतु योगायोग से सब अच्छा हुआ। उस समय मेरा वय १६-१७ का था अर्थात् स्वैरता की आयु थी। उसमें मुझपर न किसी का दबाव था, न मार्ग प्रदर्शन। मेरी स्वाभाविक प्रवृत्ति के बल के अतिरिक्त मेरी व्यक्तिगत और राष्ट्रीय

महत्त्वाकांक्षा को भी उचित कहनेवाला कोई संगी-साथी नहीं था। उलटे उस गुण को भी 'दुर्गुण' कहकर उसे त्याग देने की सलाह देनेवालों का जमघट ही मेरे चारों ओर था।

सुयोग से मेरी सहज प्रवृत्ति का बल ही अधिक बलशाली सिद्ध हुआ। उनकी संगति में मेरा विद्यार्जन और राष्ट्रीय झुकाव छूटने के स्थान पर उन सबकी ही प्रवृत्ति विद्यार्जन की ओर हुई और उनके जीवन में एक नया दिव्य, भव्य और गंभीर मोड़ आया। एक म्हसकर ही नहीं, अन्य लोगों ने भी मुझे कभी छिछोरा बनाने का प्रयास नहीं किया। वे स्वयं भी उस प्रवाह में कभी नहीं बहे। इतना ही नहीं; 'मित्र मेला' में अधिकतर तरुण ही थे। अत: सार्वजनिक कार्यक्रमों के कारण उनका विद्यार्जन कम न पड़े, उलटे राष्ट्रीय सेवा के उनके ध्येय के अनुरूप योग्यता, विद्वत्ता और अनुशासन का अधिकतम संपादन वे करें, इसके लिए म्हसकर प्रयास करते और मेरा ही उदाहरण आदर्श के रूप में उन सबके सामने रखते। इस तरह म्हसकर, पागे और मैं—हम तीनों ही ऐसा कड़ा अनुशासन बनाए रखते थे कि 'मित्र मेला' के हर छात्र को वार्षिक परीक्षा में उत्तीर्ण होना ही है और इसके लिए हर छमाही और हर वर्ष हमारे सदस्यों में से कितने छात्र परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं, इसकी जानकारी रखते थे। उत्तीर्ण छात्रों का सम्मान करते और जो रह जाते, उनके कच्चे विषय की पूछताछ कर उनको नि:शुल्क पढ़ाने का उपाय करते थे।

शालेय अध्ययन करने और परीक्षा उत्तीर्ण करने की मेरी एक पद्धति निश्चित हो गई थी और वही अंत तक बनी रही। मेरे हर दिन का अधिकतर समय समाचारपत्र और अन्य ग्रंथ इत्यादि विद्यालयेतर पढ़ाई करने तथा राष्ट्रीय वाद-विवाद और सार्वजनिक कार्यों के संपादन में ही चला जाता था। इसलिए कक्षा का दैनिक अध्ययन गड़बड़ा जाता था। शिक्षक भविष्यवाणी करते—इस वर्ष तो तुम धरे रह जाओगे।

छमाही या वार्षिक परीक्षा आते-आते मैं एक या दो माह तक अपने को कमरे में बंद कर लेता और सारे विषय एक सिरे से दूसरे सिरे तक पढ़कर तैयार कर लेता। इस तरह एक-दो मास में मेरी पढ़ाई पूरी हो जाती और परीक्षा में मैं उत्तीर्ण हो जाता। मेरा परीक्षा उत्तीर्ण कर लेना सबको आश्चर्य में डाल देता—शिक्षक भी आश्चर्य करते। मेरे बाबा (बड़े भैया) तो इतने अधिक आनंदित होते कि सबका मुँह मीठा कराने घर-घर जाते। मेरी पीठ थपथपाते, बार-बार पीठ पर हाथ फेरते। यही क्रम बी.ए. तक चला। बाबा का हाथ अपनी पीठ पर फिरना मेरे लिए इतने आनंद का विषय था कि विश्वविद्यालय तक की नौ-दस परीक्षाओं के स्थान पर पच्चीस परीक्षाएँ होतीं तो भी मैं आनंद से दे देता।

आर्थिक संकट के दिन

पिताजी के देहांत के बाद एक तो हम जो बच गए, वे सब बच्चे ही थे, दूसरे नासिक में किराये पर रहने लगे। इस कारण भगूर गाँव में हमारी जो संपत्ति थी उसकी लूट होने लगी। पिताजी के समय से ही चोरों की आवाजाही हमारे यहाँ थी। उस समय चोरों ने एक बार रात में पिछले दरवाजे की सीढ़ियाँ खोदकर वहाँ से अंदर आने के लिए सुरंग बनाई और वे रसोईघर में घुस आए। एक चोर एक बड़ा पत्थर लेकर पिताजी के सिरहाने खड़ा रहा। विचार यह था कि उनके उठते ही सिर पर पत्थर पटककर उन्हें मार दिया जाए। पिताजी तलवार लिये सोते थे। यह चोरों को ज्ञात था, क्योंकि चोरों में घर का ही एक नौकर मिला हुआ था। परंतु किसीके जागने के पूर्व ही दो तल्ले की आलमारी में रखी रोकड़ और आभूषण उनके हाथ लग गए। प्रात: सारी बातें समझ में आ गईं। पिताजी के बिस्तर के पास वह बड़ा पत्थर देखकर पुलिस ने कहा—'अण्णा जाग जाते तो वहीं ढेर हो जाते।' पर इस तर्क के आगे पुलिस चोरों का और कोई सुराग नहीं ढूँढ़ पाई। पत्थर-संबंधी तर्क तो औरतों ने भी दिया था। इस चोरी में हुई आर्थिक हानि के बाद ही पिताजी प्लेग में दिवंगत हो गए। प्लेग के डर से रात ही में नासिक भाग आने की हड़बड़ी में हमने इतनी थाली, कटोरी, लोटे, बड़े पतीले आदि एक विशेष स्थान पर भरकर रख दिए थे कि सौ लोग खा सकें, परंतु इसका पता हमारे पड़ोसी को था और घर तो सूना था ही। अत: उसने सारे बर्तन चुरा लिये।

साहूकारी का जो कुछ आना-पावना था, वह और खेत, बगीचे, अमराई, जो जिसके पास था, वह सब लोग हड़प गए। हम बच्चों को कोई विशेष जानकारी या अनुभव तो था नहीं। उसमें भी बाबा प्लेग अस्पताल में ही अटके रहे। वहाँ से छूटकर जब वे भगूर गए, तब तक तो सारा साफ हो चुका था। लेन-देन के कागज भी गायब हो गए। पिताजी द्वारा लिया हुआ ऋण अवश्य बाकी बचा। ऐसी स्थिति में बाबा को परिवार के भरण-पोषण की बड़ी चिंता थी। इसके लिए उन्होंने साहूकारों द्वारा दिए अनेक कष्ट झेले। सरकारी नौकरी में उनकी अनास्था थी जबकि मैं सरकारी नौकरी के विरुद्ध बिलकुल नहीं था। 'मित्र मेला' में भी सरकारी नौकर थे ही। मित्रों और मेरे आग्रह पर यदि कोई नौकरी वे पकड़ते, तो भी महीने-दो महीने बाद वह छूट जाती—कहीं झगड़ा होता और कहीं कोई अन्य कारण हो जाता। समय भी अकाल का था। अकाल-निवारण के काम प्रारंभ हुए तो उसमें भी उन्होंने एक बार निरुपाय होकर नौकरी की। साहूकार तकाजा करते, बनिये की देनदारी बढ़ती। वे बाबा का अपमान करते, किंतु जो कुछ भी होता, वह बाबा स्वयं

सहन करते। उनकी चिंता इतनी ही रहती कि मुझ तक ये बातें न पहुँचें। इतनी रस्साकशी में भी उन्होंने मुझे या मेरे छोटे भाई को किसी तरह की कमी नहीं होने दी। हमारी दूध-जलेबी की बंधी यथावत् रही। फिर उन्हें कभी-कभी आधे पेट भी सोना पड़ता तो बिना बताए रह जाते। सारी बातें हमसे छिपाकर रखते।

बाबा ने इस आर्थिक तंगी का कष्ट किसीको झेलने दिया, तो केवल अपनी पत्नी (मेरी भाभी) को। घर में कभी-कभी कुछ भी सामान नहीं रहता था। वह कहते हुए डरती थी। बात जब गले से लग जाने को होती तो वह मुझे बाबा को कहने के लिए कहती, क्योंकि बाबा मुझपर कभी बिगड़ते नहीं थे। मुझे घर में सौ अपराध क्षमा थे। घर में चावल या नमक नहीं है—लाने होंगे—ऐसा कभी मैं कहता तो—लाता हूँ—कहते, पर मेरे पीछे भाभी को डाँटते कि घर की कमी-बेशी उसको क्यों बताती हो। बाबा के पुराने कपड़े जब हम फेंक देते, तब वे कपड़े लाते। भाभी की फटी साड़ियाँ देख जब मैं धरना देता या अपने कोट के लिए पैसे माँगकर लुगड़ी (साड़ी) लाता, तभी वह आती। देनदारों का मुँह बंद करने के लिए उसने अपने सारे आभूषण उतार दिए। एक डोरा भी न बचा। फिर भी उसके पास जो एक आभूषण था, वह था सदा अम्लान रहनेवाला उसका प्रसन्न मुख। हमसे हँसने, खेलने और हमारे साथ हो रहे लालन-पालन में उसे स्वर्गीय सुख मिलता। उसे उसी वय में एक संतान हुई भी थी, परंतु वह प्रसव के कष्ट में ही मर गई। उस प्रसूति में उसका अच्छा खान-पान, आराम न होने के कारण उसका बुरा प्रभाव उसके शरीर पर पड़ा। परंतु इन दैहिक कष्टों का या घर की दरिद्रता के कष्ट का उसे होश ही नहीं था। हम ही उसकी संतान, उसकी संपत्ति, उसका आनंद, उसका स्वर्ग थे। उसीमें वह मगन रहती, सुखी रहती, रमी रहती।

बाबा का स्वभाव मूल में ही देवपरायण, बहुत श्रद्धावान् था। धन की तंगी में वे अनेक ऊटपटांग दैवी उपाय करते थे और मुँह की खाते थे। जप-तप, मन्नत, शकुन इत्यादि पर उनका अपार विश्वास था। ईश्वर को संकट में डाले जाने पर विश्वास, चमत्कारों पर विश्वास। दृष्ट उपाय रुक जाने पर मानव सहज ही अदृष्ट के पीछे लग जाता है। आशा है तो आयुष्य है। मानवी आशा जहाँ नहीं है, वहाँ दैवी आशा रखने के अतिरिक्त गति भी तो नहीं है। उस व्याकुल स्थिति में बाबा का मन अधिक ही श्रद्धालु बन गया। हम दोनों भाइयों के प्रेम की डोर ने उन्हें गृहस्थी से बाँध रखा था, अन्यथा वे कभी के भभूत रमाकर चले गए होते, पर मेरे भाग्योदय पर उनकी अटूट निष्ठा थी। वह भाग्योदय का दिन आने तक हमारा पालन-पोषण किसी भी तरह करना उनका लक्ष्य था। उसी आशा में वे उन दिनों से जूझते रहे। तिनके का भी सहारा उनको काफी होता था और किसी कारण वह तिनका भी उनके

हाथ से छूट जाता तो ईश्वर द्वारा संकट में डाले जाने का मार्ग तो किसीने बंद किया ही नहीं था। ऐसी ही एक घटना हुई भी।

दैवी गुप्त धन?

बाबा उस समय इक्कीस-बाईस वर्ष के थे। साहूकारों के और गृहस्थी के फंदे में फँसे होने के कारण वे धन की तंगी में हमेशा ही रहते हैं, यह सबको ज्ञात था। ऐसी स्थिति में पुराने लेनदारों से कुछ वसूली हो जाए, इसलिए भगूर गए। वहाँ हमारे पिता के समय के एक परिचित व्यक्ति 'कारंजकर' थे। सैकड़ों रुपए का लेन-देन उनसे होता रहा था। उस परिवार के एक व्यक्ति ने बाबा की परेशानी से विह्वल होकर बड़े आत्मीय शब्दों में कहा, 'बाबा, आप लोग पालकीवाले घर के लड़के हो—हमारे जागीरदार, परंतु आज आप पर ऐसी विपदा पड़ी है। हम आपके दाने पर पले हैं—अब आपको ऐसे संकट में पड़े देखा नहीं जाता। एक गुप्त दौलत चलकर मेरे यहाँ आना चाहती है—वह मैं आपके चरणों में चढ़ाना चाहता हूँ। हमारा क्या है, हमने भीख भी माँगी तो कौन हँसेगा? पर आपकी गरिमा हम सँभाल सके तो खाए अन्न के ऋण से कुछ तो मुक्त होंगे ही। दो दिन बाद मुझे दस हजार रुपए मिलनेवाले हैं। क्यों और कैसे, मत पूछिए। यह पुरातन धन नदी किनारे एक खेत में है। परसों रात के शुभ मुहूर्त पर मैं उसे निकालूँगा। तब आपको साथ ले जाऊँगा। रात में उसे आपको सौंप दूँगा और समझूँगा कि मेरा उससे कुछ भी मतलब नहीं है। परंतु उस खजाने को हाथ लगाने के पहले मुझे अपने देवता की पूजा भोग-बलि आदि से करनी होगी—उसके लिए दो-तीन सौ रुपए कहीं से जुगाड़ करके मुझे दे दीजिए।'

यह सुनकर तो बाबा को ऐसा लगा, मानो देवता ही मिल गए, पर गड़े खजाने होना, उसपर बैठे तक्षक नाग आदि को बलि आदि दिए जाने पर मिलने की संभावना, ऐसे चमत्कार होते रहने की कथाएँ हमारे पुराणों से लेकर अर्वाचीन इतिहास में भी बहुत मिलती हैं। ऐसे खजाने हमें मिले हैं, शपथ लेकर यह कहनेवाले लोग भी बहुत हैं। आज भी टकराते हैं। उन बाबा ने मानो अपने प्राण ही गिरवी रखकर लगभग तीन सौ रुपए प्राप्त किए। बाबा को नौकरी मिले, इसलिए बाबा के किसी मित्र ने उन रुपयों की व्यवस्था कर रखी थी। यही राशि उन्होंने उन्हें दी और अति उत्कंठा से अब सारी देनदारी एक झटके में निश्चित रूप से चुकता हो जाएगी, ऐसे असंभव आनंद में वे उस रात की प्रतीक्षा करने लगे। रात तो हो गई, पर वह आदमी नहीं आया। पूरी रात बीत गई, वह नहीं आया। बाबा अधीर हो गए। सोचने लगे, कितने आर्त होकर उसने बात कही थी, वह कैसे ठग सकता है? नहीं, कुछ और ही बात होगी। दूसरे दिन सुबह वह आदमी आया। अब उसपर शंका करने का

कोई कारण नहीं था। उसने कहा, 'वह रात शुभ नहीं थी और ग्यारह दिन बाद पक्का मुहूर्त है, पर और थोड़ी राशि मंत्र-तंत्र के लिए लगेगी।' बाबा ने उसकी व्यवस्था करने की बात मन में सोच ली।

इसी बीच जाने किस कारण से भगूर कभी न आनेवाला मैं, भगूर आया। हमारे घर में पंद्रह गगरी पानी आ सके, इतना बड़ा पत्थर का बना एक हौज था। उसमें पानी भरा हुआ और उसमें हमारी कुल स्वामिनी देवी की मूर्ति गले तक डुबोकर रखी हुई मैंने देखी। मैंने पूछा—यह क्या है ? बहुत देर तक टालमटोल करने के बाद अंत में बाबा ने सारी बात कही। मैंने तुरंत कहा, 'यह सब लुच्चापन है। अपने घर में हुई चोरी के समय अण्णा ने उसी आदमी पर संदेह किया था। उसने तुम्हें सरासर ठगा है। अब और पैसे मत देना।' फिर भी बाबा ने कहा, 'पैसे नहीं दूँगा, लेकिन वह आदमी वैसा नहीं है, और फिर भी उसके मन में कपट आने की संभावना हो और वह असंभव हो जाए, इसीलिए तो मैंने इस देवी-मूर्ति को ग्यारह दिन के लिए गले तक पानी में डुबोकर संकट में डाल रखा है। यदि ग्यारहवें दिन तक वह आदमी नहीं आया तो देवी को मैं पूरी-की-पूरी पानी में डुबो दूँगा।'

मैंने कहा, 'इस हौज के पानी में ही क्या, गहरे कुएँ में भी देवी-मूर्ति को डुबो दें तो भी जो ठगी हुई है, उसकी भरपाई नहीं होगी।' फिर भी बाबा का धीरज पूरी तरह समाप्त नहीं हुआ। जब वह आदमी ग्यारहवें दिन भी नहीं आया, तब बाबा घबरा गए। बुलावे-पर-बुलावा भेजा गया, पर अब और पैसा लूटने की आशा उसे नहीं थी, सो वह नहीं आया। फिर जब कुछ समय बाद बाबा ने उसे पकड़ा, तब उसने कहा, 'क्या बताऊँ आपको ? उस रात मैं वहाँ गया ही था कि दस-बारह आदमियों ने मुझपर हमला किया—आपके दिए मेरे सारे पैसे छीन लिये और कहा—फिर से आओगे तो मार डालेंगे। मैं जान बचाकर भागा। अब आप किसीको कुछ नहीं कहना, नहीं तो वे आपकी भी वही गति करेंगे।' यह डर हमें नहीं था, फिर भी हम कहीं कुछ नहीं कहते—पर उसने हमसे यह इसीलिए कहा, ताकि हम अपने ठगे जाने का ढिंढोरा न पीटें। बाबा ने फिर वह देवी-मूर्ति उस खंडोबा के मंदिर में पहुँचा दी, जहाँ वह थी। वह अभी भी वहीं है।

पब्लिक सर्विस की परीक्षा

बाबा को ठगी के कारण दो-तीन सौ रुपए की यह चोट लगी, इसका मुझे बहुत दुःख हुआ। हमारे भले के लिए उन्हें बार-बार कष्ट भुगतना पड़ता है—ऐसी उदासी सहन करनी पड़ती है, यह सब देखकर मुझे लगा कि मैं पढ़ना छोड़कर कहीं नौकरी कर लूँ, तो बाबा को कष्ट से मुक्ति मिले। मेरे शुल्क की व्यवस्था कैसे हो?

इसकी भी चिंता उनको रहती थी, उससे भी मुक्ति चाहिए थी। उस समय नौकरी दिलानेवाली 'पब्लिक सर्विस' की एक परीक्षा हाई स्कूल की सातवीं कक्षा के समकक्ष थी—उसमें दफ्तरों के काम के विषय, जैसे बुक-कीपिंग (आय-व्यय) आदि भी थे। मैट्रिक उत्तीर्ण होने पर भी नौकरी न मिले, तो भी उस पब्लिक सर्विस की परीक्षा उत्तीर्ण होने के कारण तहसील आदि में पंद्रह-बीस रुपए की नौकरी मिल जाती थी। अत: आगे पढ़ाई नहीं छोड़ने का दृढ़ निश्चय करते हुए और यह साधन भी पास रहे, इसलिए मैंने हाई स्कूल की सातवीं कक्षा में पहुँचते ही उस पब्लिक सर्विस परीक्षा की पढ़ाई घर में ही शुरू की। उस काम में मेरा सहपाठी मेरा मित्र डांगे था। वह मेरा बड़ा भक्त था। रामभाऊ दातार का साला मोनू कोल्हटकर भी परीक्षा में बैठनेवाला था। इस तरह हम तीन एक साथ परीक्षा में बैठे और उत्तीर्ण भी हुए। हमारे पुराने मित्रों, संबंधियों की व्यावहारिक दृष्टि से मेरा उस परीक्षा में बैठना और उत्तीर्ण होना बहुत अच्छी बात थी। अब कहीं नौकरी कर ले और मौज कर—यह आशीर्वाद उनसे मिला, क्योंकि इसके आगे उनकी आकांक्षा ही नहीं थी। उस समय की परिस्थिति में बीस-पच्चीस रुपए से अधिक की नौकरी प्राप्त करने योग्य शिक्षा मैं प्राप्त कर सकूँगा, इसकी संभावना भी नहीं थी। यह पब्लिक सर्विस परीक्षा उनकी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थी, क्योंकि तहसीलदार के दफ्तर के लिए तो सिविल सर्विस परीक्षा ही थी।

पर बाबा को शुभ-अशुभ कुछ भी नहीं लगा, क्योंकि तात्या बीस रुपए की नौकरी करे, इसकी कल्पना भी वे नहीं कर सकते थे। चाहे जो कष्ट हो, मैं भुगत लूँगा, पर तात्या की पढ़ाई बंद नहीं होगी—यही हमेशा उनकी प्रतिज्ञा रही।

बढ़ता स्नेही समाज

उधर 'मित्र मेला' तेजी से बढ़ रहा था। व्यक्तिगत रूप से मुझे असीम प्रेम करनेवालों की संख्या बढ़ रही थी। उस समय के मेरे सहपाठी मित्रों में जयवंत और मेरा स्नेह असीम था। उसके पिता एक प्रतिष्ठित गृहस्थ और बड़े सरकारी अधिकारी थे तथा उसके बड़े भाई बी.ए. उत्तीर्ण होकर विधि का अध्ययन कर रहे थे। वे बाद में एल.एल.बी. हो गए। उनकी दो-तीन बहनें थीं। मैं जब तक नासिक में था, तब तक वे सारे भाई-बहन किसी संबंधी की तरह मुझसे स्नेह रखते थे। उनकी माँ तो मुझपर बड़ी ममता करती थीं। उन सबके साथ मैं खेलते, बैठते, हँसते, पढ़ाई करते कितने ही दिन मजे से रहा।

वे प्रभु जाति के थे—ब्राह्मण उनके हाथ का खाते नहीं थे, पर जो कुछ भी मीठा-नमकीन बनता, वह मैं खुशी से खाता था। मुझमें जाति का अपना-पराया भाव

कभी नहीं था। इसपर भी मेरा विशेष ध्यान मित्रता अर्थात् अपने मत के प्रचार पर रहता। मेरे खेलने, हँसने, पढ़ने तक में सारी चर्चा वही होती। मेरा प्रत्येक मित्र स्वदेशी वस्तु का उपयोग करनेवाला, स्वदेशाभिमान में रँगा हुआ, कम-से-कम स्वतंत्रता की चिंता तो अवश्य ही मन में रखनेवाला था; और अधिकतर 'मित्र मेला' का सदस्य था। कोई सदस्य हो गया, इसलिए प्रिय मित्र हुआ और कोई प्रिय मित्र था, इसलिए सदस्य हुआ। इस तरह मुझसे मित्रता का अर्थ था उस व्यक्ति का राजनीतिक प्रगति के सोपान चढ़ना। जब तक मैं बच्चा था और मेरे पीछे अंग्रेजी सत्ता के संशय का पिशाच नहीं लगा था, तब तक ये दोनों बातें साथ-साथ चल सकती थीं, पर अंग्रेजी सत्ता का पहले संशय और फिर कोप जब मुझपर हुआ, तब ऐसे कितने ही सरकारी नौकरों के और अन्य परिवारों के स्नेह से मुझे वंचित होना पड़ा। मैंने व्यक्तिगत स्नेह का त्याग वेदना के साथ किया, पर राष्ट्रीय कर्तव्य पर अटल रहा।

इसी समय शंकर बाध से परिचय हुआ। देवता की तरह मुझपर निष्ठा रखनेवाले मेरे अनुयायियों में जिसका उल्लेख किया जाना आवश्यक हो, ऐसा वह एक किशोर था। वैसे तो वह एक साधारण नाई का लड़का था। कुछ दिन अंग्रेजी पढ़ता रहा। बहुत साहसी और सर्जक। जब तक मेरे साथ रहा, तब तक स्वतंत्रता आंदोलन में विश्वासपूर्वक सौंपा गया काम अचूक करता था। 'मित्र मेला' का बड़ा अभिमानी और सभी कामों में अग्रणी, मेहनत करने से कभी पीछे न हटनेवाला। मेरी निगरानी में उसने काफी अध्ययन किया। बाहर के किसी भी विद्वान् को राजनीति, इतिहास आदि विषयों पर उससे कुछ सुनने की इच्छा हो, ऐसी वाक्शक्ति उसे प्राप्त हो गई थी। अपनी पारंपरिक नाई कला में भी वह कुशल था।

मैं जब पुणे चला गया, तब यह अठारह-उन्नीस वर्षीय लड़का अपना भाग्य परखने एक दिन घर से बिना कुछ कहे कहीं चला गया और तब प्रकट हुआ, जब बड़ौदा नरेश का नाई नियुक्त हो गया। उसे बड़ौदा जाने देने में मेरा जो गुप्त प्रयोजन था, वह उसने अपने कौशल से राजभवन में प्रवेश कर कल्पना से भी अधिक पूरा किया। वहाँ प्रचार करने और समाचार देने की सुविधा हो गई। मेरे विलायत जाने के पूर्व तक वह मुझसे बंबई में मिलता रहा। जब अंग्रेजी सत्ता ने बड़ौदा के 'अभिनव भारत' के लोगों का लगातार पीछा कर पकड़-धकड़ चालू की, तब वह भाग्य से बच गया, पर एक दिन समाचार मिला कि उसके घर में आग लगी और वह आग में जलकर मर गया। स्वदेश की स्वतंत्रता के लिए कुछ समय तक पूरे मन से संघर्ष करनेवाले उस देशभक्त युवा और मेरे एक अनन्य भक्त का अंत इस तरह हो गया। ऐसे अतिसामान्य व्यक्ति, जो अकस्मात् अपने गुण-विकास के साथ कहीं और होते,

मेरे संसर्ग में आते ही उससे कहीं अधिक राष्ट्रोपयोगी हो गए और कुछ महानता पा गए, ऐसे व्यक्तियों में शंकर की भी गणना की जानी चाहिए।

हम 'मित्र मेला' के सदस्यों ने अपनी-अपनी रुचि के एक-एक विषय में प्रवीणता प्राप्त करने के विषय छाँट लिये थे। कुछ लोग इस योजना के अनुसार ग्रंथ पढ़कर, निबंध लिखकर उसका वाचन करते या व्याख्यान देते। इससे सदस्यों का सामान्य ज्ञान बढ़ने में बहुत सहायता मिली। हर शनिवार-रविवार को हमारी बैठकें नियमित होतीं। मैं प्रत्येक बैठक में उपस्थित होता था। कई सदस्यों को इन सामान्य बैठकों के प्रति कोई उत्साह नहीं होता था। कोई बाहर का बड़ा व्यक्ति बुलाया हो या सार्वजनिक शोभायात्रा, जुलूस, उत्सव आदि का प्रसंग हो, तो ये सदस्य इकट्ठा होते थे। परंतु हर सप्ताह वही चिंतन, मनन, ज्ञानार्जन करते रहने का धैर्य उनमें नहीं था। मुझे वह बात महत्त्वपूर्ण लगती थी। मैं कहता, जैसे रामकथा या कृष्णकथा का पारायण हम करते हैं, वैसे ही स्वातंत्र्य-लक्ष्मी के इतिहास तथा पुराण का भी पारायण हमें करना चाहिए। जैसे धार्मिक अनिवार्यता से संध्या-पूजा नित्य की जाती है, वैसी ही यह राष्ट्रीय संध्या-पूजा माननी होगी। फिर एक बात और है, वह यह कि जो नए सदस्य आते हैं, उनमें तुम्हें पुराने लग रहे संस्कार नए सिरे से डालने होते हैं। संपूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता के बिना कोई और उपाय क्यों नहीं है? किस कारण नहीं है? वह स्वतंत्रता बिना सशस्त्र क्रांति के मिलना कितना दुष्कर है। अन्य देशों ने वह कैसे प्राप्त की? वह हमें किस तरह प्राप्त करनी है?

इन सबकी चर्चा भी उस समय के विद्यालय-महाविद्यालयों में, समाचारपत्रों में या सभाओं में खुले रूप में करना नितांत असंभव था! फिर वह चर्चा कहाँ होगी? हमारे तरुण वह ज्ञान कहाँ से प्राप्त करेंगे? सिवाय ऐसी गुप्त संस्था के? 'राष्ट्रीय' कही जानेवाली पाठशालाओं में भी जो ज्ञान दिया जाना असंभव है, वह वास्तविक राजनीति इन गुप्त संस्थाओं द्वारा पढ़ाने के अतिरिक्त मार्ग ही कौन सा है? एक तरह की वास्तविक राष्ट्रीय पाठशाला भी तो यही है। स्वतंत्रता की उत्कट अभिलाषा जब तक जनता में खुले रूप से अभिव्यक्त करना संभव नहीं होता, तब तक उसे गुप्त रूप से ही उपदेशित करना आवश्यक है। गायत्री मंत्र का जाप गुपचुप करना होता है। जब तक श्रीकृष्ण प्रकट रूप से मथुरा में रह नहीं सकते थे, तब तक उनका पालन-पोषण गुप्त रूप से ग्वालों के द्वारा करवाना आवश्यक था। ऐसी निष्ठा और पूरी धार्मिक बुद्धि से मैंने और आबा दरेकर आदि मेरे प्रति निष्ठावान लोगों ने यह संकल्प कर लिया था कि अन्य कोई आए या न आए, पर हर शनिवार की बैठक खंडित नहीं होनी चाहिए।

रामभाऊ, मेरे बड़े भैया बाबा आदि लोग, ऊपर लिखे अनुसार कभी भी

आ जाते और हर सदस्य को बैठक में आना ही चाहिए, यह नियम इस-उस बहाने भंग करते थे। पहले दो वर्ष तक मेरे बड़े भैया बाबा को राजनीतिक आंदोलन की सच्ची लगन लगी ही नहीं थी। विरोध नहीं था, पर अनुकूलता भी नहीं थी। दूसरा कुछ सूझे ही नहीं, राजनीति का ऐसा प्रबल प्रवाह नहीं था। मेरी संगति और अन्य कारणों से जो-जो आ जाते, वे-वे आ जाते। कभी-कभी शनिवार को रात में सिरदर्द के कारण इधर नहीं आए लोग धीरे से उधर नाटक देखने चले जाते। पूछने पर कहते, बैठक आदि में बोलने-बतियाने का काम आप करो—प्रत्यक्ष कुछ काम हो और हम पीछे रह जाएँ, तो जो चाहे वह दंड हमें दे देना। कम-से-कम बाबा ने अवसर आने पर अपना वचन पूरी तरह निभाया। राष्ट्रीय स्वाधीनता-समर का होमकुंड चेतते ही सबसे पहले अपनी देह की जो आहुति उन्होंने उसमें दी, उसने यही सिद्ध किया। हिंदुस्थान की अर्वाचीन स्वातंत्र्य क्रांति में वही पहला देशवीर था, जिसने अंडमान के आजन्म कारावास की भयंकर सजा सुमेरू पर्वत की तरह अविचल धैर्य के साथ भोगी।

फाँसी का फंदा, असहनीय गुप्त भयंकर दाँतों जैसी देहदंडों की शृंखला और रोगों के कचकचाकर गड़ाए दाँत—भारत के उस महान् लड़ाकू सैनिक को उसके व्रत से विचलित नहीं कर सके। इतिहास में देशवीरों ने जो-जो अघोरी प्रताड़नाएँ भुगतीं, वे सब इस देशवीर ने पहले ही चक्र में सहन कर दिखाईं। उससे उन कष्टों—और त्याग को सहन करने की क्षमता अभी तक हमारे रक्त में है—यह अनुभूति राष्ट्र को हुई। आत्मविश्वास की इस ज्योति की चेतना से प्रभावित होकर भारत के कोने-कोने से आत्माहुति देने की स्पर्धा में एक के पीछे एक सैकड़ों तरुण आगे आते गए।

प्लेग-रोगियों के शव

आज सोचें तो कभी-कभी असंभव-सी लगती सहनक्षमता, परोपकारिता, मनोधैर्य, अपने अलग-अलग रूपों में क्यों न हों, ऐसे गुण बाबा में तब भी कभी-कभी प्रकट होते थे।

सन् १९००-१९०१ में नासिक में प्लेग ने फिर से चक्कर लगाया। अब हम सबको प्लेग का डर नहीं रहा था। प्लेग फैलते ही भागम-भाग करने की बजाय हम नासिक में ही बने रहे। इतना ही नहीं, निराश्रित प्लेग-रोगियों की सेवा कर उनके शव भी कंधे पर ढोकर ले जाते। इस काम में बाबा और रामभाऊ दातार अगुवा थे। रात-बेरात अपनी चिंता न करते हुए हमने श्मशान के इतने चक्कर लगाए कि श्मशान का भय ही नहीं रहा और वह चहल-पहलवाले चौक की तरह गपबाजी का अड्डा लगने लगा।

श्मशान के फूल

मुझे एक रात का स्पष्ट स्मरण है कि हमारी स्वयंसेवक मंडली किसीका शव लाई, उसे चिता पर चढ़ाया और फिर श्मशान की धर्मशाला में हमने वह रात बिताई। रामभाऊ टालवाले के यहाँ से हम ढफ ले आए और उसकी ताल पर किसी नाटक के श्मशान-वर्णन के गीत गाने लगे। हम सब सुनते रहे। उस धर्मशाला के आगे बगीचा था, जिसमें जूही के सफेद फूल खिले थे—मैं बीच-बीच में उन फूलों को देखता और उनका अति तरल परिमल सूँघता सो गया। उस दिन की वह सुगंध मानो मेरी स्मृति में संग्रहीत होकर रह गई। जब भी जूही के फूल देखता हूँ, तो मुझे श्मशान की वह सुगंध अनुभव होने लगती है।

ननिहाल की यात्रा

दो-एक मास हो गए, परंतु प्लेग बना रहा। बार-बार मामा का यह आग्रह बढ़ता गया कि हम नासिक छोड़ अपने ननिहाल कोठूर आ जाएँ। प्लेग में स्थल बदलना मुझे भी उचित लगता था। अतः बाबा ने मुझे, बाल और भाभी को कोठूर भेज दिया, लेकिन वे जिद करके नासिक में ही बने रहे। हम कोठूर आए और एक बगीचे में गाँव के बाहर पंद्रह दिनों तक रहे। यह बगीचा वहाँ के जागीरदार अण्णाराव बर्वे का था। प्लेगवाले गाँव से आनेवाले आदमियों के साथ प्लेग के भी आने का डर हर गाँव को लगता था—इसलिए एकदम गाँव में जाना ठीक नहीं होता था। उस एकांत बाग में हम दोनों, मैं और बाल, के लिए दोनों समय भोजन लेकर हमारे प्रिय मामा आते थे। दिन-रात उस बाग में अकेले रहते हम दोनों बच्चे रुआँसे हो जाते। भूख भी खूब लगती थी।

दाना लेकर देरी से आती माँ की राह जैसे चिड़िया के बच्चे तकते हैं, वैसे ही हम दोनों बच्चे टकटकी बाँधे देखते रहते और मामा के दिखाई देते ही खुश हो जाते। वहीं एक दिन जागीरदार बर्वे के लड़के हमसे मिलने आए। उसमें एक लड़का 'तात्या' था—मेरे ही वय का। कुछ ही दिनों में हम दोनों जिगरी दोस्त बन गए। एक-दूसरे के बिना हमें चैन नहीं पड़ता था। क्रांतिकारी आंदोलन में हम दोनों पर आए प्राण-संकट में भी हमारा वह स्नेह अखंड रहा और तात्या की अकाल मृत्यु होने तक बना रहा।

तात्या बर्वे के चचेरे भाई बलवंतराव बर्वे—जिन्हें हम बाबू कहते थे—बाबा के वय के थे और हमारे दूर के संबंधी भी थे। उनकी-मेरी प्रत्यक्ष पहचान इसी समय हुई। जागीरदार बर्वे का घराना इतिहास-प्रसिद्ध था। पुणे के पेशवे इनके दामाद थे। पेशवाओं के दिल्ली तक के व्यवहार बर्वे मंडली को ही सौंपे हुए रहते

थे। बर्वे की दूसरी शाखा के थे दादाराव बर्वे। उनके और मेरे मामा के बीच बहुत स्नेह था। ये सारे लोग मामा के साथ पिताजी के समय में भगूर आया करते थे। दादाराव के छोटे भाई गोपाल और वासुदेव क्रमश: बाबा और मेरे वय के थे। मामा के स्नेह के कारण वह घर मेरे ननिहाल जैसा ही था। भविष्य में इसी घर से ससुराल की ओर से भी मेरा संबंध होना था, किंतु उस समय उसकी कोई कल्पना नहीं थी। इन तात्या बंधुओं के कारण वहाँ मेरी इतनी घनिष्ठता बढ़ी कि लोग आश्चर्य करते।

बर्वे के बाग में कुछ दिन अलग-अलग रहने के बाद हम स्वस्थ मान लिये गए और गाँव में मामा के यहाँ आ गए। वहाँ बूढ़ी नानी और मामी मिलीं। नानी के स्नेह का क्या कहना! हम उनकी इकलौती कन्या की संतान थे। हमारे बचपन में ही हमें छोड़कर माँ जो परलोक सिधार गई थी, मानो इसीलिए नानी हमपर अपने प्राण निछावर करती थीं। हमारी मामी भी बहुत प्यार करनेवाली थीं। वे बाबा के ही वय की थीं, पर हम भानजों पर अपनी संतान की तरह उनका लाड़ बरसता था। मैं उनके साथ खूब खेलता। वे भोजन करतीं तो मैं उनका साथ देता। गाना गाकर सुनाता। उनकी काम की चीजें छिपा देता। मामा के पड़ोस में डोंगरे का मकान था। मैं बचपन में अपनी माँ के साथ उस मकान में जाया करता था। मुझे यह स्मरण नहीं था, पर उन्हें था। इसलिए वे सारे लोग मुझसे बहुत स्नेह करते। वहां सब मौसियाँ थीं—खूब लाड़ करनेवाली। उन सारी लड़कियों के संग झूले पर काव्य-प्रतियोगिता में सम्मिलित होने के लिए मुझे कितनी ही बार बुलावा आता और मुझे सबको काव्य रचकर कहते, हँसाते हुए, नानी आदि प्रौढ़ महिलाएँ एक तरफ होकर देखती रहतीं और उसका आनंद उठातीं। इन काव्य पंक्तियों में भी मैं स्वदेशभक्ति का, क्रांति का और विदेशियों के द्वारा दी जानेवाली राजनीतिक पीड़ा का वर्णन अवश्य पिरोता। मेरी फूफी की ससुराल उसी गाँव में थी। मैं उनके यहाँ भी जाता। उनका एक पुत्र था लखू, मेरे ही वय का। वह भी मेरा मित्र हो गया और होते-होते मेरी मित्र मंडली क्रम से बढ़ती हुई एक राजनीतिक संगठन में रूपातंरित हो गई।

कोठूर शाखा की स्थापना

अपने गाँव में हमारे मामा का बड़ा प्रभाव था। वे व्यायाम और कुश्ती में प्रवीण थे। उनके परिवार में व्यायाम की बड़ी रुचि थी; घर में ही व्यायामशाला थी। हमारे मामा भरे-पूरे, ऊँचे, दोहरे, गोरे और सुदर्शन थे। शरीर भी व्यायाम से कसा हुआ। मामा ने मुझे कुश्ती सिखाने का काम अपने युवा शिष्यों को सौंपा। उनके प्रभाव और स्नेह के कारण मुझे भी उस गाँव में बड़ा प्यार मिला। मैं जहाँ-जहाँ जाता, वहाँ-वहाँ मेरे राजनीतिक विचारों का प्रचार होता जाता। मेरी आयु सत्रह-

अठारह वर्ष की ही थी, परंतु कुछ अंशों में उसीके कारण जहाँ मैं जाता, वहाँ मेरा प्रभाव पड़ता। बड़ी आयु के व्यक्ति भी मुझसे बात करते और मेरी बड़ी-बड़ी बातें सुनकर मेरी ओर आकर्षित हो जाते। मैं वहाँ अनेक घरों में चापेकर का पोवाड़ा गाकर सुनाता। अपनी अवस्था के लोगों को एकत्र कर गोदावरी नदी के सुंदर घाट पर मैं शाम को 'मित्र मेला' की तरह कभी-कभी बैठकें करने लगा। गाँव में मेरा एक सार्वजनिक व्याख्यान भी हुआ। उससे तो गाँव में मेरा सम्मान ही बढ़ गया। तब तक उस गाँव में अन्य गाँवों की तरह दस-पाँच आदमी समाचारपत्र पढ़ते थे, परंतु वह आनंद के साधन जैसा ही था। अन्य गाँवों की तरह ही स्वदेश के लिए स्वयं त्याग करने की तड़प पैदा हो, इतनी उत्कट देशभक्ति किसी में नहीं थी। क्या करना चाहिए, इसकी कोई कल्पना भी नहीं थी। लोकमान्य के आंदोलनों से स्वदेश के लिए चेतना और सदिच्छा गाँव-गाँव में उत्पन्न हो गई थी। ऐसी परिस्थिति में मेरी उत्कट भावना और बेहिचक प्रचार से तरुणों में ही नहीं, अनेक प्रौढ़ लोगों में भी स्वदेश-स्वतंत्रता का कभी न सुना हुआ, स्पष्ट, भव्य और दिव्य संदेश सुनकर देशभक्ति की जीवंत इच्छा उत्पन्न हुई। मैंने तत्काल ही नासिक जैसी गुप्त संस्था की स्थापना वहाँ की और यह शपथ भी अपने विश्वासपात्र लोगों को दिलाई कि देश की स्वतंत्रता के लिए आवश्यक होने पर सशस्त्र युद्ध का सामना कर प्राणत्याग भी करूँगा। इन लोगों में मेरे समवयस्क और मित्र श्री तात्याराव अर्थात् वामन श्रीधर बर्वे और बलवंतराव बर्वे—इन दोनों ने ही उल्लेखनीय अगुवाई की थी।

कोठूर में यह सब कुछ होते-करते मुझे बाबा की चिंता सता रही थी, क्योंकि वे नासिक के प्लेगग्रस्त वातावरण में रह रहे थे। ऐसे में ही एक दिन समाचार आया कि कोठूर की सीमा पर एक मंदिर में आकर बाबा ठहरे हुए हैं और उनकी जाँघों में प्लेग की गाँठें उभर आई हैं। नासिक में उन्हें प्लेग ने पकड़ा। वायु प्रकोप हुआ—ज्वर शरीर में था ही। हमें चिंता सताएगी, इसलिए हमें बिना सूचना दिए वे स्वयं ही सारे कष्ट भुगतते रहे। कष्ट कुछ कम होने पर जहाँ उनके प्राण अटके थे—वहाँ अर्थात् मुझे और बाल को देखने वे कोठूर आ गए। उनमें असीम सहनशीलता और शरीर के प्रति अति असावधानी पहले से ही थी। स्टेशन से दो मील पैदल चलकर जाँघों में प्लेग की दोनों गाँठों का कष्ट सहते हुए वे गाँव तक आए। चूँकि गाँव में आने की मनाही थी, इसलिए वे बाहर धर्मशाला में ही पड़े रहे। मामा मिलने गए, परंतु 'जैसे आए हो वैसे ही लौट जाओ, कोई गाँव में आने नहीं देगा'—यह सुना आए। बाबा केवल हमें देखकर, एक भी कौर मुँह में डाले बिना वैसे ही नासिक लौट गए। मेरा हृदय उनको देखकर तिल-तिल टूटता, पर क्या करते—निरुपाय जो थे। परिस्थिति ही ऐसी निर्दय, दारुण थी। वहाँ किसे क्या कहें ? बछड़े से अलग

खींचकर ले जाई जाती गाय जैसे पीछे मुड़-मुड़ देखती है, वैसे बाबा मुड़-मुड़कर हम दोनों बच्चों को देखते हुए नासिक चले गए। हमारे प्रति प्रेम के कारण उन्होंने अनेक बार कितना कष्ट, कितना अपमान सहन किया। परंतु महीने भर में ही प्लेग कम हो गया और हम वापस नासिक चले गए।

राजा इंग्लैंड का या हिंदुस्थान का ?

नासिक में लौटते ही मैंने पाया कि मित्र मंडली में बहुत बेचैनी फैली हुई है। उस समय इंग्लैंड की रानी विक्टोरिया के दिवंगत हो जाने पर पूरे हिंदुस्थान में शोक-सभाओं की बड़ी धूम मची हुई थी। बड़े-बड़े राष्ट्रीय समाचारपत्रों में भी इस बहाने राजनिष्ठा व्यक्त करने की स्पर्धा-सी चल रही थी। समाचारपत्र लिखते— 'हिंदुस्थान पर अंग्रेजी राज चाहिए या नहीं, इसपर अभी कोई चर्चा नहीं है। अर्थात् राजा से हमारा कोई विरोध नहीं है। हम तो अंग्रेजों की तरह ही इंग्लैंड के राजा की राजनिष्ठ प्रजा हैं। हमारा संघर्ष उनके केवल उन बुरे अधिकारियों और बुरी शासन-पद्धति से है। वह बदलकर अच्छे अधिकारी आ जाएँ तो हम उनका स्वागत करेंगे, जैसे हमने लॉर्ड रिपन का स्वागत किया। उसकी गाड़ी को तो एक बार काशी के पंडितों ने भी खींचा।'

राजनीति की ऐसी अवनत अवस्था में महारानी विक्टोरिया के मरते ही देवी से भी बढ़कर उसकी स्तुति देश भर में होने लगी। नए राजा—एडवर्ड के चरणों में लोग मानसिक रूप से लोटने लगे। कुछ वर्षों पूर्व इसी रानी के हीरक महोत्सव में व्यवधान उत्पन्न करने के लिए चापेकर बंधुओं ने रैंड को मार डाला था। तब जिन-जिन व्यक्तियों और संस्थाओं पर सरकारी कोप की गाज गिरी थी, वे सभी व्यक्ति और संस्था—दिवंगत रानी और नए राजा की छद्म स्तुति कर और उनके प्रति अपनी राजनिष्ठा व्यक्त कर—अपने पर गिरी कोप की गाज को ठंडी करने के प्रयास में जुट गए थे। आश्चर्य की बात यह कि 'मित्र मेला' के प्रमुख लोगों में से श्री म्हसकर और श्री पागे ने भी 'मित्र मेला' पर लगी पुलिस की कुदृष्टि से छुटकारा पाने के लिए यही नीति अपनाने की योजना बनाई।

यद्यपि 'मित्र मेला' की स्थापना हुए अभी डेढ़ वर्ष ही हुआ था और इस संस्था में हम युवाओं की संख्या ही अधिक थी, हम उसे एक खुली संस्था दर्शाने का प्रयास कर रहे थे। फिर भी उसकी साप्ताहिक बैठक में हम देश की स्वतंत्रता के लिए कड़ी चर्चाएँ करते, उसके नाम पर चलाए जानेवाले गणेश उत्सव, शिवाजी उत्सव आदि उत्सवों में दिए जानेवाले भाषणों और गीतों में 'सुराज नहीं, स्वराज' की स्पष्ट घोषणा से और उस समय एकदम अपूर्व तथा साहसी प्रतीत होते तेजस्वी

प्रचार से नासिक के युवाओं की ही नहीं, प्रौढ़ और नेता माने जानेवाले अनेक लोगों की भी सहानुभूति हमें मिलने लग गई थी। उस गुप्त और प्रकट सहानुभूति से 'मित्र मेला' की ओर सरकारी अधिकारियों की तीखी नजर न उठे और वे उसे 'भयंकर' शीर्षक न दें तो आश्चर्य की ही बात होती।

वह अंग्रेजों का शासनकाल था। आधी रात के अँधेरे में सड़क पर पड़ी सूई भी उन्हें दिख जाती थी, इतनी तेज और चौकस दृष्टि थी उनकी। ऐसे शासन की आँखें हमपर हैं और जाँच भी चल रही है, यह सब म्हसकर जैसे नेताओं को ज्ञात था। म्हसकर को उसकी चिंता होने लगी। संस्था के हित में हमें प्रकट रूप से राजनिष्ठा का स्वाँग करते रहना चाहिए, ऐसा उनका विचार था, पर इस बार तो उन्होंने जिद ही पकड़ ली। संस्था में जितने भी म्हसकर; पागे आदि जैसे सरकारी नौकर थे, उन्होंने भी अपनी सहमति जताई। 'मित्र मेला' के दिनोदिन अधिक कड़े होते जा रहे क्रांतिकारी विचार और बढ़ते प्रसार को देखते हुए उन्हें लगने लगा था कि पहले से ही हम युवाओं पर कुछ नियंत्रण होना चाहिए। इन लोगों के विचारों को घुमा-फिराकर म्हसकर ने कुछ ऐसी योजना बनाई कि जिस तरह 'मित्र मेला' की ओर से गणेश उत्सव, शिवाजी-जयंती उत्सव और राजनीतिक आंदोलन की सभाएँ की जाती हैं, वैसे ही विक्टोरिया रानी की मृत्यु के इस अवसर पर जैसे सुरेंद्रनाथ, तिलक आदि राष्ट्रीय नेताओं ने भी राजनिष्ठा प्रकट करने के ज्वार में पड़कर आगे-पीछे कुछ नहीं देखा, वैसे ही 'मित्र मेला' की ओर से एक शोक-सभा आयोजित हो और उसमें राजा एडवर्ड के प्रति एकनिष्ठा का प्रस्ताव भी पारित कर दिया जाए, जिससे यह कहा जा सके कि राजनीतिक आंदोलनों में यद्यपि हम चाहे जैसी कड़ी भाषा का प्रयोग करते हों, परंतु राजा से हमारा कोई विरोध नहीं है। यदि विरोध है तो राज्य-प्रशासन सुधारने के लिए है। अंग्रेजी राज नहीं चाहिए, ऐसा हमारा विचार नहीं है। यह स्पष्ट हो जाने पर सरकारी रोष से काफी देर तक बचे रहेंगे। संस्था भी बहुत दिनों तक बनी रहेगी और उपयुक्त काम कर पाएगी।

मेरे तर्क श्री म्हसकर के इन तर्कों के बिलकुल विपरीत थे। इसलिए म्हसकर ने मेरा विरोध होते हुए भी उपरोक्त प्रस्ताव 'मित्र मेला' की बैठक में रखा। मैंने भी कसकर उसका विरोध करते हुए कहा कि राजनिष्ठा का स्वाँग रचने के लिए ही इस सभा के आयोजन की बात म्हसकर कह रहे हैं, उनके भी मन में वही है जो हमारे मन में है कि अंग्रेजों का राजा हमारा राजा नहीं, उनके विचार बदले नहीं हैं, यह खुशी की बात है। अब प्रश्न यही है कि एक राजनीतिक पैंतरे के रूप में यह सभा आयोजित करें या न करें। समय आने पर राजनीति के दाँव भी चलाने ही पड़ते हैं। अधिक क्या कहें, गुप्त संस्था स्वयं एक राजनीतिक दाँव है। शिवाजी ने समय आने

पर औरंगजेब को स्वयं के शरणागत होने की चिट्ठियाँ लिखीं। कंस को मारने जा रहा हूँ, खुले रूप में यह कहकर कृष्ण भी मथुरा नहीं गए थे। वैसे ही समय आने पर हम भी राजनिष्ठा का स्वाँग करेंगे, परंतु वह समय आज आ गया है क्या? प्रश्न यह है।

जब हम शत्रु को धोखे में रखने के लिए कोई मायावी रूप लेते हैं, तब हमेशा यह देखना जरूरी है कि शत्रु सचमुच उस धोखे के जाल में फँसता है या हम ही फँस जाते हैं। कुल मिलाकर उस पैंतरे से शत्रु की ही हानि अधिक होने की संभावना हो तो राजनिष्ठा का मौखिक स्वाँग, आक्रमण के पूर्व अफजल खाँ के सामने भय की कँपकँपी दिखाना समर्थनीय है। परंतु आज हमपर वैसा कोई भी दबाव नहीं है। हम विक्टोरिया के प्रति शोक प्रकट करने की अंग्रेजी विधि या राजनिष्ठा से नहीं बँधे हैं। फिर टाले जा सकनेवाले राष्ट्रीय पल को हम बलात् लाएँ ही क्यों? जब तक भारत पर अंग्रेजों का बलात्कारी राज है, तब तक उसे एक प्रचंड सशस्त्र डकैती से अधिक नैतिक निष्ठा का रत्ती भर भी समर्थन नहीं किया जा सकता। इस शासन का हिस्सेदार हर अंग्रेज चोर है और इसीलिए दंडनीय भी है।

वह राजा होगा इंग्लैंड का, हमारा नहीं। वे चाहें तो रोएँ। विक्टोरिया एक व्यक्ति के रूप में अच्छी थी, इसीलिए शोक-प्रस्ताव पारित करें, ऐसा म्हसकर कहते हैं, पर वह जिस दिन मरी, उसी दिन अनेक अन्य अच्छी महिलाएँ भी मरी होंगी। उनका उल्लेख क्यों नहीं होता? यह पूरा ढोंग है। वह रानी थी, इसीलिए आप सभा आयोजित करेंगे, पर वह तो हमारी रानी थी ही नहीं। उसके कार्यकाल में अंग्रेजों ने हिंदुस्थान के एक के बाद दूसरे प्रदेश खाए, उसने खाने दिए और वह बकवास—चिंदी, सन् १८५७ का जाहिरनामा, जिसे दूधपीती राजनीति 'सनद' कहती है—प्रकाशित कर वह लूट की स्वामिनी बनी रही। एक धेला भी उसने नहीं लौटाया। कोहिनूर-जड़ा राजमुकुट ले गई और उसकी कीमत दी—वह जाहिरनामा चिंदी। यदि साध्वी थी तो सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध में मरे असंख्य भारतीयों के रक्त से सना मुकुट उसने सिर पर रखा ही क्यों? क्या अंग्रेजों की किसी एक भी राक्षसी नीति का विरोध उसने किया? अंग्रेजी दुष्टता का दायित्व उसपर नहीं है, ऐसा कहोगे? वह शतरंज की रानी थी। फिर वह शोक-प्रस्ताव की अधिकारिणी कैसे है? वह भी शतरंज के मोहरों का खेल था तो उनके घातक दाँव-पेंचों में उस जाहिरनामा के समय, मायावी रूप दिखाने के अतिरिक्त क्या कोई दूसरी गति ही नहीं थी? अस्तु!

राजा हो अथवा रानी, वह अंग्रेजों की रानी है अर्थात् हमारे शत्रु की रानी। हमारे राष्ट्र को लूटते डकैतों की सरदार, मुखिया! कोई कहे कि उसके लिए हम राजनिष्ठा प्रकट करें, वह भी बिना किसी दबाव के? राष्ट्रहित के लिए विवश होकर

वह युक्ति काम में लेने का कोई कारण न होते हुए भी क्या यही बेला 'मित्र मेला' का विशिष्ट कर्तव्य कर दिखाने की है ? जब सारा देश रानी के निर्लज्ज स्तुतिपाठ के प्रवाह में बह रहा है, हम घर-घर जाकर कहें कि कैसी रानी ? कैसी राजनिष्ठा ? यह राजनिष्ठा नहीं, यह तो गुलामी की गीता है।

हमारा देश ही हमारा राजा है। किसी दूसरे राजा को हम नहीं जानते। ऐसा तेजस्वी सत्य कहनेवाली कोई एक संस्था तो इस समय है—यह सिद्ध करने का स्वर्णिम अवसर हमारे सामने है। हमें स्वयं ही डरकर इस अवसर का लाभ उठाने से नहीं चूकना चाहिए। इसी कारण यदि यह संस्था बंद हो जाती है, तो इसका जीवन सफल ही मानना पड़ेगा। बहुत सँभल-सँभलकर लिखनेवाले देशभक्तों को भी अंग्रेजी सत्ता जब चाहे, तब जेल भेज देती है। फिर हम सच क्यों न बोलें? स्वतंत्रता का तेजस्वी ध्येय, उसका दिव्य ध्वज, अम्लान, अनवनत, खुले रूप में फहराएँ। क्षण भर के लिए भी यदि हम उसे फहरा सकें और दूसरे ही क्षण शत्रु की गोली लगने से दिवंगत हो चिता पर गिर जाएँ, तब भी चिंता नहीं, क्योंकि इस तरह मरनेवालों की चिता से ज्वाला भड़कती है; और ऐसी ही किसी भड़की ज्वाला से बने दावानल में विदेशी सत्ता का राजभवन जलकर राख हो जाता है। ऐसे प्रयास पर फाँसी दी जाती है—ऐसा कहनेवाले कहा करें। वह हमें भी ज्ञात है। चापेकर की फाँसी से हमारा जन्म हुआ, हमारी फाँसी किसी और को जन्म देगी और यह वंश बना रहेगा। बहुत दिन जीकर पकी उमर में देशहित प्राप्त करने का काम लाखों बुड्ढे-बुढ़ियाँ कर ही रहे हैं। अब तो हमें यही दिखाना है कि अकाल मृत्यु का आलिंगन करनेवालों की मृत्यु कैसी मारक होती है। फाँसी पर चढ़कर मरना यदि अकाल मृत्यु है, तो प्लेग, महामारी और अकाल से मरना क्या है? प्राण या स्वतंत्रता? यह प्रश्न हमने पहले ही स्वयं से पूछा है। प्राण जाएँ तो जाएँ, पर स्वतंत्रता मिले, ऐसी शपथ लेकर ही तो हमने यहाँ पैर रखा है। हमारे राष्ट्र के नेता कहते हैं कि राजा से हमारा झगड़ा नहीं है। शासन-पद्धति और अधिकारी अवश्य अच्छे होने चाहिए। उनके ऐसे कथनों से लाखों लोग भ्रम में रहते हैं। इसलिए हम स्पष्ट घोषणा करें कि नहीं, हमारा झगड़ा राजा से ही है। यदि तुम देवदूतों को भी अधिकारी बनाकर भेजोगे और प्रतिदिन निर्मूल्य दूध-जलेबी खिलाओगे, तब भी हम यह युद्ध बंद नहीं करेंगे, क्योंकि हमें तुम्हारा शासन ही नहीं चाहिए, हमें तुम्हारा राजा होना ही स्वीकार्य नहीं है। हमें स्वयं ही अपना राजा बनना है। हमारा देश ही हमारा राजा है। बाकी सारे चोर हैं। अंत में एक मजेदार बात कहना आवश्यक है—वह यह कि सन् १८५७ की जिस घोषणा (Magna Charta) को 'स्वराज का ताम्रपट' कहकर उस समय के सभी राजनीतिक दल उसकी स्तुति करते थे, उसे ही

वायसराय लॉर्ड कर्जन 'असंभव सनद' कहकर झटकनेवाले थे और सबकी आँखें खुली-की-खुली रह जानेवाली थीं, परंतु कर्जन के कहने के पूर्व ही उस समय के 'मित्र मेला' की चर्चा में हमने उसे 'रद्दी चिट' कहकर फेंक दिया था।

उपर्युक्त आशय का और अधिकतर इन्हीं शब्दों तथा इसी क्रम से मेरा भाषण समाप्त होते ही लोगों में जोश आ गया। स्वयं म्हसकर भी उस जोश में सम्मिलित थे, क्योंकि उन्होंने बाद में कोई उत्तर नहीं दिया। राजनिष्ठा प्रकट करने के लिए 'मित्र मेला' कोई सभा आदि आयोजित न करे और हम अपने स्वीकृत व्रत के अनुसार यथासंभव सभा और प्रस्तावों के पारित होने में बाधा उत्पन्न करें, यह निश्चित हुआ। म्हसकर महोदय इससे मन-ही-मन प्रसन्न ही हुए थे।

यहाँ मैंने अपना भाषण जान-बूझकर थोड़ा विस्तार से दिया है, क्योंकि उस समय के हमारे विचार, भावना और भाषा कैसी थी—इसकी कुछ स्पष्ट झलक इस ग्रंथ के इस प्रकरण में एकाध जगह देनी जरूरी थी। इसी तरह के भाषण 'मित्र मेला' में बहुत बार होते थे। 'मित्र मेला' के विचार ऐसे ही थे। खुले उत्सव, सभा आदि के समय होनेवाले भाषणों में अंग्रेजों का नाम लेकर हम नहीं बोलते थे। तब हम राम ने रावण को, कृष्ण ने कंस को या शिवाजी ने अफ़ज़ल खान को या मैजिनी ने ऑस्ट्रिया को, इस तरह घुमाकर बात करते थे। परंतु गर्भितार्थ वही रहता था और म्हसकर प्रभृति भी सब ऐसा ही बोलते थे।

रानी के लिए शोक-सभा करने की योजना फलित न होने के बाद से म्हसकर इस चिंता में रहने लगे कि इन तरुणों को कैसे थोड़ा-बहुत नियंत्रित किया जाए। उनकी यह चिंता हमारे हित में और निष्कपट थी। अंत में 'मित्र मेला' की स्थापना के समय की बात उन्होंने उकेरी और मुझसे कहा कि अब मेरी कम-से-कम एक बात तो तुम सबको सुननी चाहिए। प्रारंभ में हमने यह स्वीकार किया था कि 'काल' समाचारपत्र के संस्थापक श्री परांजपे को यदि किसी बैठक का प्रस्ताव मान्य नहीं हुआ तो भले ही वह बहुमत का निर्णय हो, उसपर कार्यवाही नहीं होगी। श्री परांजपे की आड़ में हमारा कोई भी पुरोगामी विचार दबाने में म्हसकर समर्थ हो जाएँगे, यह बात म्हसकर की उपर्युक्त सूचना से मुझे ज्ञात हो गई। इसलिए मैंने उनसे कहा कि श्री परांजपे को एक दिन यहाँ प्रत्यक्ष लाया जाए और इस संस्था, इसके गुप्त उद्देश्य, इसके प्रकट आंदोलन—सारा कुछ उनके सामने रखा जाए। फिर वे क्या कहते हैं, यह देखेंगे और क्या-कुछ निर्णय लेना है, वह लेंगे, क्योंकि वे स्वयं इस तरह का दायित्वपूर्ण भार अपने ऊपर लेने के लिए तैयार होंगे या नहीं, यही सबसे पहली आशंका है। दूसरी बात यह भी है कि चाहे कुछ भी हो जाए, पर क्रांति के मुख्य विचार के विरुद्ध और अपनी शपथ में लिये गए संकल्प के विरुद्ध या

इससे विसंगत दूसरा कोई भी विचार हम स्वीकार नहीं कर सकते। उसे स्वीकार करते हुए छोटा-मोटा इधर-उधर कुछ परिवर्तन किया जा सकता है।

म्हसकर ने इस विषय पर बैठक में भी चर्चा की, पर इसके लिए कोई तैयार नहीं हुआ। हाँ, मुख्य विचार को सँभालते हुए अन्य प्रकरण में श्री परांजपे को मुख्य मार्ग प्रदर्शक बनाने के लिए सब तैयार थे, क्योंकि उनका पत्र 'काल' हम सबको, कम-से-कम मुझे, क्रांति के विचारों को निरंतर प्रस्तुत करनेवाला एक निर्झर लगता था और इसीलिए श्री परांजपे के प्रति मेरे मन में श्री म्हसकर से भी अधिक श्रद्धा थी। परंतु जब तक उनसे प्रत्यक्ष मिलते नहीं और 'मित्र मेला' जैसे क्रांतिकारी गुप्त संगठन के प्रयोग के संबंध में उनके विचारों को नहीं सुनते, तब तक उनके नाम का दुरुपयोग होने से रोकना हमारा कर्तव्य है, ऐसा हमारा विचार था। परंतु जब तक म्हसकर हमारे बीच रहे, तब तक श्री परांजपे को नासिक में प्रत्यक्ष लाने का उनका प्रयास सफल नहीं हुआ। इसलिए वह विचार भी स्थगित ही रहा।

किशोर वय का ज्ञानार्जन

सन् १९०१ में मैं अंग्रेजी छठवीं उत्तीर्ण कर सातवीं अर्थात् मैट्रिक की कक्षा में आ गया था। मैंने इस वर्ष विशेषकर इतिहास पढ़ा। बड़ौदा से प्रकाशित 'राष्ट्रकथा माला' पढ़ी, जो अंग्रेजी के Stories of Nations पर आधारित प्रकाशन था। प्राचीन राष्ट्र अकेडिया से प्रारंभ कर असीरिया, बेबीलोन, स्पेनिश मूर, तुर्की साम्राज्य आदि के इतिहास भी मैंने पढ़े। मैं जो भी पुस्तक पढ़ता, उसका सारांश और आवश्यक उद्धरण एक पुस्तक में उतार लेता था। इस कारण मेरा वाचन धूल पर बनी लकीरें नहीं रहता था और पूरी तरह पच जाता था। फिर आवश्यकता पड़ने पर उन टिप्पणी को देखते ही सारा विषय आँखों के सामने आ जाता और फिर मैं जब चाहता, उस विषय पर निबंध या व्याख्यान देना संभव हो जाता। वाचन कर टिप्पणी रखने की यह पद्धति भगूर में रहते अपने-आप ही विकसित हो गई थी। उस सारांश पुस्तक का जो नाम मैंने अपनी आयु के बारहवें वर्ष में रखा था, वह कभी भी अपूर्ण नहीं रहा। उसका नाम मैंने 'सर्वसार संग्रह' रखा था जो सर्वथा उचित था। मेरे बी.ए. उत्तीर्ण होने तक उसमें न जाने कितनी जानकारियाँ सहज ही ग्रथित होती गई, नानाविध ग्रंथों के ज्ञान का मंथन कर निकला नवनीत उसमें जमा होता गया, इतने अवतरण, भाषा-पद्धति, संख्या, नाम उसमें लिखे गए कि वह ग्रंथ दुर्लभ और दर्शनीय ही हो गया। इस 'सर्वसार संग्रह' के तब तक चार-पाँच खंड हो गए थे। यदि उन्हें प्रकाशित किया जाता तो वह एक उपयोगी संदर्भ-ग्रंथ हो जाता। परंतु क्रांतिकारी न्यायप्रविष्ट प्रकरणों की आँधी में जो दिखे, उसको जला देने के धूम-

धड़ाके में ये ग्रंथ भी राख हो गए। यह विवशता थी।

पुस्तकीय ज्ञान को सुव्यवस्थित और सुसंगत विधि से स्थायी रखने में उस 'सर्वसार संग्रह' में विषय को संक्षिप्त करके उतार लेने की आदत का जैसा उत्तम उपयोग मैंने किया, वैसे ही वह हमारी 'मित्र मेला' संस्था की साप्ताहिक बैठकों के लिए भी बहुत उपयोगी रहा। पढ़कर जो समझा, जब उसे दूसरों को कहने जाते, तो कई गुना अधिक समझ में आ जाता। इसके साथ ही प्रभावी ढंग से उसे कैसे व्यक्त किया जाए, कैसे उसे श्रोता के मन में उतारा जाए, वह कला भी सीखने को मिलती। मैंने उस वर्ष प्राचीन ईरानी साम्राज्य, स्पेनिश मूर, नीदरलैंड के विद्रोह का इतिहास, मैजिनी, गैरीबाल्डी आदि विषयों पर 'मित्र मेले' में जो व्याख्यान दिए, वे श्रोताओं और मेरी स्मृति में चिरस्थायी हो गए।

उसी वर्ष मैं एक माह तक ज्वर से पीड़ित पड़ा रहा था। ज्वर ठीक हो जाने के बाद के विश्राम-काल में मैंने मराठी कवि मोरो पंत का विवेचनपूर्वक अध्ययन विस्तार से किया। मोरो पंत बचपन से ही मेरे प्रिय कवि रहे थे। नासिक के नगर वाचनालय में मोरो पंत रचित सारी पुस्तकें मैंने पढ़ ली थी। 'काव्य का इतिहास' और 'काव्य-संग्रह' मैं नियमित पढ़ता था। 'अलंकार शास्त्र और मोरो पंत' विषय पर मैंने व्याख्यान भी दिए। ऐसे मधुर विषयों पर व्याख्यान देने में मुझे विशेष आनंद आता था। इस तरह पढ़ा हुआ ज्ञान 'मित्र मेला' के साथियों में प्रति सप्ताह बाँटते हुए बढ़ाने का जो सुयोग मुझे मिला, उसका परिणाम मेरे ज्ञानार्जन और सामर्थ्य पर बड़ा अनुकूल हुआ। 'मित्र मेला' के मेरे साथियों के ज्ञान का विकास भी कुल मिलाकर मेरी ज्ञान-वृद्धि पर अवलंबित था। मुझे इसकी पूर्ण कल्पना थी। इसलिए उस संस्था के विकास के लिए मुझे क्या नया पढ़ना है और कहना है, मैं इसकी खोज में रहता था।

मेरी एक और आदत भी मेरे ज्ञानार्जन में बहुत उपयोगी रही। युवकों के लिए वह अनुकरणीय भी है। प्रतिवर्ष मेरे द्वारा पढ़े जानेवाले ग्रंथों की एक सूची मैं अपनी दैनिकी में बनाता रहता था और हर नए वर्ष में गत वर्ष पढ़े सभी ग्रंथों की संख्या में मन-ही-मन एक प्रतियोगिता रचता था। नासिक के नगर वाचनालय की सारी मराठी पुस्तकें मैंने अथ से इति तक पढ़ी थीं। जो समझ में नहीं आतीं, उन्हें दोबारा पढ़ता। जो भाग समझ में आ जाता, उसे आत्मसात् कर लेता था। ज्ञेय और अज्ञेय मीमांसा का एक मजेदार प्रसंग मुझे इस संदर्भ में याद आ रहा है। स्पेंसर के ग्रंथों से उस वर्ष मेरा प्रथम परिचय मराठी के अनुवाद द्वारा हुआ। 'दाभोलकर ग्रंथ माला' की पुस्तकें मैं पढ़ा करता था, उसमें ये ग्रंथ थे। वे मैंने दो बार पढ़े। कोई विषय समझ में नहीं आता, यह बात मानने के लिए मैं सहज तैयार नहीं होता था।

जब बिलकुल ही पल्ले न पड़े, तब मैं मान लेता। परंतु वह मन को कचोटता रहता। ये दोनों पुस्तकें कुछ भी समझ में न आईं, इसलिए वे वैसे ही रह गईं। जब मैं विलायत पढ़ने गया, तब उन लोगों से इस विषय पर चर्चा की, जिन्होंने अंग्रेजी-माध्यम से स्पेंसर को पढ़ा था। मैंने पाया कि मुझे तो इस विषय का मेरी आयु की तुलना में आश्चर्यकारक ज्ञान है। वह ज्ञान मुझे मराठी पुस्तकें पढ़ने से ही प्राप्त हुआ था, यह मेरी समझ में आ गया। फिर वहाँ मैंने हर्बर्ट स्पेंसर के मौलिक ग्रंथ पढ़े। तब भी यह ध्यान में आया कि मराठी का प्रथम वाचन व्यर्थ नहीं गया था।

इस वाचन से उपयोगितावाद या हितवाद का प्रथम परिचय भी हुआ। तब से मैं उस हितवाद का अभिमानी हो गया। कॉलेज के अध्ययन-क्रम में 'बेंथम' और 'मिल' को थोड़ा-बहुत पढ़ा। तब से मैं इस नीति तत्त्व को अपने सारे व्यवहार की कसौटी, अपना नीतिसूत्र, अपना व्यवहार-धर्म मानने लगा। इस उपयोगितावाद का निरंतर प्रचार मैं अपने लोगों में करने लगा। गुप्त संस्था में 'भारत और इंग्लैंड' विषय पर मैंने कई व्याख्यान भी दिए। इस नीतिशास्त्र की नींव पर और इसी सूत्र के आधार पर क्रांतिकारी आंदोलन को हमें खड़ा करना होगा। उसका समर्थन भी इसी नीति पर करना चाहिए। यह हमारी मनुस्मृति है, मैं ऐसा कहता था और ऐसा ही मानता भी था। महाभारत में कृष्ण ने अनेक अवसरों पर जो भाषण दिए हैं, जो उपदेश दिए हैं या जो व्यवहार किए हैं, उन सबसे मैं यह सिद्ध करता था कि उपयोगितावाद के प्रथम प्रणेता श्रीकृष्ण ही थे। वही उस वाद के प्रथम आचार्य थे; आचार्य इसलिए कि उन्होंने उसे अपने आचरण से सिद्ध किया था। उन्होंने अपने सारे आचार का समर्थन इसी तत्त्व के आधार पर किया था। वह आज भी किया जा सकता है। 'धारणात् धर्ममित्याहु धर्मो धारयते प्रजा' ('गुंडों, चोरों ने जिसे पकड़ा हो, उसे मुक्त कराने में यत्किंचित् भी विचार न करो') और 'शतमृणा युक्ति', 'युक्तिहीने विचारेतु धर्महानि: प्रजायते', 'यद्भूतहितमत्यंतमेतत्सत्य मतं मम्' आदि संस्कृत तथा प्राकृत के वाक्य हम लोगों के नित्य पाठ में थे। किंबहुना, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि सनातन, सार्वभौम माने जानेवाले शब्दों, तत्त्वों के वास्तविक अर्थ क्या हैं, इनका दृष्टांत देकर स्पष्ट करने के लिए ही महाभारत में अनेक प्रसंगों की रचना की गई है। उपर्युक्त तत्त्वों पर वास्तविक आचरण करते समय कितना मोड़ने पर वे धर्म संज्ञा के पात्र होते हैं और न मोड़ने पर कैसे अधर्म हो जाते हैं, यह महाभारत के प्रसंग स्पष्ट करते हैं। 'महाभारत' इसीलिए व्यवहार्य और व्यवहृत नीतिशास्त्र की सोपपत्तिक एवं उदाहरणपूर्व कुंजी है, ऐसी मेरी धारणा दिनोदिन बनती गई।

अपने ज्ञानार्जन, अध्यवसाय, कार्य, कर्तव्य आदि की अनुशासन-व्यवस्था

ठीक-ठाक चलाने में नित्य दैनिकी (डायरी) लिखने का मेरा क्रम बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। मैं दैनिकी तो नियमित लिखता ही, हर मास समय-सारणी भी बनाता। जब मैं भगूर में था, तब से ही ये सब अनुशासन लग गया। मेरी दैनिकी में अपने परिचित व्यक्तियों के स्वभाव-चित्र, घटनाओं का सरस वर्णन, मेरी बाल भावनाएँ, विचारों का बनना-बिगड़ना आदि आकर्षक भाषा में लिखा रहता। इन सब कारणों से वे दैनिकियाँ बहुत पठनीय हो गई थीं। बारहवें वर्ष से लेकर बी.ए. उत्तीर्ण होने तक की डायरियाँ एक स्थान पर क्रम से रखी रहती थीं। इंग्लैंड में भी कुछ दिनों तक मैंने डायरी लिखी। परंतु यह क्रम क्रांति-मार्ग पर चल रहे हम लोगों के लिए उपयुक्त नहीं है, यह भी जान गया। फिर भी बहुत दिनों तक मैंने उन्हें छिपाकर सीने से लगाए रखा। परंतु जब पुलिस के हाथों उनके पड़ जाने और फिर अनेक लोगों पर राजनीतिक संकट आ जाने का डर बढ़ गया, तब मेरे मित्रों ने हिंदुस्थान में और मैंने इंग्लैंड में उन्हें जला दिया। इस कारण मेरे व्यक्तित्व की ही नहीं, वरन् 'अभिनव भारत' संस्था के राष्ट्रीय आंदोलन के विवरण की भी बड़ी हानि हुई। परंतु उस समय उनको जलाया न जाता तो गुप्त संस्था की कई महत्त्वपूर्ण हलचलों और हजारों लोगों का उससे जो जुड़ाव था, वे सारी जानकारियाँ पुलिस के हाथों पड़ जातीं और देश भर में हजारों व्यक्तियों, परिवारों पर जो विपत्ति आती, वह उससे भी भारी हानि होती। इसलिए उस समय मेरा लिखा जो जहाँ मिला, वह हमने जला दिया और यही ठीक भी था।

ग्रंथ का अध्ययन करने के बाद उसका सारांश या उसके उद्धरण, मैं जिसमें लिखता, उस सर्वसार संग्रह, मेरी डायरी, मेरी समय-सारणी, वर्ष भर में पढ़ी पुस्तकों की सूची आदि की मेरी आदतों से मेरे बौद्धिक, मानसिक और व्यावहारिक कर्तृत्व का प्रभाव बढ़ाने के साथ ही उसमें व्यवस्था, निरंतरता और सुसंगतता लाने में भी बड़ा सहयोग मिला। इसीलिए मेरी देखा-देखी मेरे कई इष्ट मित्रों ने भी वे आदतें अपनाईं। हमारी संस्था के सदस्यों का भी ज्ञान बढ़े और हर एक को राज्यक्रांति के जिस महान् कार्य के लिए अपने को समर्पित करना था, उस कार्य के लिए आवश्यक बौद्धिक सिद्धता और योग्यता भी, कुछ मात्रा में ही सही, सदस्यों में आए—इसलिए बीस-पचीस पुस्तकों की एक सूची हमने बनाई। उसमें विश्व में हुई राज्यक्रांति की पुस्तकें, नेपोलियन आदि विश्व-वीरों के चरित्र, भारतीय इतिहास, व्यायाम, विवेकानंद एवं रामतीर्थ के एक-दो वेदांत संबंधी ग्रंथ भी थे। इतनी पुस्तकें तो हर एक को पढ़नी ही पड़ती थीं। इनके अतिरिक्त भी जिसे अधिक पढ़ना हो, उसके लिए हमने एक निःशुल्क ग्रंथालय भी विष्णु मंदिर में खोला था। 'काल' दैनिक पत्र हर कोई पढ़ता या सुनता था। उसमें जो दो स्तंभ थे—'तरुण इटली' और

'खेती-किसानी'—उनमें यूरोप की गुप्त संस्थाओं की जानकारी रहती थी जिसे संस्था के सदस्य हमेशा पढ़ते-गुनते, कहते-सुनते।

भगूर में शाखा

इसी बीच कभी एक बार मैं भगूर गया था। नासिक में 'मित्र मेला' की स्थापना के बाद भगूर के मेरे बचपन के साथी जब कभी मुझे नासिक में मिलने आते, तब मैं उन्हें 'मित्र मेला' की जानकारी देता ही था। नासिक में मैं आया और वहाँ आकर मैंने एक गुप्त संगठन और उसकी एक प्रकट शाखा स्थापित तो की, पर वास्तव में उसके पूर्व से ही अर्थात् बचपन से ही भारतीय स्वतंत्रता के संपादन की मेरी तीव्र आकांक्षा थी और वह सशस्त्र युद्ध के बिना कभी भी संभव नहीं है, यह विश्वास भी था।

वह शस्त्रयुद्ध लड़ने की अपनी-अपनी तैयारी हर भारतीय को करनी चाहिए, ऐसी चर्चाएँ भी मेरे बालसखाओं को पूर्वविदित थीं। फिर भी वहाँ उनकी कोई संगठित संस्था नहीं थी। 'मित्र मेला' के आदर्श पर मैंने वहाँ शाखा स्थापित की। वे भी प्रति सप्ताह बैठक करते और इसका अध्ययन करते कि अन्य राष्ट्रों ने स्वतंत्रता कैसे प्राप्त की। आसपास के गाँवों में देश-विषयक सारे आंदोलन वे चलाते। अंग्रेजी सत्ता-परसत्ता के विरुद्ध तीव्र घृणा और स्वतंत्रता की उत्कट लालसा किसानों में वे उत्पन्न करते। वे लोग उन्हें शपथ दिलवाकर संस्था की शाखाओं का विस्तार करते। यदि अंतिम रूप से विद्रोह करने की स्थिति आई तो वह कैसे किया जाएगा? साधन क्या हैं? अंग्रेजों का वास्तविक शासन भारतीय कैसे चलाते हैं? वे सिपाही, पुलिस, किसान अपने-अपने स्थानों पर यदि विद्रोह कर बैठे, तो सन् १८५७ के समर की तरह अंग्रेजों को थानों में कैसे बंद किया जा सकेगा? ऐसे असंतोष और समय-समय पर होनेवाले अंग्रेज अधिकारियों के कत्ल से न घबराते हुए एक के बाद दूसरा अधिकार प्राप्त करते हुए अंत में उन्हें किसी यूरोपीय महायुद्ध की कैंची से पकड़कर और तभी भारत में भी विद्रोह करके तुमुल युद्ध में उन्हें शरण में आने के लिए किस तरह बाध्य किया जा सकता है आदि कार्यक्रम सारी जनता को मौखिक बताना और अंत में कुछ हो या न हो, कम-से-कम एक शत्रु को मार डालने की अंतिम बात करने की सिद्धता रखना आदि हमारे निश्चित कार्यक्रम पर व्याख्यान देकर उसी तरह चलते रहने की प्रेरणा मैंने अपने बालसखाओं को दी।

तब से भगूर की यह शाखा भी नासिक की तरह ही नियमित सार्वजनिक कार्यक्रम संपन्न करती रही। ग्रामीणों तथा किसानों को स्वतंत्रता के लिए शपथ दिलवाना, शिवाजी उत्सव, गणेश उत्सव, स्वदेशी आदि के खुले कार्यक्रम गाँवों में

आयोजित करना और कुल मिलाकर अंग्रेजी राज अर्थात् रामराज, राजा जो कहे वह सच आदि तब तक गाँव-खेड़े में प्रचलित दास्यप्रवण नीच विचारों को समाप्त कर उनमें विदेशी सत्ता के विरुद्ध तीव्र द्वेष फैलाकर, स्वराज के लिए, देश की स्वतंत्रता के लिए उत्कट लालसा और सहानुभूति जगाने के कार्य अपनी अल्प शक्ति के अनुसार अपनी अल्प कक्षा में वे करते रहे। अंग्रेज का अभिप्राय 'माई-बाप सरकार' जैसी पहले से चली आ रही भावना भुलाकर अंग्रेज अर्थात् 'चोर' ऐसी भावना किसानों, ग्रामीणों में उत्पन्न करने का कार्य ग्रामीण लघु गुप्त संस्थाएँ अच्छी तरह कर लेती थीं, क्योंकि ऐसा स्पष्ट सच कहना उस समय किसी नेता या समाचारपत्र के लिए भी संभव नहीं था। इतना स्पष्ट कहने की मानसिक तैयारी भी अधिकतर नेताओं की नहीं होती थी। उनमें से बड़े-बड़े लोग भी अंग्रेजी राज उखाड़कर फेंक देने की इच्छा को बचपना और उसकी पूर्ति को असंभव कहते थे।

पहला बड़ा गणपति उत्सव और मेला

सन् १९०१ में 'मित्र मेला' ने दूसरा गणपति उत्सव बहुत बड़े स्तर पर आयोजित किया। मेरे सहयोगी त्र्यंबक, वामन, शंकर आदि युवकों ने इसके लिए काफी श्रम किया। उनकी भी कर्तृत्वशक्ति और वक्तृत्वशक्ति प्रसिद्धि की ओर बढ़ रही थी। गोविंद कवि ने स्वतंत्र गीत लिखे और 'मित्र मेला' का एक गीतवृंद भी तैयार किया। उस गीतवृंद का तेजस्वी प्रभाव लोगों पर हमेशा रहा। उसका नाम पुणे तक पहुँचा। उस गीतवृंद द्वारा प्रस्तुत किए जानेवाले कार्यक्रम में राम-रावण-संवाद भी था। ये संवाद गोविंद कवि ने लिखे थे। उसे सुनकर श्रोताओं की भुजाएँ फड़कने लगतीं। रावण द्वारा भारत की मूर्तिमंत लक्ष्मी का किया गया अपहरण और राम द्वारा उसके दस सिर काटकर लिये गए प्रतिशोध का वर्णन गोविंद कवि ने ऐसी भाषा में किया था कि पकड़ा तो न जा सके, पर तुरंत यह समझ में आ जाए कि सीता लक्ष्मी का अर्थ स्वातंत्र्य-लक्ष्मी है। कौन राम है, कौन रावण है, सशस्त्र युद्ध में शिरच्छेद हुए बिना कौन है जो ध्यान में न आएगा, यह मन-ही-मन जान दर्शकों के मन संतप्त हो जाएँ। 'हे घनश्याम श्रीराम' मुखड़े का गीत इसी समय कवि गोविंद ने लिखा था—भारतीय स्वतंत्रता के लिए उत्कट करुणा से पूर्ण यह गीत निवेदनपरक था। 'मित्र मेला' में प्रति सप्ताह जो विषय और विचार मैं प्रस्तुत करता था, वही विषय और विचार बड़ी कुशलता से गोविंद कवि अपने सुंदर और तेजस्वी गीतों से प्रकट करते थे। उनके गीतवृंद में उन्हें ऐसे बालक भी मिले थे जो उनके गीत के भावों को परिणामकारी अभिनय द्वारा व्यक्त करते थे। वे लड़के उन गीतों को केवल रटकर नहीं सुनाते थे—वे तो मानो उन गीतों से अपने मन की छटपटाहट व्यक्त करते थे।

इसलिए कवि के समान तेज, दुःख, उत्कटता, करुणा, क्रोध उनके गीत-गायन और अभिनय-आवेश से प्रकट होता था।

उस समय वे तीन ही कुमार थे—मेरा छोटा भाई बाल, दत्तू केतकर और बापू जोशी। बाद में श्रीधर वर्तक भी आया। मेरा सिंहगढ़ का पोवाड़ा, बाजी देशपांडे का पोवाड़ा, कवि गोविंद रचित अफ़ज़ल खाँ वध का पोवाड़ा और अन्य गीत, संवाद लिये वह गीतवृंद महाराष्ट्र भर में प्रचार करता रहा। इन गीतों को वे लड़के ही शोभा देते थे। उन लड़कों को भी वे ही गीत शोभते थे। उन पाँच-छह वर्षों में महाराष्ट्र के अनेक नगरों के हजारों लोग 'अभिनव भारत' के इन तेजस्वी कुमारों के इस प्रभावी गीत-गायन पर मोहित थे। इन गीतों को सुनते ही हजारों लोगों के मन में देशभक्ति और राष्ट्र-स्वतंत्रता की ज्योति प्रज्वलित हो उठती थी। भुजाओं में आवेश भर जाता। उस गीतवृंद ने अपने गीतों से जो ओजस्वी देशवीरत्व का संदेश लोगों तक पहुँचाने का कार्य किया, वैसा अर्वाचीन महाराष्ट्र में पहले किसीने नहीं किया था। अन्य किसीको वैसा कहने का साहस नहीं हुआ था, होता ही नहीं था। इसीलिए उस गीतवृंद के संदेश का अभूतपूर्व श्रवण करते ही पूरे महाराष्ट्र में चेतना का संचार होता था। उसमें विशेष बात यह थी कि जिस देशवीरत्व का वाचिक संदेश वे लड़के देते थे, उस देशवीरत्व जैसा कृत्य करने का साहस भी उनमें से कुछ में था। वह यथासमय प्रकट भी हुआ। इसीलिए उनमें से अधिकतर गीत अंग्रेजों ने जब्त किए।

इस समय नासिक के प्रौढ़ और नेता वर्ग में भी 'मित्र मेला' के आंदोलनों का प्रभाव पड़ने लगा था। उसमें से काफी-कुछ इसके सदस्य भी हो गए थे। संस्था के उद्देश्य के अनुरूप अधिकांश राजनीतिक आंदोलन उसके हाथ में आ गए थे। कोई भी सार्वजनिक सभा यदि 'मित्र मेला' के नेताओं के सहयोग से आयोजित होती तो अधिकतर सफल हो जाती। उद्देश्यों और प्रस्तावों को 'मित्र मेला' का सहयोग-सहमति संभव न होने से सार्वजनिक सभाओं में व्यक्त होनेवाली राजनीतिक भाषा पुणे की तुलना में अधिक कड़ी और तीखी होती थी।

जब इस तरह 'मित्र मेला' की व्याप्ति और प्रभाव बढ़ रहा था, तब उस उदीयमान संस्था पर एक अति दारुण चोट पड़ी। देशभक्त म्हसकर सन् १९०१ में प्लेग से अकस्मात् चल बसे। सालों-साल प्लेग-रोगियों के बीच रात-दिन काम करने से वे प्लेग के अभ्यस्त हो गए थे। म्हसकर अर्थात् एक प्लेग-कवच। उन्हें सब 'प्लेगरोधी' कहते थे। गाँव में प्लेग का जोर भी कम हो गया था, परंतु ऐसी स्थिति में अचानक उन्हें प्लेग ने पछाड़ा। हम सबने उन्हें बचाने के प्रयास किए। पिता के सिरहाने बैठे हों, वैसे नेत्र खोले-खोले हमने रातें गुजारीं। अंत में उन्हें उन्माद हो गया। पर उन्माद भी कैसा? राष्ट्रोन्माद! वायु के झटकों में वे अंग्रेजों से

लड़ाइयाँ करने लगते। स्वातंत्र्य लक्ष्मी की जय-जयकार करते हुए इधर-उधर भागते-दौड़ते। स्वदेश की स्वतंत्रता के लिए अंग्रेजों से आमने-सामने लड़ने-मरने की अपनी इच्छा कम-से-कम अपने दायरे में तो उन्होंने पूरी कर ली, क्योंकि हम जिसे उन्माद की स्थिति कहते थे, उनके लिए वह उन्माद न होकर वास्तविक स्थिति ही होगी। उन्होंने अपने मानस में तो अपनी शपथ का पूरा-पूरा पालन किया और देश की स्वतंत्रता के लिए लड़ते हुए अपने प्राणों को न्योछावर कर दिया। उस उन्माद में जूझते-जूझते थककर उन्होंने स्वतंत्रता की आस में अपनी देह त्यागी। अपने मन से तो वे स्वतंत्रता-संग्राम में वीरगति को प्राप्त हुए। 'अंते मतिः सा गतिः' ऐसा कहते हैं। कैसे कहें कि वे किसी स्वातंत्र्य वीर के रूप में नहीं जन्मे होंगे! हमारा यही एकमात्र समाधान था। स्वयं के कंधे पर ले जाकर हमने उन्हें जलती चिता के द्वार से इस लोक की सीमा के पार कर दिया।

व्यक्तिगत रूप से मुझसे अत्यंत प्रेम करनेवाले और अपने में असीम अभिमानी विशाल मन के एक आत्मीय से मैं और एक एकनिष्ठ भक्त से भारत वंचित हो गया। ढोल-ढमाके पीटने जैसा पराक्रम उन्होंने नहीं किया था, क्योंकि बड़ाई करने योग्य और मातृभूमि के चरणों पर चढ़ाने योग्य उस बेचारे के पास कुछ था ही नहीं। यदि सर्वस्व दान का अर्थ जो नहीं है, उसका दान न होकर जिसके पास जो है; उस सबका दान हो, तो उनके पास जो एक निष्ठा का तुलसी पत्र था, वह उन्होंने पूरे मन से, विशेष रूप से भारत माँ के चरणों पर अर्पित कर दिया था। राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिए बेचैन रहना उनके हाथ में था और वह भी कुछ कम नहीं था, क्योंकि दूसरा कुछ हल्ला-गुल्ला करने योग्य कार्य वह बेचैन भले ही न कर पाई हो, फिर भी एक ही प्रत्यक्ष कार्य जो उन्होंने किया, वह सौ नकली कार्यों से महान् था। इसीलिए महाराष्ट्र उस अज्ञात महान् देशभक्त की स्मृति को कृतज्ञता के एक-दो बूँद अश्रु से अभिषिक्त करे, क्योंकि 'अभिनव भारत' के हवनकुंड को सबसे पहले चेतानेवाले ऋत्विजों में से एक वह भी था।

म्हसकर की मृत्यु के पश्चात् श्री पागे ने भी संस्था से अपने-आपको अलग कर लिया और अपनी गुप्त संस्था के तीन प्रथम संस्थापकों में से मैं ही अकेला रह गया। 'मित्र मेला' की गुप्त संस्था 'राष्ट्रभक्त समूह' की शपथ लेकर ही सदस्य को मुख्य अंत:मंडल में लेने की हमारी अर्थात् मेरी, पागे व म्हसकर की योजना थी, वह पूर्व में मैंने कहा ही है। इस कारण कितने ही दिनों तक 'मित्र मेला' के नए सदस्य को संस्था के अंदर का सबकुछ नहीं बताया जाता था। इस कारण हमारे बाद आनेवाले सदस्यों की यह धारणा उनके अपने अनुभव के कारण बनी थी कि 'मित्र मेला' पहले-पहल केवल एक सार्वजनिक उत्सव आदि आयोजित करनेवाली

संस्था थी और बाद में अपने-आप ही एक क्रांतिकारी गुप्त संस्था में परिवर्तित हो गई। यह बिलकुल सही नहीं है। वस्तुस्थिति इसके बिलकुल विपरीत थी। 'राष्ट्रभक्त समूह' की स्थापना हमने पहले की और उसकी एक खुली शाखा 'मित्र मेला' बाद में स्थापित की। परंतु म्हसकर की मृत्यु होने तक परिपाटी यह रही कि 'मित्र मेला' के नए सदस्य भी गुप्त शपथ लेते थे। इस कारण वही गुप्त संस्था हो गई थी। फिर भी नए सदस्य और अंतरंग सदस्यों में भेद अवश्य था। उसमें भी अधिक सावधान रहने की दृष्टि से नए किशोर सदस्यों के लिए किशोर शाखा की स्थापना की और उसका संचालन अपने छोटे भाई बाल और श्रीधर वर्तक, दत्तू केतकर आदि लड़कों को सौंप दिया। ये लड़के हमारे बौद्धिक अखाड़े में कसरत कर 'मित्र मेला' के संप्रदाय में निपुण हो गए थे। वे अपनी आयु के लड़कों को सदस्य बना लेते, हर सप्ताह बैठक करते, व्यायाम आदि नियमानुसार करते और हमारी निगरानी में अपनी आयु के लड़कों में बचपन से देशभक्ति और देशवीरत्व की ज्योति जगाते। उसी किशोर संस्था में मेरे भाई का ही समवयस्क श्री कर्वे मामलेदार (तहसीलदार) का चुस्त चतुर लड़का प्रविष्ट हुआ, देशवीरत्व की घुट्टी पी गया और अभिनव भारत षड्यंत्र प्रकरण में इसी कर्वे को बाद में फाँसी पर चढ़ाया गया।

'त्र्यंबक' गाँव की शाखा

इसी वर्ष अपनी बहन को ससुराल पहुँचाने आदि कारणों से मैं त्र्यंबकेश्वर गया था। बचपन में बड़े भाई के विवाह में और बहन के विवाह में भी मैं वहाँ जा चुका था, पर उन यात्राओं का कुछ स्मरण नहीं था। अब मैं ऐसी आयु का था कि त्र्यंबकेश्वर स्मरण रहा। वहाँ बड़े भैया के ससुर श्री नानाराव फड़के के घर हम ठहरते थे। उनको सब छोटे-बड़े 'नाना' कहते। नाना की भतीजी अर्थात् अण्णा की चचेरी बहन हमारे बड़े भाई बाबा को ब्याही गई थी। वही मेरी भाभी थी। इस कारण और इन सबके स्नेहशील स्वभाव के कारण मेरी अपनी बराबरी के उन सालों से अच्छी मित्रता हो गई।

उस समय का नाना फड़के परिवार पुराने अविभक्त परिवार-पद्धति का दर्शनीय आदर्श था। तीस-चालीस लोगों के उस परिवार के मुखिया 'नाना' का व्यक्तित्व शांत, सहनशील, उदार और वात्सल्यपूर्ण था। वास्तव में वह तीन भाइयों का ही संयुक्त परिवार था, पर उनके मौसेरे, फुफेरे, ममेरे संबंधी, अन्य संबंधों के अनाथ हुए लोग, विद्यार्जन करते छात्रों के अतिरिक्त उनके यहाँ काफी वर्षों से काम कर रहे बाबू, मुंशी भी अपने परिवार सहित उनके आश्रित हो दो-दो पीढ़ियों से रह रहे थे। कुटुंब प्रमुख के पुत्रों, नातियों के साथ ही इन आश्रितों के लड़कों के

यज्ञोपवीत होते और घर की लड़कियों के साथ ही उनकी लड़कियों के विवाह होते। नाना फड़के के यहाँ यजमानी का काम होता था। त्र्यंबकेश्वर तीर्थ श्रेणी का गाँव होने से उनके यहाँ दूर-दूर से पीढ़ियों से बँधे लोग धार्मिक कार्य, श्राद्ध, यात्रा, पूजा, मन्नत चढ़ाने आदि के लिए आते थे। इन सब कारणों से उनका घर छोटे संस्थान की तरह भीड़-भाड़ से भरा रहता था। सब लोगों की व्यथा सुनते, कौटुंबिक कलह और मनमुटाव सुलझाते, दस की अच्छी और दस की बुरी बातें सुनते, योग्यतानुसार सबकी व्यवस्था करते नानाराव फड़के ओसारे में शांत चित्त और समदर्शी हो कुटुंब के योगक्षेम का विचार करते। बटुआ खोले बैठे रहते। उनके यहाँ प्राय: ही कोई-न-कोई विवाह, यज्ञोपवीत, श्राद्ध, पूजा आदि कार्य चलता रहता।

उस महान् व्यक्तित्व की मृत्यु के बाद घर की गाड़ी चलाने का दायित्व उनके बीसवर्षीय ज्येष्ठ पुत्र अण्णा के कंधे पर आ पड़ा। नाना की मृत्यु के बाद वह घर छिन्न-विच्छन्न हो गया। अविभक्त परिवार-पद्धति के दोषों के कारण अण्णा ने जो भी श्रम किए, वे सफल नहीं हुए। अण्णा के अन्य भाइयों में कोई भी कर्तव्यशील नहीं था। परंतु ये सब घटनाएँ बहुत बाद की हैं। मैं दो-तीन बार जब गया था, तब तक तो वह घर को सँभाले हुए था। अण्णा का सबसे छोटा भाई महादेव बड़ा होने पर 'अभिनव भारत' संस्था के लिए कार्य करने के साथ-साथ अपनी शक्ति भर अन्य सार्वजनिक कार्य भी करता था। अण्णा के साथ निरंतर कुछ समय तक रहने का यह संयोग बनते ही मैंने उस युवक में देशभक्ति के बीज बोए। उसने हमारे साहसिक कार्यक्रमों में सक्रिय होने का निश्चय किया। देश की स्वतंत्रता के लिए प्रसंग आने पर प्राण भी देने की परिपाटी की शपथ मैंने उसे दिलाई। धीरे-धीरे कई युवक मेरे प्रभाव-क्षेत्र में आकर क्रांतिकारी विचारों के हो गए।

त्र्यंबकेश्वर गाँव पंडों-पुरोहितों का गाँव था। उस समय धर्मांधता और संकुचित स्वार्थ के हल्ले-गुल्ले में सार्वजनिक जीवन की चेतना किसीमें नहीं थी। जाति-उपजाति की ऊँच-नीच का पागलपन इतना अधिक था कि ब्राह्मणों-ब्राह्मणों में ही 'ये देशस्थ गली' और 'ये कोंकणस्थ गली' का दो राष्ट्रों जैसा वैर बढ़ा हुआ था। मारपीट और मत्सर बहुत बढ़ा-चढ़ा हुआ था। नई पद्धति से पढ़े-लिखे दो-तीन व्यक्ति भी थे, पर वे निरे घरघुसे थे। संस्कृत विद्या जीवित थी, पर अंधी, केवल शब्द-पाठ के रूप में। उसे वर्तमान का रत्ती भर भी स्पर्श नहीं, कालरात्रि के बिछौने में पड़ी हुई जैसी। अंग्रेजी राजा को पूरे मन से 'देवावतार' माननेवाले और 'ना विष्णु: पृथ्वीपति:' कहकर उसकी नींव पक्की करनेवाले विद्वान् पंडित, उपाध्याय और पंडे मुझे वहाँ मिले। मैं उनमें से कई से मिला। चर्चा की। ऐसे ही एक पंडित, जिसे थोड़ी अंग्रेजी भी आती थी, ने एक बार एक राजनिष्ठ समारोह हेतु कुछ

संस्कृत श्लोक रचे। उनकी चर्चा प्रौढ़ लोगों में होते-होते मेरी भी चर्चा चली तो उन्होंने मुझे बुलवाया और ये श्लोक मुझे दिखाए। श्लोकों में कवित्त था, परंतु अंग्रेजों को 'माँ-बाप' और अंग्रेजों के राजा को 'भगवान, पृथ्वीपतिः' कहनेवाला। उनको पढ़ने के बाद मुझसे पंडितजी ने अपनी प्रतिक्रिया पूछी। मैंने कहा, 'Truly, there are pearls, but they are thrown before swine.' (निश्चित रूप से ये मोती हैं, पर सुअरों के सामने फेंके हुए।)

वे सब ठगे-से रह गए। मैंने वैसा क्यों कहा, यह उन्हें समझाते हुए बहुत चर्चा हुई। उस सच्चे पंडित ने यह स्वीकार किया कि उनका उद्देश्य वही था जो 'नः विष्णुः पृथ्वीपतिः' का अर्थ है, अर्थात् जो पृथ्वीपति अर्थात् राजा है, वही हमारा विष्णु है और इसीलिए वंदनीय है। मैंने उनसे निवेदन किया कि ऐसी स्तुति से पाठक-वृत्ति का स्पर्श न होने दिया करें। उन्होंने मेरा निवेदन स्वीकार किया। उनसे मेरा कहना था कि 'राजा प्रकृतिरंजनात्' यह राजा की व्याख्या है और जो दूसरे देश पर केवल शस्त्र बल से राज करे, वह इस देश का राजा हो ही नहीं सकता। फिर हम उसे ईश्वर क्यों मानें? मेरे इस साहसिक विधान की और मेरी संवाद-प्रतिभा को देखकर त्र्यंबकेश्वर के प्रौढ़ लोग मुझसे प्रभावित हुए।

अपने विचार की तरुण मंडली एकत्र कर मैंने 'मित्र मेला' की एक शाखा वहाँ स्थापित की। उनमें 'काल' समाचारपत्र और मेरे द्वारा चुनी हुई पच्चीस क्रांतिकारी पुस्तकें पढ़ने की रुचि जगाई।

वहाँ सार्वजनिक मंच से दिए गए मेरे एक-दो व्याख्यान भी बहुत परिणामकारक रहे। अण्णाराव फड़के के नेतृत्व में 'राष्ट्रभक्त समूह' अर्थात् 'मित्र मेला' की शाखा की बैठकें होने लगीं। क्रांतिकारी विचारों का प्रसार, उत्सव, व्यायाम आदि प्रत्यक्ष सार्वजनिक कार्य भी होने लगे। वहाँ के कार्य की एकाध घटना उदाहरण के रूप में कहूँ तो वह है राजा एडवर्ड के समारोह की। त्र्यंबकेश्वर के सरकारी और अर्धसरकारी अधिकारियों ने स्वयं आगे बढ़कर राजा एडवर्ड के प्रति अपनी राजनिष्ठा प्रदर्शित करने एवं उनके स्वास्थ्य के लिए शुभकामना व्यक्त करने के लिए एक उत्सव आयोजित किया। ऐसे उत्सव उस जमाने में सरकारी अधिकारी बार-बार आयोजित किया करते थे। त्र्यंबकेश्वर के पंडों-पुजारियों का अपना कुछ था ही नहीं। अधिकारियों का आदेश चुपचाप स्वीकार करना उनका हमेशा का स्वभाव था। समारोह हेतु उन्होंने पूरा गाँव सजाया। रात में दीपोत्सव था। इस उत्सव का विरोध हमारी युवा मंडली मौखिक रूप से पहले ही कर रही थी। उत्सव की पूर्व रात्रि में मैंने और अण्णा ने मिलकर रातोरात हस्तपत्र लिखकर दीवारों पर चिपकाए। उन हस्तपत्रकों (Posters) ने उस दिन सुबह ही उत्सव का अपशकुन कर दिया। 'तुम्हारी राष्ट्रमाता

को जिसने दासी बनाया, उस राजा का उत्सव अर्थात् तुम्हारी स्वतंत्रता जिस दिन मरी, उस दुर्दिन की वर्षगाँठ। पर-राज से राजनिष्ठा का अर्थ देशद्रोह होता है।'

ऐसी ही अन्य कुछ कड़ी क्रांतिकारी उक्तियाँ उन हस्तपत्रकों पर लिखी थीं। उनके कारण गाँव में बड़ी खलबली मची। सारांश यह कि पिछली तीन पीढ़ियों में ऐसे वाक्य पढ़ने का यह पहला अवसर था। पुलिस की भी हलचल बढ़ी। सभा में भी रंग नहीं आया। रात में हमारे लड़के अण्णा फड़के के साथ कुशावर्त आदि स्थानों पर गए और उन्होंने पानी में दीये लुढ़काकर तथा वहाँ लगी सजावटी झंडियाँ यथासंभव स्थानों पर फाड़कर हल्ला होने के पहले ही पलायन कर दिया।

सभा में अध्यक्ष ने कहा, 'एडवर्ड सचमुच हमारे बाप हैं।' फिर रातोरात हमने हस्तपत्रक लिखे और दीवारों पर चिपकाए, जिनमें उदार रीति से साफ-साफ पूछा था कि यदि एडवर्ड आपके बाप हैं तो आपके पिताजी आपकी माताजी के कौन हैं? दो-चार दिनों तक वह प्रश्न इस-उसके मुँह में था। जहाँ-तहाँ हमारी गुप्त कार्यवाही पर चर्चा चल रही थी। हम लड़कों के पकड़े जाने की अफवाह भी दो-चार दिन चली और फिर सारा प्रकरण ठंडा हो गया।

मेरा शरीर और व्यायाम

मेरा शरीर बचपन में इकहरा और ठिगना था। रंग गोरा और बहुत पानीदार, कोमल और सुंदर दिखता था, लोग ऐसा कहते थे। इतना ही नहीं, वह मुझे भी अच्छा लगता था। मुझे साधारण, परंतु चुस्त और सलोना रहना प्रिय था। वकीलों आदि के लड़के सिर पर बाल रखते थे। उन्हें देखकर मुझे भी बाल रखने की इच्छा होती थी, पर उस काल में सिर पर बाल रखना अधिकतर ब्राह्मण कुटुंबों में पाखंड माना जाता था। उसमें विशेष यह कि मेरे बाबा (बड़े भैया) को इस सुधारवाद से घृणा थी। इसलिए यदा-कदा उनके अधिराज को मुझे क्रमश: और अधिकतर नियम-भंग का आंदोलन चलाकर संपादित करना पड़ा। यह प्रकरण मजेदार है। पूरा सिर घुटवाकर चोटी भर छोड़ी जाती थी। उस चोटी के नीचे गोल घेरे में थोड़े बाल रखे जाते थे, पर बच्चों को चोटी के नीचे घेरा रखने की अनुमति नहीं होती थी। कुछ बड़ी आयु में वह घेरा रखने का अधिकार मुझे मिला। उसके बाद घेरा आगे-पीछे से बड़ा करते जाना मैंने प्रारंभ किया। उसीके साथ मोटी-बड़ी चोटी भी एक समस्या थी। उसे पतली लट तक संकुचित रखने का मेरा प्रयास था। जब मैं बाबा के सीधे नियंत्रण से दूर कॉलेज का छात्र बन गया, तब वह बड़ा घेरा दो-तीन हफ्ते में ही संशोधित होकर कंघी करने लायक बालों में परिवर्तित हो गया।

मेरे कमरे में क्रांतिकारियों, हुतात्माओं और वीरों के चित्र लगे होते थे और

इनके साथ रहती सुंदर फूल, इत्र और धूप की सुगंध। गँवारू रहना पहले से ही मुझे नहीं भाता था और सभी काम व्यवस्थित रूप से, ढंग से करना मुझे प्रिय लगता था। ऐसे झूठे बड़प्पन से मुझे घृणा थी, पर सुदर्शनत्व की चाह थी। मेरे चाचा जैसी पहना करते थे, वैसी बाराबंदी या अँगरखे तो दूर, बाबा (बड़े भैया) के बेडौल कुरते भी पहनने की धार्मिकता मुझमें नहीं थी। मैं शर्ट पहनता था, उसपर जाकिट और कोट। धोती को दूटाँगी काछ मारने तक का विद्रोह भी मैं कर देता था। धीरे-धीरे मेरे भैया ने इन सब बातों को क्षम्य मानकर उनकी ओर ध्यान देना बंद कर दिया।

शोभायमान बनने की इच्छा से भगूर में ही व्यायाम के प्रति रुचि मुझमें बढ़ी। हमारे यहाँ भगूर में कभी-कभी कोठूर के बर्वे आया करते थे। उनमें से विशेष रूप से गोपाल का कुश्ती में तैयार हुआ कसा शरीर देखकर अपना शरीर वैसा ही गठीला, कसा हुआ और शोभायमान करने की चाह मुझमें भी जगी। मेरी ऊँचाई मेरे शरीर की तुलना में तो नहीं, पर आयु के मान से कम थी, जबकि मेरे बराबर के अधिकतर साथी पट्ठे और वय में भी मुझसे बड़े थे। उनके साथ खेलने और धींगामस्ती करने में मेरा कोमल और ठिगना शरीर मुझे कम लगता।

यह कमी दूर करने और शारीरिक बल में भी उनसे हेठा न रहने की चाह में मेरी प्रवृत्ति व्यायाम की ओर बढ़ी। मैं बारह-तेरह वर्ष के वय में सबसे पहले सूर्य-नमस्कार का व्यायाम करने लगा। मेरे बड़े भैया का सूत्र था कि पसीने की मूर्ति भूमि पर बनने तक नमस्कार लगाने चाहिए। अत: मैं भी पसीने की मूर्ति बनने तक सूर्य-नमस्कार लगाने लगा। पंजों में घट्टे पड़ गए। उन्हें मैं बड़े अभिमान से साथियों या बड़े-बूढ़ों को दिखाता। सोलहवें-सत्रहवें वर्ष में नासिक आने पर व्यायाम हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य ही हो गया, क्योंकि 'मित्र मेला' के सदस्यों को उनकी शारीरिक उन्नति के लिए व्यायाम पर जोर दिया जाता था। मैं प्रमुख व्याख्याता और प्रचारक था। व्यायाम और बलवान शरीर की उपयुक्तता पर व्याख्यान देने के लिए खड़े रहने पर मेरी ठिगनी और कोमल देह देखकर कोई मेरी खिल्ली न उड़ाए, इसलिए सबसे पहले मुझे व्यायाम करना पड़ा। उस समय मैं डंबल्स किया करता था, क्योंकि तब सैंडो के डंबल्स का बड़ा बोलबाला था। डंबल्स का व्यायाम मुझे इतना पसंद आया कि विलायत जाने पर सैंडो की कक्षा में जाकर मैंने उसे सीखा। पकड़े जाने तक मैं नियमित डंबल्स करता था। इतने पर ही न रुककर मैं दंड-बैठक भी करने लगा। कॉलेज में जब-तब शर्त लगाकर मैं पाँच-पाँच सौ दंड या हजार बैठक लगाकर दिखाता था। मलखंब भी मैंने सीखा और कुश्ती का भी चस्का मुझे लगा।

स्वयं इस तरह व्यायाम की अनिवार्यता की बात मैं अधिकारपूर्वक कह लेता था, पर मेरा शरीर कसा हुआ, गठीला आदि होगा, यह मेरी आशा कभी पूरी नहीं

हुई। व्यायाम से मेरा शरीर आकर्षक लगने लगा। कभी-कभी तो व्यायाम करते समय जब मैं खुले बदन रहता था, तभी मेरे मित्र मेरा छाया-चित्र ले लेते थे। मेरा शरीर ऐसा सुगढ़ और सुडौल हो तो गया, पर वह बलवान और पुष्ट भी लगे, ऐसा कभी नहीं हुआ। उलटे वह कभी-कभी पहले से अधिक सूखा और अरूप लगता था। उसका एक कारण व्यायाम का अतिरेक था, ऐसा मुझे अब लगता है। अन्न की ही तरह व्यायाम कितना ही अच्छा क्यों न हो, पर वह व्यक्ति-व्यक्ति के शरीर की मूल क्षमता के अनुसार अलग-अलग व्यक्तिगत परिमाण में ही होना चाहिए। कोई हजार दंड झेल सकता है, पर सभी वह झेल पाएँगे—ऐसा नहीं है। प्रकृति की भिन्नता की भाँति ही व्यायाम में भी विभिन्नता और प्रमाण चाहिए। परंतु व्यायाम के अतिरेक की सीमा बता सकनेवाला कोई मर्मज्ञ गुरु मुझे नहीं मिला था। इसलिए कभी-कभी शरीर से थक-सूख जाता, इतना व्यायाम मैं कर लेता था। शरीर का सुदर्शन रूप न खोते हुए भी परिमाणबद्ध व्यायाम से शरीर सुश्लिष्ट-बलिष्ठ हो सकता है, कृष्ण जैसा! किशोर वय में स्वयं द्वारा प्राप्त व्यायाम के अनुभवों से उत्पन्न एक पाठ मैं बताना चाहता हूँ। कोमल वय में केवल दंड-बैठक का व्यायाम, जिससे स्थान-स्थान की मांसपेशियाँ जम जाती हैं, कम करना चाहिए। इस आयु में एक डंडा (सिंगल बार), दो डंडा (डबल बार), मलखंब और ऊँचाई बढ़ानेवाले व्यायाम विशेष करणीय हैं।

'मित्र मेला' और व्यायाम

हम व्यायाम की ओर केवल शारीरिक व्यायाम की दृष्टि से नहीं देख रहे थे। राज्यक्रांति की भयानक कसौटी पर हम अपना पूरा जीवन होम करनेवाले थे। उस क्रांति के असह्य संकटों को सहन करने की शक्ति अपने शरीर में रहे, इस दृष्टि से तरुण मंडली को हम यह बताते थे कि कौन सा व्यायाम करना चाहिए, और तदनुरूप उसपर आचरण करते थे। कारागृह, भूख, पिटाई, प्रताड़ना, श्रम, सैन्य-कठोरता इन सबका सामना हमें करना होगा—यह जानकर, जिस तरह से भी मन और देह कठोर, तितिक्षु और सबल हो, वह व्यायाम हम करते रहे। नासिक में तैरने की कला सबको आती थी। हम भी टोली-टोली में रामकुंड पर जाते। गरी की कटोरियाँ घिस-घिसकर एक-दूसरे को मल-मलकर लगाते, उससे मालिश करते और ऊँचाई से उलटे-सीधे कूदकर गोदावरी के पानी में घंटों डूबे रहते, एक-दूसरे को पानी मारते, खेल खेलते। बाढ़ में तैरने की मेरी हिम्मत बचपन में नहीं हुई। परंतु उस समय नासिक में जो थोड़ा-बहुत तैरना सीखा, वही आगे मार्सेल्स के अगम समुद्र के पार जाने में काम आया। तैरने के समान ही हम दौड़ने की आदत डालते,

भूखे रहते, खुले में सोते, पेड़-पहाड़ पर चढ़ते, वन प्रांतर में घूमते, ऊँचाई से कूदते और ये सब फालतू बातें करते हुए स्वदेश के स्वतंत्रता-युद्ध में संघर्ष करने की दुर्दम्यता अपने में बढ़ाने के लिए यह व्यायाम का अभ्यास हम कर रहे हैं, यह बात हम कभी भूलते नहीं थे।

मैं अपनी संस्था के सदस्यों को जिस अनुशासन में ढालना चाहता था, अन्यों को उपदेश देने के पहले उसे स्वयं पर प्रयोग करके देख लेता था। अपनी देह को मैंने दुर्दम और तितिक्षु बनाया। मुझपर गुजरे भीषण विपत्तिकाल में सचमुच, वह बहुत लाभकारी रहा। राज्यक्रांति के जिस अनिश्चित, घातक, संकटमय रास्ते पर हमने अपना पग बढ़ाया था, उसमें ऐसे संकट हमपर आनेवाले थे और उनका सामना करने के लिए अपने शरीर को इस तरह दृढ़ करना आवश्यक था। मन और तन की जो सिद्धता मैं बचपन से करता रहा, वही मुझे उस मारक काले पानी में नाव जैसी उपयोगी रही।

भयकंपित करनेवाले उन देहदंडों और प्रताड़नाओं से आँखें मिलते ही निडर-से-निडर आदमी भी वहाँ आत्महत्या कर लेता था। हाथी जैसी विशाल देहवाले लोग यक्ष्मा से घिस-घिसकर मर जाते। ऐसी प्रताड़ना और वह देहदंड सहन करने का असह्य संकट आने के बाद भी सालो-साल टिके रहने का जो मानसिक और शारीरिक बल मुझमें आया, वह काफी अंशों में हमारे अनुशासन और व्यायाम का ही फल था, इसमें कोई शंका नहीं।

विवाह

सन् १९०१ के अंत में मेरी मैट्रिक की परीक्षा थी। इसलिए अपनी परिपाटी के अनुसार अंतिम तीन माह केवल अध्ययन हेतु आरक्षित करने का निश्चय कर मैं अध्ययन शुरू कर ही रहा था कि एक दिन मेरे मामा घर आकर अकस्मात् कहने लगे—'तात्या का विवाह तय कर आया हूँ।' उस समय मेरी आयु का अठारहवाँ वर्ष पूर्ण होकर उन्नीसवाँ लग गया था। उस समय की प्रथा के अनुसार विवाह की आयु हो गई थी। इसलिए यहाँ-वहाँ से प्रस्ताव भी आ रहे थे, परंतु अपने विवाह का प्रश्न इतनी जल्दी एकाएक आगे आएगा, इसका पूर्वाभास मुझे या किसीको भी नहीं था। अत: मैंने उसका फुटकर या पूर्ण विचार किया ही नहीं था। उस समय तो मेरा ध्यान इस ओर था कि मैट्रिक हो जाने पर कॉलेज के अध्ययन की क्या व्यवस्था की जाए। बाबा की तंगी कम करने के लिए मैंने पब्लिक सर्विस की परीक्षा पहले ही दे दी थी। फिर भी यथासंभव कॉलेज-शिक्षा अवश्य प्राप्त करनी है, ऐसा मेरा और मुझसे अधिक बाबा का दृढ़ निश्चय था। परंतु बाबा के लिए वह बोझा सहना असंभव ही

था। अतः किसी बहाने से, शिष्यवृत्ति या ऐसे ही किसी रास्ते से यह प्रश्न सलटाना आवश्यक था। इसके लिए मैं हर तरह का कष्ट, त्रास सहन करने को तैयार था। अपने विस्तृत ग्रंथावलोकन में दरिद्रता या संकटों से जूझकर महान् बने बहुत सारे व्यक्तियों के चरित्र बार-बार मेरे सामने आए। बत्ती के तेल के लिए पैसा न होने पर रास्ते पर लगी नगरपालिका की बत्ती के नीचे पढ़कर बड़े स्थान या पद पर पहुँचे लोगों के उदाहरण न्यायमूर्ति रानडे की अस्तमान होती पीढ़ी में भी मेरे सामने से गुजर ही रहे थे। ऐसे समय में मैंने भी वही निश्चय कर रखा था। समय आया तो पुणे में किसीके घर कामकाज करूँगा, मधुकरी माँग लूँगा, परंतु आगे पढ़ूँगा।

इस योजना को मूर्त रूप देने हेतु एक बार श्री म्हसकर ने पुणे में 'काल' पत्र के संपादक से पत्राचार किया था। मेरी प्रशंसापूर्ण प्रस्तावना उन्होंने 'काल' के संपादक-मालिक के पास की थी और निवेदन भी किया था कि कॉलेज की पढ़ाई की कुछ-न-कुछ व्यवस्था वे करें। श्री म्हसकर की प्रस्तावना का कोई प्रतिफल निकलता है या नहीं, यह देखने के लिए मैंने भी उस समय एक पत्र 'काल' के प्रबंधक को लिखा था। उसमें मैंने लिखा था कि मैं आपके छापेखाने में सफाई का, कंपोजीटर का या किसीके घर के नौकर का—ऐसा कोई भी काम करने के लिए तैयार हूँ। आप केवल इधर-उधर से किसी भी तरह कॉलेज की मेरी पढ़ाई की व्यवस्था करा दें।

शिक्षा प्राप्त करने की चिंता में ही विवाह का रास्ता भी कभी-कभी सूझ जाता। बहुत-से तरुणों का भाग्योदय विवाह में प्राप्त दहेज से या ससुर के कारण होता मैंने देखा था। परंतु शिक्षा के लिए दहेज की या ससुराल की सहायता प्राप्त करके अपने पैरों में बेड़ी डलवा लेने की जो पहली शर्त स्वीकार करनी पड़ती थी, वही पढ़ाई में बड़ी बाधा होने से उसे स्वीकारना मेरे लिए बड़ा कठिन कार्य था। इसलिए यथासंभव कोई दूसरा मार्ग देखकर कॉलेज की शिक्षा कैसे पूरी की जा सकती है, इस चिंता में जब मैं था, तभी मामा ने अचानक आकर घोषणा की, 'तात्या का विवाह तय कर आया हूँ।'

हम बच्चों का पिता-सदृश आत्मीय कोई बड़ा था तो वह मामा ही थे। अतः पुरानी परंपरा के अनुसार मुझसे एक शब्द भी पूछे बिना मेरा विवाह तय करने का अधिकार उन्हें था ही। वे हमसे राजनीति पर खुली चर्चा करते थे। हमारे गृहराज्य में बिना पूछे किसी तरह की हेराफेरी न करने की उनकी आदत भी हमें ज्ञात थी। इस कारण विवाह तय होने के बाद भी उसे स्वीकार या अस्वीकार करने के प्रश्न पर उनसे जोरदार चर्चा हुई। अपने जीवन में कोई भी अगला कदम उठाने के पूर्व मेरी पहली चिंता यही रहती थी कि हम जिस दुर्गम प्रतिपथ के पथिक हो गए हैं, उस

मार्ग में वह कदम मुझे पीछे तो नहीं खींच रहा है, यह देखूँ। इस दृष्टि से देखते हुए, जो क्रांतिकारी सत्य की विजय के लिए बंदीगृह में या फाँसी पर या रणांगण में अपना सिर हाथ में लिये कार्यक्षेत्र में उतर रहा हो, वह विवाह-बंधन स्वीकार करे या न करे, इसी प्रश्न पर पहले चर्चा हुई। विवाह के कारण अपने पैर परिवार के माया-जाल में फँसेंगे। जान-बूझकर किसी वधू को अनाथपन के दुःख में धकेलने का कारण बनना होगा। हम सभी युवा थे। हमारे सबके सामने विवाहित होने या न होने का प्रश्न खड़ा था। इस कारण उक्त विषय पर इसके पहले भी कई बार चर्चा होने से मेरा एक विचार पक्का हो गया था और मैं मित्र-मंडली में अपना यह अभिप्राय कहता रहता था।

क्रांतिकारी का विवाह

हमारी परिस्थिति में रह रहे क्रांतिकारी विवाह करें या नहीं? इस प्रश्न का समाधान मैं इस तर्क से देता था—सबसे पहले सुजनन (Eugenics) की बात। स्वदेश के लिए, लोकहित के लिए प्राणत्याग करने की सच्ची प्रतिज्ञा करनेवाला और उसे पूर्ण करने की हिम्मत रखनेवाला क्रांतिकारी प्रायः समाज में उच्च प्रवृत्ति का देशवीर ही होगा। ऐसे उच्च बीज की संतति बढ़ना समाज की उन्नति के लिए परम आवश्यक है। परंतु मानव के दुर्भाग्य से ऐसे हुतात्मा को ही किसी अन्यायी सत्ता की बलि होना पड़ सकता है। इस कारण उस दलित समाज या दलित जाति या देश का ऐसा वीर जीवन बंदीगृह में या फाँसी पर या रणांगण में निःसंतान स्थिति में नष्ट हो जाता है। जो देशभक्त संतान उत्पन्न कर सकें, ऐसे वंश तो लुप्त हो जाते हैं और जो कृतघ्न, स्वार्थी, लोक-अहितकारी, भीरु, देशद्रोही, पाशविक आदि वृत्ति के जो लोग हैं, उनकी संतति समाज में तेजी से बढ़ती है। कोई किसान अच्छा बीज बीनकर फेंक दे और सड़ा बीज बोए तो उससे प्राप्त फसल के समान उस राष्ट्र या संघ का मानव-वंश क्षीण और हीन होता जाता है। इसलिए वास्तव में समय पर विवाह कर यथासंभव उत्कृष्ट संतति को जन्म देना किसी वीरात्मा का राष्ट्रीय कर्तव्य ही है।

यह आशंका रहती है कि विवाह करने से पत्नी या संतान के मोहवश वह देशभक्त वीर प्रतिज्ञा से विचलित हो जाएगा। परंतु ऐसा ही क्यों हो? यदि उसका मनोबल अपने पिता, बंधु और अपने प्राण का मोह भी त्यागने पर दृढ़ है, तो केवल पत्नी या संतान के मोह को तोड़ना उसके लिए कोई कठिन कार्य नहीं होना चाहिए। पत्नी की मोह-माया से स्वयं कर्तव्यच्युत होने के स्थान पर वह उलटे अपने पत्नी-पुत्र को भी स्वयं के प्रेम और प्रभाव से अपने जैसा वीरात्मा बना लेगा। अपनी संतति की धारा से वह वीरत्व का प्रवाह भी अखंडित रख सकेगा और देशभक्ति की परंपरा

बढ़ाएगा। वह वीर प्रारंभ में ही मृत्यु पा गया, तो उसके पत्नी-बच्चे बेसहारा हो जाएँगे। ऐसा होता है तो होने दो। जिस राष्ट्र या संघ के हित में वह प्राण देगा, उस राष्ट्र के हित में उस संघ के अन्य व्यक्तियों को भी कुछ-न-कुछ कष्ट सहना, त्याग करना आवश्यक ही है। ऐसा कहने का और वह बोझा लोकहितार्थ ही लोगों से वहन कराने का उसे अधिकार है। अपना पति-पिता ऐसा महान् बलिदानी हुआ, इस विचार के साथ ही अपने उस बेसहारापन को वास्तविक गौरवपूर्ण सनाथत्व मानना चाहिए। यदि वैसा न हो सके तो ऐसी अनाथ महिला सुख से वैसे ही किसी महान् पुरुष से पुनर्विवाह कर गृहस्थी बसा ले। ऐसी अनुमति पूरे मन से देने योग्य वह क्रांतिवीर उदार होगा ही, होना भी चाहिए।

पत्नी के दिवंगत होते ही जिन कारणों से पुरुष का पुनर्विवाह करना पाप नहीं है, उन कारणों से पत्नी का भी पुनर्विवाह करना पाप नहीं है। प्लेग और अकाल में भी तरुण चटपट मर जाते हैं, इसलिए तरुणों के विवाह थोड़े ही रुकते हैं। प्लेग और लग्न कभी-कभी तो साथ ही चलते हैं। वहाँ तो केवल भाग्यवाद का आधार ही बहुत होता है, तो ऐसे क्रांतिकारियों के विवाह की जिस वेदी को उस अज्ञात भाग्य के आधार के साथ ईश्वरीय कर्तव्य पूरा करने का दोहरा आधार है, वह विवाह-वेदी इतनी निराधार और अनिष्ट कैसे मानी जा सकती है? अत: धर्मकार्य हेतु हाथ में सिर लेकर रण में उतरनेवाला वीर विवाहित होकर अपने सद्गुणों का प्रवाह जिस विधि से अपने राष्ट्र में निरंतर बनाए रख सकता है, संतान उत्पन्न करना उसका अपना राष्ट्रीय कर्तव्य है अर्थात् वह कर्तव्य करने योग्य उसका मनोबल प्रखर हो, तो हानि नहीं, पर यदि उसका मनोबल उतना प्रखर न हो तो उसका अविवाहित रहना क्षमायोग्य है। उसका वही कर्तव्य माना जाएगा। चूँकि पत्नी, पुत्र या माता के कारण मुझे कर्तव्य का आमंत्रण आते ही मृत्यु स्वीकारना संभव नहीं, ऐसा बहाना जो बनाता है, वह वास्तव में उन सबके मोह से अधिक स्वयं के मोह से ही मरने के लिए प्रस्तुत नहीं होता। मैं अपने किसी संबंधी के कारण मरने से रह गया, यह तर्क जाने-अनजाने केवल अपने मन की दुर्बलता छिपाने के लिए किसी ढाल की भाँति ही उपयोग में आता है। इस संबंध में अपने विचार मैंने 'कमला' काव्य में क्रांतिकारी मुकुल की भूमिका में प्रकट किए हैं। मुकुल आत्मप्रत्ययी न होने से स्वयं अविवाहित रहते हुए अपने वयस्क क्रांतिकारी सहयोगी मुकुंद के विवाद का समर्थन करते हुए उससे कहता है—

मित्रवर अनिरुद्ध सत्य सनातन मान।
राष्ट्रहित में उदित हो रति उदर संतान॥ १॥

सभी लोक-कल्याण हो वही धर्ममान।
धर्मपरायण रति यामिनी कोमलांग प्रमाण॥ २॥
व्रतबद्ध वचनबद्ध हम राष्ट्र हमारा प्राण।
रामदास के दास हम धर्म हमारा मान॥ ३॥
विधि चाहे गांधर्व हो या वेदिका आयोजन।
दीप्त चयन यश गमन है पाणिग्रहण पाणिग्रहण॥ ४॥
संकोच न कर, पाणिग्रहण गृहधर्म है।
मातृभूमि की सेवा का निर्बाध निर्मल मर्म है॥ ५॥
पाणिग्रहण राष्ट्रधर्म मंत्रसिद्ध मंत्र है।
प्राणज्योति को लिये, वह पुनीत पुण्य कर्म है॥ ६॥
परसत्ता के कृष्ण काल का मातृभूमि पर जाल।
सकल धर्म का धर्म है प्रथम धर्म का ताल॥ ७॥
अर्धांगिनी है अर्थभोग तृप्ति का वह मान।
स्वातंत्र्य-युद्ध के बाँकुरे है तेरा सम्मान॥ ८॥
प्रणय तुम्हारे संग हो फिर है कैसा भय।
पग-पग पर्वत पर चढ़ो शिखर मिले निश्चय॥ ९॥
आत्मसंयम गृहधर्म है विश्वसनीय प्रमाण।
ब्रह्मचर्य से क्या मिले मिथ्या-सा एक त्राण॥ १०॥
रति धर्म को परे न कर औषधि बिन निदान क्या रोग।
सत्य धर्म को तिलांजलि अल्प धर्म का योग॥ ११॥
मन निश्चय जब संग हो बहुधर्मों का साथ।
निश्चय का रवि उसे कहें दृढ़ निश्चयी हो हाथ॥ १२॥
नारी नर की संगिनी यशस्विनी पूर्णाधिनी।
नारायण के सहज दे सकल मंगल कामिनी॥ १३॥
सहज मान्य गृह प्रणय रंग रहे कामिनी संग।
निश्कृत्यों से दूर हो अपकीर्तिका मलंग॥ १४॥
धन्य-धन्य यह दान है चित्तौड़ का प्रमाण।
धवल पताका राम की भरतभूमि के प्राण॥ १५॥
मेरे मन की धारणा निश्चित-सा संदेश।
मुकुंद ऐसे पग चलो झुकता रहे विदेश॥ १६॥
जहाँ उगाए तृण बाँकुरे भगीरथी उफान।
तुझ-सा चंदन-सा घिसूँ भू में निकले प्राण॥ १७॥

प्रिया-पुत्र बलिदान हो मुझे हो कंठ-स्नान।
आओ संग कट-कट मरें, करें धर्म अभिमान॥ १८॥
अब कैसा परिवेश है पिता-पुत्र का स्थान।
राष्ट्रभक्ति में जीवन गले तुझ-सा जीवनदान॥ १९॥
निर्मल रश्मि सूर्य कुमार तुम।
परिपूर्ण यशस्वी कृत्यधारी विमान तुम॥ २०॥
हृदयी कमला धार लो स्वर-बिंदु के प्रमाण।
नमस्ते शुभ लक्षणी धर्म ज्ञान॥ २१॥

अतः विवाह का मेरे कर्तव्य रूपी पैर की बेड़ी बनना कभी भी संभव नहीं है, ऐसा मुझे पूर्ण आत्मविश्वास होने पर मेरे विवाह के रास्ते में वह प्रश्न बाधक बनना संभव नहीं था। केवल मेरी उस समय की पारिवारिक परिस्थिति और उच्च शिक्षा प्राप्त करने की आकांक्षा की दृष्टि से ही इतनी जल्दी विवाह करने का मेरा या मेरे घर के किसी सदस्य का विचार नहीं था। इस कारण मैं मामा के द्वारा तय किए गए विवाह के लिए तैयार नहीं था। उसमें भी वधू-पक्ष के संबंध में मेरा रत्ती भर भी विचार न करते हुए यह विवाह तय किया गया था। मैं जो कुछ भी कहूँ, मामा अपना आग्रह नहीं छोड़ रहे थे, क्योंकि उन्होंने जिन श्रीयुत् भाऊराव चिपळूणकर की कन्या को वधू के रूप में निश्चित किया था, उन का और मामा का आबाल्य स्नेह था। इसीलिए वे उस प्रभावशाली पुरुष का शब्द टाल नहीं सकते थे। ऐसे घराने से अपना स्नेह-संबंध ही नहीं, अपितु इतने निकट का संबंध जुड़ने का योग एकदम अलभ्य था। इस कारण अन्य कोई भी बाधा या वधू की पसंद-नापसंद दूर रखी जाए तो भी चिंता नहीं, ऐसा मामा को लगता था। बाबा ने बार-बार कहा कि तात्या के मैट्रिक उत्तीर्ण कर लेने के बाद उस जैसे वर के लिए और अच्छे रिश्ते आएँगे, इसलिए वह परीक्षा होने तक रुकें। यह विवाह भी चाहे तो बाद में करें, परंतु श्री भाऊराव चिपळूणकर ने बहुत आग्रह से कहा कि यह विवाह होना ही चाहिए और वह भी अभी होना चाहिए। कन्या बड़ी हो रही है (उस समय की रीति के अनुसार)। अतः प्रतीक्षा करना संभव नहीं है।

श्रीयुत् भाऊराव चिपळूणकर

श्रीयुत् भाऊराव चिपळूणकर हमारे भी परिचित थे। बचपन से ही उनसे मुझे बहुत प्यार मिला था। कोठूर गाँव के दादा बर्वे की बहन भाऊराव चिपळूणकर की पत्नी थीं। बचपन में मैं जब अपने ननिहाल जाता था, तब कभी-कभी भाऊराव चिपळूणकर भी अपनी ससुराल आए रहते। वहाँ मुझसे खेलते हुए स्वयं घोड़ा बनते

और मुझे पीठ पर लेते थे। मुझे देखते ही वे बड़े प्रसन्न हो जाते थे। मेरी ग्यारह-बारह वर्ष की आयु में ही अपने मित्रों आदि को मुझे दिखाकर वे स्नेह से कहते, "देखो, हमारा दामाद कैसा है ?' वे हमेशा आते-जाते हमारा समाचार लेते रहते।

उनकी एक विशेषता यह थी कि वे कोई उपेक्षणीय गृहस्थ नहीं थे। वे जव्हार राज्य के एक बड़े व्यक्ति थे। उनकी दो पीढ़ियाँ उस राज्य में उच्च पदों पर रही थीं। वहाँ के उस समय के राजा उन्हें अपने ही घर का लड़का मानते थे। युवराज तो उन्हें भाई ही मानते थे।

भाऊराव का कर्तव्य भी बड़ा ऊँचा था। शरीर भी उनके पद-प्रतिष्ठा के अनुकूल था। वे देह से ऊँचे, दोहरे, गोरे और बहुत ही सुंदर पुरुष थे—प्रभावी मुद्रा, शानदार रहन-सहन, चतुर आँखें, प्रभावशाली चाल-ढाल। उन्हें देखते ही लगता था कि पेशवाई के समय का कोई असली चितपावन सरदार ही देख रहे हैं। उन्हें देखनेवाला क्षण भर के लिए मंत्रमुग्ध हो जाता था। वे स्वयं घुड़सवारी करने, बंदूक चलाने, शिकार करने, कुश्ती लड़ने तथा व्यायाम करने में निपुण थे। वे गाने के जितने बड़े रसिया थे, उतने ही बड़े ईश्वरभक्त भी और उतने ही बड़े दानी भी। अनेक पहलवानों और छात्रों के सहायक भी वे थे। कई को उन्होंने रोजगार में लगाया। संकट में सहायता की। उनके भवन के किसी कमरे में कोई वैरागी या कर्मठ व्यक्ति अपनी पूजा आदि करने बैठा है, बड़े भारी पार्थिव लिंग बनाकर टोकरियाँ भर-भर फूलों से शृंगार कर पूजा कर रहा है। उधर बँगले में गवैये उतरे हुए हैं—कोई सितार, तो कोई तबला बजा रहा है। ऊपर के कोठे में कोई विद्वान् वैदिक, मान्यवर नेता, अधिकारी प्रेमी आदि से घिरे भाऊराव चिपळूणकर विद्वत्तापूर्ण चर्चा या हास्य-व्यंग्य करते हुए बैठे हैं। दरवाजे पर सिपाहियों, घुड़सवारों और घोड़ों की आवाजाही है। ऐसा दृश्य बार-बार दिखता था।

ऐसे घराने से वैवाहिक संबंध उपेक्षणीय लगनेवाला नहीं था। उसमें भी त्र्यंबकेश्वर के नानाराव फड़के (मेरे भाई के चचेरे ससुर), हमारे मामा आदि बड़े-बूढ़े संबंधियों का अति आग्रह था। मेरी भाभी और भाऊराव की पत्नी और विशेषकर उनकी सयानी कन्या का स्नेह और कुछ संबंध भी था। विवाह का प्रश्न उपस्थित होने के पूर्व ही उस कन्या को भाऊराव चिपळूणकर ने एक बार आठ दिन हमारे यहाँ रहने के लिए भेजा था। उस कन्या का भी यही विचार था कि वह इसी घर में आए। ऐसी परिस्थिति में मामा से 'न' कहना मेरे लिए बहुत ही कठिन हो गया। तब अंत में मैंने एक शर्त रखी—यदि मेरे कॉलेज की पढ़ाई का भार भाऊराव चिपळूणकर सँभालने को राजी हों और यदि वे वैसा स्पष्ट वचन दें, तो मैं विवाह कर लूँगा। उन्होंने इसपर मुसकराते हुए कहा—'तात्या की पढ़ाई? अपने पुत्र की पढ़ाई की

व्यवस्था मैं करूँगा, इस बात का जैसे मुझे किसीको वचन देने की आवश्यकता नहीं है। ऐसा ही होगा। यह तो मेरा कर्तव्य है।'

उनके शब्द पर भरोसा करके दहेज आदि का कोई झगड़ा न कर मैं विवाह के लिए राजी हो गया। यद्यपि आज मेरे विवाह का सुपरिणाम निश्चितता के साथ कहा जा सकता है, पर उस समय जल्दी-जल्दी में विवाह के लिए दी हुई सम्मति बहुतांश में मुझे ही देनी पड़ी थी। सम्मति गलत तो नहीं होगी, ऐसी धुकधुकी मन में लगी हुई थी, क्योंकि जिस शिक्षा की व्यवस्था की बात पर मैं राजी हुआ था, वह केवल मौखिक थी। परंतु वह मौखिक बात भाऊराव चिपळूणकर की है, इसी पर ही आश्वस्त होकर बाबा ने भी अनुमति दी थी। अंततः नासिक में सन् १९०१ के माघ (अप्रैल) माह में मेरा विवाह श्री चिपळूणकर की ज्येष्ठ कन्या से हुआ। भविष्य में कभी भी पश्चात्ताप करने का कोई कारण उपस्थित नहीं हुआ। यह वैवाहिक संबंध भाग्य से इतना शुभप्रद और सुखकारी हुआ। इस संबंध के कारण मैं शिक्षा की, बड़प्पन की ऊँची-से-ऊँची सीढ़ी चढ़ने और अपने जीवन का जो मुख्य ध्येय राष्ट्रसेवा, मानवसेवा करने का था, उसमें अधिक ही समर्थ हुआ। अपने देश की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करते यह संबंध किसी भी तरह बाधक नहीं हुआ। व्यक्तिगत सुख? उसका तो मेरे जीवन में विचार ही गौण था।

विवाह के तुरंत बाद ओझर नामक गाँव में श्री जोशी के यहाँ मेरी छोटी साली अर्थात् चिपळूणकर की दूसरी कन्या को देने की बात पक्की होने पर हम सब उस विवाह के लिए ओझर गए। बरात के लोगों में नासिक के प्रख्यात आशु कवि और वकील (जिनका परिचय इस चरित्र ग्रंथ के पहले हिस्से में आया हुआ है) श्री बलवंत खंडूजी पारख भी आए हुए थे। उनकी संगत में दो-तीन दिन काव्य-विनोद में अच्छे कटे। वहाँ एकत्र अन्य लोगों ने भी मेरी काव्य-प्रतिभा की बहुत प्रशंसा की। वहाँ आनंदपूर्वक काव्य-रचना हो रही थी। वे मुझे मराठी आर्या छंद का प्रथम चरण सुनाते और दूसरे चरण की समस्यापूर्ति करने के लिए कहते। उन्हें 'यमक' अलंकार बड़ा प्रिय था। मुझे भी वह प्रिय था। अतः समस्यापूर्ति करते-करते मैं सुंदर यमक की योजना करता। एक बार उनके आर्यार्ध में 'पंधरा' शब्द अंत में आया। उसपर तुरंत सुंदर यमक मुझे नहीं सूझा, फिर भी मैंने 'वसुंधरा' शब्द से समस्यापूर्ति कर दी। उन्होंने फिर मुझे 'कंधरा' शब्द सुझाया। वह वास्तव में बड़ा सुसंवादी यमक था।

एक बार उन्होंने कोई नई रचना सुनाने के लिए मुझसे कहा। मैं उसी सप्ताह नासिक में एक दिन संध्या समय में अपने स्वभाव के अनुसार गोदावरी नदी के घाट पर एकांत सेवन करता हुआ बैठा था। सामने मंदिर था और सांध्य आरती के लिए

मंदिर का घंटा बजने लगा। मेरा ध्यान उस घंटे की ऐतिहासिकता की ओर चला गया। पेशवाई का एक वीर उस घंटे को दिल्ली से जीतकर लाया था और नासिक के इस मंदिर में लगाया था। उस मंदिर का नाम भी उस इतिहास-पुरुष के नाम पर 'नारोशंकर का मंदिर' पड़ गया था। सोचते-सोचते कविता का स्फुरण उसी प्रसंग पर हो गया। वही मेरी नई कविता थी। अतः पारखजी को सुनाई—

> दिल्लीचे पद हालवोनि वरिली तेजे जिही संपदा,
> राहोनि निरपेक्ष वाहुनि दिली श्री शुंभुच्या शंपदा।
> होते ते तुमचे सुपूर्वज असे यत्कीर्तिते ना लय,
> नारोशंकरचे असे कथित से आम्हांसि देवालय॥

[दिल्ली की राजसत्ता को हिलाकर जिसने तेजोरूप बनकर संपदा प्राप्त कर ली और उस संपदा के प्रति कोई मोह न रखते हुए उसे श्रीशंभु के चरणों पर अर्पित किया, ऐसे आपके सुपूर्वज थे। उनकी कीर्ति कभी लुप्त नहीं होगी। नारोशंकर का यह मंदिर हमें यही संदेश दे रहा है]

पारखजी यह काव्य सुन बड़े संतुष्ट हुए। बोले, 'परंतु इस तेजस्वी युवक की क्रांतिकारी कविता उसके स्वयं के तेज से जलकर एक दिन भस्म हो जाएगी।' भविष्यवाणी ही थी वह।

सन् १९०१ का वर्ष समाप्ति की ओर था। ऊपर वर्णित सार्वजनिक और व्यक्तिगत उठापटक में मेरी पढ़ाई पिछड़ गई थी। फिर भी विवाह होते ही जल्दी-जल्दी पढ़ाई कर हाई स्कूल की उपांत्य परीक्षा मैंने दी। उसमें उत्तीर्ण होने के बाद अनुमति लेकर मैट्रिक की परीक्षा देने मैं बंबई चला गया। मैट्रिक की परीक्षा को एक मास रह गया था। अतः सारे काम एक ओर रखकर अध्ययन और केवल अध्ययन करने उस मास बंबई में ही एकांत रहने का निश्चय किया। जहाँ तक स्मरण है, तब मैं पहली बार ही बंबई आया था। एक साथी कोठूर के बालू बर्वे (बलवंतराव बर्वे) भी मैट्रिक में थे। उन्हींकी पहचान से आंग्रेवाड़ी में रहने की योजना मैंने बनाई। मेरा यह बंबई जाना 'मित्र मेला' संस्था से दूर रहने का मानो प्रारंभ ही था। चूँकि मैट्रिक के बाद कॉलेज प्रवेश की अब उत्कट संभावना थी, इसलिए 'मित्र मेला' संस्था अब मित्रों पर ही सौंपने का समय आ गया। कौन पक्का है, कौन कच्चा है, अगली नीति क्या हो, आदि चर्चा अपने समर्पित कार्यकर्ताओं से करने में ही शनिवार की बैठक संपन्न हो गई। इसी समय मेरे पीछे से मेरा कार्य समर्पित भावना से चलाने के लिए दो-चार उत्तम युवकों का आगमन संस्था में हुआ था।

श्री विष्णु महादेव भट

केवल संस्था की दृष्टि से ही लाभकर नहीं, अपितु मेरे व्यक्तिगत स्नेह भाव की दृष्टि से भी श्री विष्णु महादेव भट का उल्लेख मैं प्रमुखता से करना चाहता हूँ। जिस किशोर वय की ये स्मृतियाँ हैं, उसमें वह हमारा 'भाऊ' (भाई) था। अत: 'भाऊ' नाम से उस अवधि की स्मृतियाँ लिखना सुसंगत भी है। वि.म. भट या श्रीयुत् वि.म. भट से उल्लेख करना उसे हमारे किशोर वय से दूर भी ले जाता है।

पर 'भाऊ' नाम लेते ही उस काल के संस्मरण अधिक तरल लगने लगते हैं, तद्रूप दिखने लगते हैं। यही स्थिति मेरे सारे स्नेहीजनों, संबंधियों की है। विशेष बात यह कि 'विष्णु' की जगह 'भाऊ' कहना मैंने ही प्रारंभ किया था और फिर वही नाम घर-बाहर सब जगह प्रचलित हो गया। भाऊ की माँ दूर के संबंध की मेरी मौसी थी, पर भाऊ और मेरा स्नेह इस नाते घनिष्ट नहीं था, वरन् हमारे उस स्नेह के कारण ही वह दूर का नाता पास का हो गया था; पास भी इतना कि यदि मेरी कोई सगी मौसी होती, तो वह भी हम तीनों भाइयों पर इतनी ममता कदाचित् ही बरसाती, जितनी ममता इस दूर की मौसी ने चार-पाँच वर्ष लुटाई। 'भाऊ' तो हमारा मानो चौथा भाई ही हो गया था। जब मेरे विवाह में पहले-पहल अच्छी तरह उससे परिचय हुआ, तब वह अंग्रेजी छठवीं में था। मेरे घनिष्ठ परिचय का जो अधिकतर परिणाम मेरे मित्रों के मन पर होता था, वह जल्दी ही भाऊ के मन पर भी हुआ और दो-तीन सदस्यों द्वारा नियमानुसार प्रस्तावना और मेरे कहने के बाद उसका 'मित्र मेला' में प्रवेश हो गया। कुछ ही माह में हमारे मन इतने एकरूप हो गए, हमारा स्नेह इतना निष्कपट ममता-भरा हो गया और हमारे स्वभाव एक-दूसरे के इतने तद्रूप हो गए कि सन् १९०१ के अंत से सन् १९०६ में (मेरे विलायत जाने के कारण) हमारे एक-दूसरे से दूर होने तक भाऊ जैसा पारिवारिक या सार्वजनिक सुख-दुःख और कर्तव्य में मेरा प्रमुखतम सहयोगी, सहभागी, एकनिष्ठ अनुयायी तथा अभिन्न हृदय स्नेही दूसरा कोई नहीं था। मेरे सैकड़ों स्नेहियों, अनुयायियों में ऐसा दूसरा नहीं मिलनेवाला था। हम समवयस्क ही थे। इकट्ठे ही रहते, खाते और पढ़ते। हमारा वेश एक सरीखा होता।

उसके पिता बचपन में ही 'न' रहे थे। उसकी माँ ने बीसी के अंदर ही आ पड़े वैधव्य के संकट का सामना करते हुए अपने इस प्रथम और इकलौते लड़के को बड़ा किया था। मेरी पहचान होने के बाद से भाऊ ने मुझे अपना आत्मीय और स्नेही ही नहीं, अपना गुरु और पालक भी माना। उसके पारिवारिक या सार्वजनिक जीवन के उन चार-पाँच वर्षों में मैं ही उसका मार्ग प्रदर्शक था। मेरी अनुमति के बिना उसने

उन पाँच वर्षों में एक कदम भी नहीं बढ़ाया। हमारी गुप्त संस्था 'मित्र मेला' में पहले-पहल उसके पूर्व परिचय का कोई भी नहीं था। फिर भी मेरे प्रयास से उस संस्था में उसका प्रवेश हो जाने के बाद उसके अंगभूत गुणों का विकास तेजी से होता गया और वह उस मंडली में भी एकप्राण हो गया। अपने ज्ञान, वक्तृत्व और तत्परता से वह उस संस्था का एक सच्चा, विश्वसनीय, धीर और धुरंधर नेता माना जाने लगा। उसे मैंने इतिहास की अनेक पुस्तकें पढ़ने को दीं। अपनी बुद्धि के अनुसार उनका मर्म भी बताया। काव्य और वाङ्मय, लेखन और वक्तृत्व, तत्त्व और आचार, सामाजिक क्रांति और राजनीतिक क्रांति संबंधी अपने प्राप्त किए सर्वज्ञान में उसे बड़ी आशा तथा उत्सुकता से पारंगत किया। अपने देश को स्वतंत्र करने की अधिक छटपटाहट जिन मुट्ठी-भर युवकों में थी तथा जो उसके लिए किसी भी संकट का सामना कर प्राण-त्याग तक कर देने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थे, और जिन्होंने सशस्त्र क्रांति द्वारा अंग्रेजी राज का तख्ता पलटने के अंग्रेजी आरोप का सामना प्रारंभ में ही किया और उसके भीषण परिणाम भी धैर्य से सहन किए, उन प्रारंभिक स्वतंत्रता-सेनानियों में विपक्ष ने ही बाद में खुले रूप से भाऊ की गणना की थी।

श्री सखाराम गोरे

उस समय 'मित्र मेला' के और बाद में 'अभिनव भारत' के नासिक की ओर के कार्यों की अगुवाई कर जिन्होंने मेरे विलायत-प्रवास की अवधि में उस संस्था को चलाए रखा और ली हुई शपथ अक्षरश: पूरी करते हुए अंत में स्वदेश की स्वतंत्रता के कार्य में अपने प्राण भी न्योछावर कर दिए, वे श्री सखाराम दादाजी गोरे भी पहले मेरे स्नेह की परिधि में और फिर नियत क्रम से उस गुप्त संस्था में प्रविष्ट हुए थे। सखाराम का स्वभाव मेरे ऊपरलिखित भाऊ जैसे सहयोगियों की प्रवृत्ति से बहुत ही अलग था। वह बड़ा मस्तराम, उपद्रवी, परंतु (इस-उस मित्र मंडली में) मिलनसार और निडर था। हाई स्कूल का छात्र था। मैट्रिक की परीक्षा में सबसे अधिक बार अनुत्तीर्ण होने का सम्मान उसे प्राप्त था और उस सम्मान का उपयोग करने के लिए वह पूरे मन से प्रयत्नशील भी रहता था। अपने समय के छात्रों से दो-तीन वर्ष अधिक ही मैट्रिक की कक्षा का छात्र होने के कारण अपने बड़प्पन का अधिकार वह सभी छात्रों पर अभिमानपूर्वक जताता था। उसके राजकाल में दो-चार बार शिक्षक भी बदले। अत: उन्हें भी पुरानी परंपरा हमारे सखाराम गोरे से सीखनी पड़ती थी। 'ऐसे कितने ही मास्टर मैंने देखे हैं,' हाथ मटकाते हुए वह शिक्षकों को चाहे जब यह सुना देता था। कक्षा में अंतिम पंक्ति में बैठने का उसका एक स्थान नियत था, मानो वह उसकी जागीर थी। वहाँ वह निर्विरोध शान से विराजता। उसकी एक

आँख भैंगी थी। यह भी उसके मसखरे उत्पातों में अधिक रंग भरता था, वे उसे शोभा भी देते थे। सातवीं कक्षा में आने के बाद उससे मेरा स्नेह होने लगा। उसके एक भाई भी हमारे आबा दरेकर के ताश-चौपड़ युग में आया करते थे। उसके कारण ये सखारामजी भी उस तिलभांडेश्वर की गली में पहले से ही बार-बार चरण-रज गिराते रहे। सखाराम स्वभाव से जितना नटखट था, उतना ही निडर और उतना ही बड़े दिल का भी था।

'मित्र मेला' में उसकी शपथविधि हो जाने के बाद भी कितने ही दिन उस संस्था की साप्ताहिक बैठक में यह सवारी जब आती थी, तब उस बैठक की गंभीरता में सखाराम की अनुशासनहीनता का सुरंग पैरों के नीचे लग गया है, ऐसा लगा रहता था। उसकी बंदरघुड़की की बत्ती उस सुरंग से लग जाने के कारण यह कहा नहीं जा सकता था कि उस बैठक की गंभीरता कब समाप्त होगी। पर धीरे-धीरे उसका नटखट स्वभाव अस्तमान होने लगा। मेरे कहने पर वह गंभीर होकर बैठ जाता। मेरे संभाषण, संगति और 'मित्र मेला' के संस्कारों के चलते ध्येय-शून्य सखाराम ही ध्येय-भक्त सखाराम हो गया और अंत में स्वदेश की स्वतंत्रता के लिए अनगिनत बार शारीरिक प्रताड़ना सही, प्राण रहते विश्वासघात का एक भी शब्द नहीं बोला और अंत में 'प्राणों का बलिदान करनेवाला बलिदानी सखाराम' कहलाया। परंतु यह सब बहुत बाद में हुआ। जिस समय वह मेरे स्नेहवश 'मित्र मेला' में काम करने लगा, उस समय उस भावी परिवर्तन की कल्पना कौन कर सकता था? वह तो मंडली के लिए एक ऐसी बला था जो किसीको भी बुरी न लगे, उलटी चाहत उपजानेवाली। यही मित्रमंडल में सखाराम गोरे की बड़ी-से-बड़ी पदवी थी। इसके अतिरिक्त खाडे बंधु, सरोदे, शंकर गिर गोसावी, धनप्पा चिवड़ेवाला, देवसिंह परदेसी, खुशाल सिंह, गणपति मगर, मायदेव, घनश्याम चिपळूणकर आदि अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार समर्पण और एकनिष्ठता से संस्था की सेवा करनेवाले अनेक छोटे-बड़े लोग इस वर्ष 'मित्र मेला' के सदस्य बने। मायदेव एक हँसोड़ प्राणी था, परंतु उसका स्वभाव नटखट नहीं था। मेरे उस समय के समर्पित अनुयायियों में उसकी भी गिनती थी, पर वह देशकार्य में हमसे जुड़ा मेरी संगति में आने पर ही। मेरे दूर जाते ही संगति छूटी और उसकी देशकार्य की दिशा भी छूटी। मैंने अंडमान में सुना था कि वह नाटक मंडली में है और विनोदी भूमिकाएँ करता है।

जिन व्यक्तियों का उल्लेख मैंने इस भाग में किया है, उनका तथा अन्य अनेक लोगों का मेरे प्रति जो स्नेह था, वह उनकी संस्था के प्रमुख नेता होने के कारण न होकर मेरे प्रति उनके व्यक्तिगत प्रेम से था। इन सब शिक्षित-अशिक्षित प्रेमियों से मैं खुले मन से व्यवहार करता था। मुझे गुरु मानकर श्रद्धा से सम्मान

देनेवाले उन लोगों को मैं मित्रवत् प्यार से बराबरी का सम्मान देता था और पास बैठा लेता था। उनके आपस के झगड़े सुलझाता था। कौन क्या अध्ययन करे, कौन क्या व्यवसाय करे आदि बातें उन्हें बताता था। उनके पारिवारिक संकटों में उन्हें मदद करता था। इनमें से अधिकतर युवाओं और प्रौढ़ों का, क्योंकि उनमें से अनेक मुझसे बहुत बड़े थे, मुझपर इतना विश्वास और भक्ति थी कि मेरा शब्द उन्हें वेदवाक्य लगता था। मेरे शब्द के आगे अपने माँ-बाप या पत्नी-बच्चों के भी शब्दों को नहीं मानते थे। उन्हें कुछ कहना हो, तो उनके माता-पिता या पत्नियाँ मेरे पास आकर उन्हें समझाने को कहते, क्योंकि मेरा कहा वे सुनेंगे ही—ऐसा उनका अनुभव था। मैंने भी अपने लाभ के लिए या सनक में—उनका मुझपर जो विश्वास था—उसका दुरुपयोग कभी नहीं किया। उनका हित जिसमें हो, उसी बात का अनुरोध मैं उनसे करता था।

जाति-पाँति का अहंकार मुझमें बिलकुल नहीं था। मैं बड़ा हूँ और वे छोटे या अनाड़ी हैं, इस भाव से मैं किसीसे भी व्यवहार नहीं करता था। उलटे मेरे शिक्षित सहयोगी मुझपर यही आरोप लगाते थे कि मैं बिना जाति, व्यवसाय या शैक्षणिक योग्यता देखे सबसे बहुत बराबरी से मिलता-जुलता हूँ और इस कारण मेरे बड़प्पन में कमी आती है। ऐसा बड़प्पन मुझे खोखला और दुर्बल लगता था। समानता का व्यवहार करते हुए भी मेरे स्नेही या अनुयायी मेरे प्रति जो बड़प्पन, आदर या भक्ति प्रकट करते हैं, वही सच्चा आदर है, यही मेरी भावना थी। मेरे सहयोगियों और अनुयायियों की भक्ति और आदर मुझे यदि हमेशा मिलता रहा, तो मैं उसे अपने लगाव और बराबरी के स्नेहशील व्यवहार का समर्थन और समाधान मानता हूँ। परंतु संस्था के काम का बँटवारा करते समय मैं विश्वासपात्रता की परख करके जिसका जो गुण था, उसीके अनुसार उसका चयन करता था। उस काम के लिए मैं चुनाव बहुत कड़ाई से करता था। स्नेह या अनुशंसा नहीं चलने देता था, परंतु केवल व्यक्तिगत बातचीत, हँसी, बैठक, सहायता देना आदि के समय किसीको भी हीन नहीं मानता था। महत्ता का व्यवहार किसीसे भी नहीं करता था, पर इस कारण मेरे वे स्नेही लोग मेरा आदर ही अधिक करते थे, ऐसा मेरा अनुभव है। मेरे उस वय में भी सैकड़ों समवयस्क और प्रौढ़ लोग एवं अनुयायी मुझसे प्रेम तथा भक्ति रखते थे। मैं स्वयं किसीको भी अनुयायी नहीं समझता था। सबसे बराबरी का, स्नेह का ही व्यवहार रखता था।

अनेक लोगों के साथ मैं कभी-कभी संध्या समय या चाँदनी में गोदावरी के किनारे सुंदर मैदान में या उसके आसपास के भव्य और ऊँचे मंदिरों की छतों पर जाकर गप-शप करता था। कभी लाल-सुर्ख तरबूज, सेब, चिवड़ा, पूरी आदि

मँगाकर हम सब एक साथ बैठकर खाते थे। नाई, मराठा, बनिया, किसान, ब्राह्मण, कायस्थ इस तरह का कोई जाति-बंधन तब हममें नहीं रहता था। उस समय स्पृश्य हिंदू भी ऐसे इकट्ठा बैठकर नहीं खाते-पीते थे। एक बार गणगौरी पूजा में किसी ब्राह्मण के यहाँ अपनी इस पद्धति से मिल-बैठकर एक नमकीन पदार्थ हम सब खा आए, तो उसका बहुत हो-हल्ला हुआ। हमारे युवा साथियों को अपने-अपने घरों में इस अनाचार का उत्तर अपने बड़े-बूढ़ों को देने में बड़ी कठिनाई हुई, पर हमारी मंडली का यह 'उपहार', चाय-चिवड़ा का यह मिला-जुला कार्यक्रम चलता ही रहा। हमारे ही, पर कुछ देवभीरु लोग बहुत दिनों तक अपना हिस्सा दूर बैठकर खाते थे। ये लोग पहले-पहले आबा दरेकर द्वारा चूसकर फेंकी गई गन्ने की छोई को भी लाँघने में बड़ा दोष मानते थे। कारण, बाबा दरेकर शूद्र था। उस शूद्र की जूठी चीज रास्ते पर पड़ी हुई हो, तो जातिवंत ब्राह्मण क्या करे—उसे लाँघकर जाए या घूमकर जाए, ताकि उसकी छूत न लगे? उस समय छूत का इतना पागलपन समाज में था। हम उसे तोड़ते चल रहे थे, फिर भी पुराने लोगों की भावनाओं पर मैं बिना कारण चोट नहीं करता था। पर इसके ठीक उलटे छुआछूत की इस मूर्खता-भरी और मारक रूढ़ि को तोड़ने के अपने सुधार कार्यक्रम की अपनी सीमा तक की स्वतंत्रता में वे (पुराने लोग) भी दखल न दें, ऐसा मेरा कड़ा प्रयत्न रहता था। धीरे-धीरे छुआछूत की रूढ़ि पर चर्चा करते-करते और हमारी देखा-देखी इस संस्था के अन्य सदस्य और बाबा भी जाति-समानता के हमारे विचारों को मानने लगे।

चैत्र-वैशाख की चाँदनी में गोदावरी के घाट और मैदान में कुछ इने-गिने मित्रों के संग तरबूज की मीठी-मीठी फाँकें खाते, नाना असंबद्ध विषयों पर चलती चर्चाओं की लहरों पर कहीं-के-कहीं लुढ़कते जाना मुझे तब बहुत प्रिय लगता था। विनोद, परिहास, हँसी-ठिठोली, चुटकुले, कविताएँ, अंत्याक्षरी, चाँद-तारों की बातें, राजनीति, गायन, इतिहास, अभिनय, जाने कितनी-कितनी मजेदार गपें हाँकते हम उन चाँदनी रातों में डूबे रहते। मराठी कवि मोरो पंत का काव्य गाना तो मुझे बहुत प्रिय था। उन्होंने एक सौ आठ रामायणों की रचना की थी। उनमें से कुछ प्रसिद्ध रामायणों का कुछ प्रारंभिक और कुछ अंतिम अंश मुझे कंठस्थ थे, उन्हें मैं अवश्य सुनाता। इतिहास के रम्य, अद्‌भुत प्रसंगों को सुनाता। कितनी मनोबेधक परंतु मनोरंजक गपें होती थीं। उन सब विषयों के आंदोलन का केंद्र होती थी राजनीति ही—स्वदेश को स्वतंत्र करानेवाली बेचैनी की राजनीति। बचपन से ही दस-पाँच लोगों के बीच नाना प्रकार के रंगों की चर्चा करने की मेरी आदत हो जाने से मेरी संभाषण-शक्ति (Conversational Pawer) विकसित हो गई थी।

मन की संसद्

लोग सदा मुझे घेरे रहते। मैं भी उनमें ही रमा रहता, पर बीच में ही मुझे बार-बार एकांत की लहर आती। घर के कमरे में या अगले दरवाजे की छत पर या गंगा के या नारोशंकर के मंदिर की छत पर या घाट पर मैं बीच-बीच में सबको टालते हुए एकदम अकेला जाकर बैठ जाता और मन-ही-मन बातें करता मगन रहता। एकांत में मैं कभी-कभी छोटे-छोटे सुभाषित या कविता भी रचता। जैसे उस समय गोदा-तीर पर बैठे-बैठे रचित यह सुभाषित—

गंगातीरी बिंबित दीप शिखा नचि परंतु कज्जळते।
सज्जन हृदय असेची दोषा त्यजुनी गुणाकडे वळते॥

(गंगा-तट पर जलती दीपशिखा पर कज़ली नहीं आती। सज्जन हृदय ऐसे ही दोषों को त्यागकर गुण की ओर जाता है।)

परंतु अधिकतर मैं ऐसे एकांत में आत्मनिरीक्षण में मस्त हो जाता। मेरे अंगभूत गुण कौन से हैं, किसकी क्या आपत्ति है, उसमें तथ्य कितना है, अतथ्य कितना, मेरी त्रुटियाँ क्या हैं, क्या ठीक है? इन सबका मन-ही-मन विचार राग-रहित दृष्टि से मैं करता। भगूर में था, तब से महीने-दो महीने में एकाध बार मेरे इस मन की संसद् की बैठक होती ही थी। किसी मित्र से झगड़ा हो जाने पर यह प्रकरण ऐसे एकांत समय में मैं ही अपने मन के न्यायासन के सामने प्रस्तुत करता। उसमें विवेक को न्यायाधीश मानता। एक मन मेरे मित्र की बात रखता, दूसरा मन मेरी त्रुटियाँ कहता और कभी-कभी तो मेरे ही विरुद्ध मेरा विवेक निर्णय सुना देता था। लोगों को टालना मेरे लिए कठिन था। बहुत देर तक मेरे न दिखाई देने पर खोज चालू हो जाती। कभी-कभी घर में लोगों की भीड़ हो, गपें चल रही हों और मुझे एकांत की लहर अकस्मात् आ जाती तो मैं संध्या या रात्रि के समय अँधेरे में अपने कमरे की आलमारी या आले में मुँह छिपाए खड़ा हो जाता। दूसरे सोचते, मैं कुछ खोज रहा हूँ या पुस्तक आदि सहेजकर रख रहा हूँ, परंतु मैं उस आलमारी में मुँह छिपाए खड़े-खड़े पूर्ण एकांत का, मन की पूर्ण शांति का सुख भोगता। कोई संकट आने पर, संस्था या व्यक्ति के संबंध में कोई पेंच आने पर मैं एकांत में जाकर अपने मन की संसद् आहूत करता। बिना पक्षपात विचार करने की पक्की शक्ति विकसित होने में यह मेरा मनोरंजक कार्यक्रम बहुत ही उपकारक हुआ, ऐसा मुझे लगता है। बहुत बार काम के कारण या लोगों की भीड़ के कारण व्यग्र होने पर मैं एक ओर जाकर किसी तरह विचार न करते हुए एकांत का लाभ उठाता। मैं उससे प्रसन्न हो

जाता और मेरी कार्य-शक्ति फिर ताजा हो जाती। बचपन में मैं देवी-मूर्ति के सामने ध्यान में डूब जाता। निर्विचार, निःशब्द, एकांत सुख की रुचि मुझमें कहीं से आई है, मुझे ऐसा लगता है।

बाबा द्वारा प्राणायाम-साधना

देवी-मूर्ति के सामने बैठकर ध्यान में डूबने या निर्विचार, निःशब्द, एकांत का सुख लेने आदि से भी कुछ और आगे बढ़कर, चित्तवृत्ति-लय का शास्त्रीय अध्ययन आदि करने तक मेरी प्रगति नहीं हो सकी। 'योग' एक प्रत्यक्ष सिद्ध शास्त्र है, मुझे उस आयु तक इसकी भी जानकारी नहीं थी। एकांत में मन शांत करते हुए जो सहज प्रसन्नता का अनुभव होता था, वही सुख मैंने तब तक प्राप्त किया था, परंतु मेरे बड़े भैया उस समय योगशास्त्र का संपूर्ण शास्त्रीय अध्ययन करने की ओर बड़े निग्रह से प्रयासरत थे। सुयोग्य गुरु आदि कोई नहीं था, पर मिलते-मिलाते साधु-वैरागी से और स्वयं वेदांत ग्रंथ पढ़कर जो उन्हें सूझता, उस मार्ग से वे साधना करते रहते। हमारे निवास के पड़ोस के दातार मंदिर में परदे लगाकर वे प्रातः से मध्याह्न तक जप करते, ध्यान लगाते, कोई मार्ग प्रदर्शक न होते हुए भी प्राणायाम का अभ्यास वे अपने मन से करते रहते थे। इतना ही नहीं, धौति और नेति क्रिया सीखने का भी प्रयास अपने को ही गुरु बनाकर उन्होंने किया था। पंद्रह-बीस हाथ लंबी एक सूती पट्टी वे मुँह से चबाते-चबाते पेट में ले जाते और उसे पेट में घुमाकर पेट को अंदर से धो-पोंछकर फिर मुँह से ही बाहर निकालते। मुझे डर लगा रहता कि निग्रही प्राणावरोध और ऐसे हठयोगी प्रयोग किसी विशेषज्ञ की सहायता के बिना केवल अपनी सूझ के भरोसे निग्रह से करने पर शरीर को धोखा हो सकता है।

वैसा ही हुआ भी। उन्हें भयानक सिरदर्द होने लगा। भूख इतनी तेज लगती कि वे ढेर-की-ढेर रोटियाँ खा जाते। पहले ऐसी किसी बीमारी की परवाह उन्होंने नहीं की। उलटे उन्होंने इन लक्षणों को शुभ ही माना, लेकिन फिर जाने क्या हुआ, उनका सिर सूज गया। सिर की हड्डी इतनी मुलायम हो गई कि अंगुली से दबाने पर दब जाती। सिर पर बड़े-बड़े गोले उभर आए। महीनों वे रुग्ण रहे। फिर भी हठयोग के त्रुटिपूर्ण प्रयोग से ऐसा हुआ, यह मानने के लिए वे तैयार नहीं हुए। परंतु और कोई आशंका है ही नहीं, यह बात हमने उन्हें कठिनाई से समझाई और किसी मार्ग प्रदर्शन के बिना किए जानेवाले हठयोग के उन प्रयोगों को करना बंद करवाया।

केरल कोकिल

महाराष्ट्र में प्रसिद्ध 'केरल कोकिल' मासिक पत्र के संपादक श्री आठवले

'मित्र मेला' में अतिथि होकर आनेवाले थे। उनकी कविता बहुत चुटीली, सरल और मधुर होती थी। 'राधोभरारी', 'स्वदेशी का फटका', 'ससुराल का उपहार' आदि उनके काव्यों का गायन घर-घर में होता था। उन्होंने गीता के श्लोकों का अनुवाद भी किया था। उस मासिक पत्र की पुस्तक-समीक्षा बहुत मर्मभेदी, चुटीली और कभी-कभी ग्रंथकार पर टूट पड़ने जैसी निर्दय भी होती थी। इस मासिक पत्र की कविता-शैली का प्रयोग मैं भी करता था। उसकी उक्त मर्मभेदी तीखी टीका पद्धति के अध्ययन से मुझमें भी लेखन के गुण-दोष का विश्लेषण करने की इतनी तीक्ष्ण दृष्टि आ गई कि कभी-कभी तो वह काक-दृष्टि है, ऐसा मुझे स्वयं भी लगता। उस अवधि के अन्य समाचारपत्र जैसे 'विविध ज्ञान विस्तार' आदि की तरह ही मैं 'केरल कोकिल' भी नियमित पढ़ता था। उसके वाङ्मय की प्रशंसा भी करता। 'मित्र मेला' में बाहर के प्रसिद्ध व विद्वान् लोगों को हम प्रायः बुलाते रहते थे। वैसे ही श्री आठवले भी आनेवाले थे। उनके स्वागत पर एक कविता करने का काम संस्था ने मुझे सौंपा था। नारोशंकर के मंदिर की छत पर चाँदनी में बैठकर मैंने जिस 'दोषभीति मन में रख' कविता की रचना की, उसमें से निम्नलिखित कुछ पद स्मरण आ रहे हैं। मेरे उस वय की कविता के ये नमूना भी हैं—

श्रीमत् शंभु सिर बिराजे गोदावरी सर्वदा
पापक्षालन समुचित करे जो वेष्टिता सर्वदा
दौड़े श्रेष्ठ पद से धोने नीचांग गंगासती
श्रेष्ठा मूर्ति आप भी लगते हमें आए वैसे ही॥ १॥
श्री राजा शिव घोर शत्रु दल ने दादा भरारी भले
दैवी प्रसाद हम पाए वहीं स्तोत्र उनका रचने पर मिले
जिह्वा मेरी जम रही रात-दिन कान मेरे भरे
दृष्टि भी हटती नहीं व्यर्थ तब दर्शन करवाए॥ २॥
श्री गीता जननी तेरी आई तेरे घर तब से
थी रह रही भार्या कीर्ति सेवा करती आदर से
सास के छल से पीड़ित हो भागी भार्या घर से
यह समाचार तुझे देने मेरे धीरज को जिह्वा मिले॥ ३॥
बिंदु-बिंदु से ताल बनता सृष्टि क्रम है स्मरण करो
हिंदू जो हो सके इकट्ठा निर्दालने आगे बढ़ो
जनघाती सुख की कर निंदा राष्ट्रहित में मृत्यु वरण करो
शुक्लेंदुज्ज्वल बीज मंत्र हृदय में संस्था के धारण करो॥ ४॥

आज आकर यहाँ आपने अपने व्यस्त समय में
उपकार किया सत्य आपने पर आशा हमारी बढ़ी
पिलाएँ हमें बोधामृत आज दोष हमारे हरें
थूक गुस्सा अपना हम सेवकों पर दया करें ॥ ५ ॥

(अर्थ—श्रीमान् शंभु के सिर पर सर्वदा विराजमान गोदावरी
पापक्षालन करने हेतु महान मुनियों द्वारा सर्वदा परिवेष्टित
दौड़ती है गंगासती किसी श्रेष्ठ पदस्थित व्यक्ति
की तरह नीचांग विमल करने,
उसी प्रकार तुम्हारी श्रेष्ठा मूर्ति प्रतीयमान
हमारे प्रीत्यर्थ यहाँ उपस्थित ॥ १ ॥

श्री राजा शिवाजी तथा घोर शत्रुदमन करनेवाले
महान् दादा भरारी
इनके बारे में रचाए गए स्तोत्र तुम्हारे द्वारा,
जो हमें सौभाग्य से प्राप्त,
मेरी जिह्वा रात-दिन पाठ करती है उनका,
मेरे कान उन्हें श्रवण करते सदा लुब्ध,
अब मेरी दृष्टि भी हो गई अचल तुमपर,
व्यर्थ ही मैंने उसे तुम्हारे दर्शन कराए ॥ २ ॥

श्रीगीता है तुम्हारी माँ, तुम्हारे घर शीघ्र पहुँच
थी सुखमग्न कीर्ति देवी तुम्हारी सेवा में,
सास की पीड़ा को स्मरण कर मानो भाग गई अब दूर-दूर तक
मेरे कानों के मार्ग से,
यह ज्ञात कराने मेरी जिह्वा जुटा रही है धैर्य ॥ ३ ॥

''बिंदु-बिंदु से बनता तालाब,
इसी सृष्टिक्रम को मन में ध्यान रखो,
हिंदुओं का संगठन कर, दुष्टों का निर्दलन करो,
करते हुए निंदा जनघाती सुख की,
राष्ट्रहित में मृत्यु का वरण करो''
इसी शुक्लेंदु बीजमंत्र को इस संस्था ने
धारण किया है अपने हृदय में ॥ ४ ॥

आज आकर यहाँ आपने व्यस्त समय में
सत्य ही बहुत उपकार किए हैं
परंतु आशा और भी ललचा रही है
कि हमें रसपूर्ण बोध का प्राशन कराकर
हमारे दोषों को नष्ट कर दें,
तुम महान हो, हम जैसे दासों पर
रोष न करके दय कर लो ॥ ५ ॥)

इसी अवधि में मैंने सर वाल्टर स्कॉट की 'लेडी ऑफ दि लेक' नामक कविता का अनुवाद भी 'चुकलेले कोकरू' (भूला हुआ मेमना) शीर्षक से मराठी में किया। सौ-सवा सौ पद थे। 'मित्र मेला' के सार्वजनिक आंदोलन, अपने विवाह के व्यक्तिगत कार्य, कविता, निबंध आदि लेखन की व्यस्तता के बीच ही मैं हाई स्कूल की अंग्रेजी सातवीं परीक्षा उत्तीर्ण हो गया और मैट्रिक परीक्षा के लिए विद्यालय की ओर से भेजे जानेवाले छात्रों की सूची में मेरा नाम आ गया। परीक्षा देने के लिए बंबई जाना था। परीक्षा के लिए महीना-सवा महीना ही शेष रह गया था। अत: सब काम एक ओर रखकर इस माह केवल पढ़ाई करने की ठान कर मैं बंबई आ गया। यह बात मैंने पहले भी कही है। मेरे मित्र बालू बर्वे की पहचान से मैं उसीके साथ आंग्रेवाड़ी में ठहरा। मैंने तन्मयता से पढ़ाई चालू कर दी। उस वाड़ी में एक बड़ा कुआँ था। कूदते-खेलते हुए उसमें नहाना और भोजनालय में भोजन करके दिन भर पढ़ना, यही मेरा कार्यक्रम था। मैंने कभी किसी निजी शिक्षक से नहीं पढ़ा। स्वयं ही पढ़-समझ लेता। उक्त वाड़ी में उस समय एक 'नेटिव ओपिनियन' नामक बड़ा ही पुराना छापाखाना था। उसी नाम का समाचारपत्र भी था। लोकमान्य तिलक के एक विधायक मित्र दादाजी आबाजी खरे भी उसी वाड़ी में रहते थे। एक महीने में मैंने पढ़ाई पूरी कर ली। मैट्रिक की परीक्षा दी। जहाँ तक स्मरण है, बंबई नगर और विश्वविद्यालय देखने का यही पहला अवसर था। परीक्षा के परचे अच्छे हुए।

मुझे लगता है, इसी समय मैं दो-तीन दिन आलीबाग गया और वहाँ मैंने एक सभा में भाषण भी दिया। अविभक्त (संयुक्त) परिवार-पद्धति जैसा कोई विषय था। विषय का विना अच्छा अध्ययन किए गड़बड़ी में ही वहाँ भाषण दे दिया। फिर भी भाषण अच्छा हुआ। भाषण करते-करते मैं बोअर युद्ध में बोअर लोगों की स्वतंत्रता का हरण करनेवाले अंग्रेजों की दुष्ट आकांक्षा पर 'मित्र मेला' की परंपरा में कड़ी टीका करने लगा। वह वहाँ कैसे मान्य होती? सारे सभासद और परीक्षक बेचैन हो उठे। अध्यक्ष ने मुझे टोका और वह अप्रस्तुत हिस्सा छोड़ने के लिए कहा। मैंने

उनकी बात नहीं मानी और बैठ गया। स्वाभाविक ही था कि मुझे पुरस्कार नहीं मिला। वास्तव में अध्यक्ष की बात सही थी। फिर भी अध्यक्ष ने विषयांतर होने के कारण पुरस्कार नहीं दिए जा सकने पर खेद प्रकट किया और मेरे ओजस्वी वक्तृत्व की प्रशंसा की।

मैट्रिक की परीक्षा देकर मैं बंबई से नासिक आया तो वहाँ प्लेग चालू होने के कारण और विश्राम के लिए भी, मैं परीक्षा-परिणाम की प्रतीक्षा में ननिहाल (कोठूर) चला गया। वहाँ मैंने अपने मामा के कहने पर एक काव्य-रचना 'गोदावकिली' का सृजन किया। यह काव्य मराठी कवि मोरो पंत द्वारा रचित 'गंगावकिली' के आधार पर था। कोठूर में गोदावरी का पाट बड़ा सुंदर है। वहाँ के ऊँचे घाट से मैं नदी में कूदता था। इसी घाट पर एकांत में बैठकर मैंने यह कविता लिखी थी। वह पूर्ण हो जाने के बाद गाँव के अनेक प्रतिष्ठित परिवारों के आबालवृद्ध मुझे बुला-बुलाकर वह कविता मुझसे सुनते और बड़े खुश होते। नासिक के एक प्रसिद्ध वकील गोपालराव बिवलकर 'वैद्य' भी प्लेग के कारण स्थानांतरित कर वहाँ आए हुए थे। उन्होंने मेरी माँ को अंतिम प्रसव के समय के प्राण-संकट से वैद्यकीय उपचार द्वारा ठीक किया था। तब से वे हमारे परिवार के हितैषी ही बन गए थे। उन्होंने भी उस वय में कविता करने के लिए मेरी बड़ी प्रशंसा की और मुझे पास बुलाकर पीठ थपथपाई। बीस वर्ष से कम की अवस्था में मेरी भावनाएँ और विचार उसी समय के शब्दों में व्यक्त कर सकनेवाले भाषण, लेख, कविता आदि 'असल' साक्ष्य नष्ट हो जाने से तत्कालीन अच्छी-बुरी जो कुछ कविताएँ अभी भी मुझे स्मरण हैं, वे काव्य के अच्छे-बुरे की दृष्टि से नहीं, बल्कि उस पीढ़ी के चरित्र की दृष्टि से अवश्य संग्रह करने योग्य हैं। वे जितनी स्मरण हैं, उतनी नीचे दे रहा हूँ—

गोदावकिली

गोदावरी तू धन्य धवल
मुनियों की प्रियंकर गंगा
तेरे साथ रहे जो करे
अति दुस्तर भवसिंधु पार ॥ १ ॥

माता नहलाती बाह्यांग
न कभी अंतरंग को
श्री सांब सिर से नीचे आती
धोने अंतरंग को ॥ २ ॥

हमें नहाने पटा बिछा है
नहीं है वह घाट
जगजननि नहलाती अपनी
देह पर अवर्णनीय है बात ॥ ३ ॥

भागते कभी पकड़ने आती
गैड़ती गाल फुलाए गुस्से से
कभी शिला पर बैठ
सुनाती सुस्वर मोहक गीत ॥ ४ ॥

खिले कमल दिखा कहती
नहाए जो पहले उसे मिले
भाँति-भाँति पुचकारकर
माँ यही सदाशीष दे ॥ ५ ॥

पूजा-योग्य ऐसी भूमि में
अनंत देवियाँ होंगी
पर स्वशिशु-पालन करे ऐसी
तुझ-सी नहीं दूजी सती ॥ ६ ॥

अबुद्ध बाल प्रार्थित जननी
तेरे चरणों में
कौस्तुभवासी जनों के योग क्षेम
को तू सदा वहन कर ॥ ७ ॥

सब ही हैं दीन वर्तमान में
भरत खंड हीन हुआ माता
परवशता अति दुःसह हृदय को दे पीड़ा
हृदयस्थ नडगिके नखरे ॥ ८ ॥

उसे तारने आना सदयता से
सारे गाँववासियों समेत
गाँव यदि एक हो उठा जुट
उसका अहित कैसे कोई राव कर सके ॥ ९ ॥

मन्मातुल कुलज जननि
सबको तार दे तुरत मनोहर
होकर तब वंशज कृति सद्कृति से
संतजन मनोहर ॥ १० ॥

गंगे संकट काटनी तू दे
डोंगरे सदा स्थान
तत्सद्वंशज शुचिमति पत्नि सह
वृद्ध भाऊ का उद्धार ॥ ११ ॥

तद्वंशज अण्णा तात्या
वैसे ही शंकरा बाला
घर-रक्षण करे तू उनका
सिद्धि-सिद्धि शंकरा बाला ॥ १२ ॥

गंगे परोपकाररत रख गोपालराव बिवलकर
गुरु के सद्गुरु को जाएँ नित्यतर तरणी
विद्या परीक्षक के लिए जैसी
तरुणस्तव समुत्सुका तरुणी ॥ १३ ॥

कानिटकर बंधुत्रय पावन
दे भक्तिरस की रुचि उन्हें
उनकी वंशवृद्धि होकर
लोगों के मुँह मीठे हों ॥ १४ ॥

गंगे परोपकाररत रख,
गोपलराव बिवलकर
उज्ज्वल यश प्राप्त करे
शस्त्रक्रिया में उनका कर ॥ १५ ॥

गुणज्ञ गुरुजी जाएँ नित्य
नदी पार सद्गुरु पास
परीक्षार्थी के लिए विद्या
या तरुण के लिए समुत्सुका तरुणी ॥ १६ ॥

कुलकर्णी सारे हैं उद्यमी
उनके दोषों को भूलना
ग्रामजनों के मुँह से उनके
रुचिर कृत्यों की हो प्रशंसा ॥ १७ ॥

ख्यात पिता जैसे केशव, हरि, गोपाल
बाल भागवत
होवें सुविद्यारत निज देश-हितार्थ
दक्ष भागवत ॥ १८ ॥

पूर्वजों ने उनकी प्रभु-कृपा से
जागीर में पाया गाँव
सन्मान स्वभूमि सेवा लेकर उनसे
करे भव-पार उनको ॥ १९ ॥
थी वह देवी पहनती स्वतंत्रता
का शुभ जरतारी वस्त्र
उसीकी चिंदियाँ
हम जतन करें अभिमानवश ॥ २० ॥
भेजेगा प्रभु कोई कुशल कारीगर
कभी भविष्य में
तब काम आएँगी यदि हम
सहेज उन्हें जतन करें ॥ २१ ॥
घर डुबोता कलह मिटे
अज्ञता का घमंड समूल जाए
विघ्नों का सीना फूटे और
सत्कुल कीर्ति संपदा प्राप्त करे ॥ २२ ॥
तेरे भक्त शुद्ध बर्वे को
श्रीगंगे सगों के साथ तू तार दे भाऊ को
भव सर्पदंशनाशक प्रभु
भजन ही उपाय है भाऊ को ॥ २३ ॥
चिंता कानन जलाकर अण्णा को
हे जननि सदा शिव दे
कर दीर्घायु, यशस्वी सगे सारे
यह दास चरणों में कहे ॥ २४ ॥
संरक्षा दे मेरे प्रिय मित्र
वासुदेव तात्या को
मेरे साथ ही सद्‌विद्या का
वरदान दे आशुदेवता उन्हें ॥ २५ ॥
दे हमें वर कि जिससे
इन हाथों देश-शत्रु दंडित करें
संग में ही हो उद्धार हम तीनों का
जिससे 'वह पहले' ऐसा झगड़ा न हो हममें ॥ २६ ॥

जननि सकलत्र सदा
दादादना प्रेम-दृष्टि से पालें
यश विभव उन्हें देवे
रक्षा करे गान कुशल गोपाला ॥ २७ ॥

राखो सुज्ञ सुशिक्षित नाना
उसके भाई विनायक को
किल्मिश उनका खाकर
देशहित में उनको बढ़ता देखें ॥ २८ ॥

सुपात्र कर माँ गंगा सद्गति
दानार्थ वापूना सत्य
तू दयावान मुक्त कर उन्हें
जिससे फिर वहु पाप न संचित हो ॥ २९ ॥

कर संरक्षा उन रामभाऊ बर्वे की
पत्नी सहित सबकी
उनका प्रिय दामोदर बने
सुखनिवास सबका ॥ ३० ॥

मेरे सन्मित्र लखापति, बलवंत
नित्य सुपथगामी बनें
विद्यालंकृत होकर पुरस्कार पाकर
राम-हरि को भजें ॥ ३१ ॥

देश का यश बढ़ाने किसान
वर्तमान में अति दीन
धान्य औ' पशु से संपन्न होकर
उनपर पृथ्वी भूमिमता प्रसन्न होकर
धान्य और पशुधन से संपन्न करे ॥ ३२ ॥

बनिया, बढ़ई, ग्वाला, लिंगायत
भील और बेसकर
आपका दरबार विना भेदभाव
रक्षण करे उनका विश्व में सुयशकर ॥ ३३ ॥

गोदा गंगे तेरी राजसभा में वह
शिशु वकिली ऐसी हुई समाप्त
सुकल्पना तर गई जिसपर
उस तेरे जल पर तरंगसम विलीन हुई ॥ ३४ ॥

इस तरह कोतूर में मैं कवि के रूप में इतना प्रसिद्ध हुआ कि वहाँ के नौटंकीवालों ने भी 'लावणी' लिखकर देने का तकाजा किया। उनमें भी जो मेरे मामा के प्रिय थे, उनको मामा द्वारा 'दे दे कुछ लिखकर' कहे जाने पर मैंने 'शराबी', 'दो पत्नियों का पति' आदि एक सीमा तक उपदेशपरक विषयों पर लावणी लिखकर दी।

कोतूर में 'मित्र मेला' की शाखा पहले ही स्थापित थी। मेरे आने से उनकी गतिविधियाँ, बैठकें जोर-शोर से होने लगीं। वय में मुझसे थोड़ी ही छोटी किशोर मंडली भी संस्था में सम्मिलित हो गई। उन किशोरों में से कई आज भी देश-सेवा में लगे हुए हैं। नासिक की 'मित्र मेला' संस्था में श्री म्हसकर के परिचय से सदस्य बने एक श्री अप्पाराव पहेकर नामक एक प्रौढ़ और नासिक के राजनीतिक आंदोलनों में हिस्सा लेनेवाले भी उनमें थे। वे किसी जागीरदार 'बर्वे' के कार-प्रबंधक भी थे। उनके आग्रह पर मैं उस जागीर के गाँव गया और वहाँ उनके बाड़े में मैंने एक भाषण भी दिया। वहाँ के कुछ लोगों को मैंने इकट्ठा किया, 'मित्र मेला' की राजनीति पर उनसे चर्चा की और उन्हें संस्था का सदस्य भी बनाया।

छोटा भाई 'बाल'

कोतूर में मेरे साथ मेरा छोटा भाई बाल भी था। जब हमारे माता-पिता हमें छोड़कर स्वर्गधाम चले गए थे, तब वह छोटा ही था। उसे भी प्लेग ने धर दबोचा था और कई माह तक प्लेग से संघर्ष करने के बाद उसका एक तरह से 'पुनर्जन्म' ही हुआ था। तब से उस बालक को मेरे बड़े भाई और भाभी ने इतने लाड़-प्यार से पाला-पोसा था कि माता-पिता क्या पालते! उस समय से ही वह मेरा भी बहुत प्रिय था। मेरे साथ ही रहता। इस कारण मेरे स्वभाव के ढाँचे में ही वह भी ढलता गया। मेरे व्याख्यानों जैसे व्याख्यान वह भी देता। मेरी लिखी कविताएँ आदि वह कंठस्थ कर लेता और वैसी ही रचना करने का प्रयास करता। मेरे भाषणों और चर्चा में आनेवाले शब्द-प्रयोग, उद्धरण आदि भी वह अचूक स्मरण रखता। 'मित्र मेला' की राजनीति में ये बालक मुझसे भी अल्प वय से घुटते जा रहे थे।

'मित्र मेला' संस्था ने उन किशोरों को स्वदेश, स्वतंत्रता का गायत्री मंत्र सिखाकर मानो उनका धार्मिक व्रतबंध ही कर दिया था। वह संस्था उन बच्चों का मानो राजनीतिक गुरुकुल ही था। मेरी देखा-देखी उस संस्था में उन बच्चों का कर्तृत्व भी विकसित होता गया था। आंदोलनों की मेरी राजनीति और पैंतरों में वे भी पारंगत होते गए। 'मित्र मेला' के इन किशोरों की स्वतंत्र शाखा खुलते ही उसका बाल नेतृत्व मेरे छोटे भाई के आसपास था। मराठी पाँचवीं उत्तीर्ण होकर वह अंग्रेजी

विद्यालय में जाने ही वाला था। उसी संधिकाल में मैं उसे अपने साथ कोठूर ले आया था। वहाँ मेरे आगे-पीछे भीड़ न होने से मुझे बहुत शांति मिली और मुझे उसकी शिक्षा पर अपना ध्यान केंद्रित करने का अवसर मिला। बाल से मैं काव्य, इतिहास, चरित्र, ग्रंथ आदि पढ़वाता और समझाता। कोठूर में उसे घर में ही कक्षा दो तक की अंग्रेजी सिखाने, वीर कथा कहने और उससे लेख, कविता आदि लिखवा लेने में मेरे दिवस बीतते गए।

महान् पेशवा कौन?

प्रख्यात ऐतिहासिक उपन्यासकार श्री हरि नारायण आप्टे एक नियतकालिक 'करमणूक' (मनोरंजन) पत्र भी निकालते थे। वह अपने समय का बड़ा प्रसिद्ध पत्र था—उसमें सब पेशवाओं में महान् पेशवा कौन और क्यों, इस विषय पर एक निबंध प्रतियोगिता आयोजित की गई। मैंने हरि नारायण आप्टे लिखित 'उषाकाल' आदि कई ऐतिहासिक-सामाजिक उपन्यास पढ़े थे। उनका 'करमणूक' भी मैं नियम से पढ़ता था। निबंध प्रतियोगिता में मैंने भी भाग लिया और कोठूर में ही वह निबंध मैंने लिखा। मैं सारे पेशवाओं में माधवराव प्रथम को महान् मानता था। मेरा वह निबंध उस प्रतियोगिता का सर्वश्रेष्ठ निबंध घोषित हुआ, 'मनोरंजन' में प्रकाशित हुआ और मुझे प्रथम पुरस्कार भी मिला।

मैट्रिक परीक्षा के परिणाम की घोषणा की तिथि पास आ जाने पर मैं कोठूर से नासिक आ गया। एक-दो दिन में ही तार आ गया।

मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण

मैं मैट्रिक परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया। यह सुनते ही पारिवारिक दृष्टि से बाबा और भाभी को तथा हमारी 'मित्र मेला' संस्था के लोगों को बहुत आनंद आया। उस संस्था में सम्मिलित युवकों में से मैं ही पहले मैट्रिक उत्तीर्ण हुआ था और वह भी एक ही बार में। संस्था के कारण राजनीति में पड़े छात्रों की पढ़ाई का सत्यानाश होगा, ऐसी भविष्यवाणी करनेवाले हमारे शिक्षक, पालक आदि लोगों के मुँह एकदम बंद हो गए थे। मैं उस संस्था का नेता, सारा समय उसके लिए देनेवाला, मेरी ओर सबकी आँखें थीं। यदि मैं पहले ही अनुत्तीर्ण हो जाता तो उस संस्था की साख उन लोगों की दृष्टि में गिर जाती। अभिभावक लोग वह संस्था छोड़ने के लिए हम छात्रों पर बहुत दबाव डालते और हमें भी मन-ही-मन यह खारा रहता। संस्था की दृष्टि से इससे भी अधिक महत्त्व इस व्यक्तिगत घटना का था और इसलिए सराहनीय भी था। मेरे मैट्रिक होने का अर्थ था कॉलेज में जाना और कॉलेज जाने का अर्थ था

मेरे पीछे-पीछे 'मित्र मेला' के क्रांतिकारी विचारों का भी कॉलेज में प्रवेश होना। इस संबंध में मैं सदा कहा करता था कि नासिक एक जिले का मुख्यालय मात्र है। यहाँ 'मित्र मेला' के क्रांतिकारी विचारों का फैलाव हुआ तो अधिक-से-अधिक जिले के छात्रों और प्रमुख जनता में ही हो पाएगा। वह कार्य उन दो वर्षों में हुआ भी था। परंतु अब महाराष्ट्र के सभी जिलों की भावी तरुण पीढ़ी के चुने हुए और होनहार युवकों का संघ अचानक मेरे हाथ में आनेवाला था। सारे जिलों में घूमते रहने का द्रविड़ प्राणायाम करने से हम बच सकते थे, क्योंकि वहाँ केवल एक बार जाल फेंकते ही महाराष्ट्र के होनहार युवक मिलनेवाले थे। वे युवा हमारे क्रांतिकारी विचारों से उत्स्फूर्त होते ही अपने-अपने घर क्रांतिबीज ले जानेवाले थे। भविष्य में ये युवक ही बी.ए., एम.ए. होकर समाज में प्रतिष्ठित पदधारी होंगे, नेता होंगे। इस प्रकार अपनी क्रांतिकारी संस्था तथा नीति के तत्त्व सभी जिलों में पहुँचेंगे और स्थान-स्थान का नेतृत्व सहज क्रांति पक्ष के हाथों आ जाएगा। क्रांति पक्ष का बल और प्रभाव बढ़कर महाराष्ट्र की राजनीति का स्वरूप पाँच-छह वर्ष में एकदम पलट डालने में बहुत सहायता मिलेगी।

मेरे मैट्रिक उत्तीर्ण होने की घटना को संस्था ने उसी दृष्टि से देखा। प्रवेश-परीक्षा उत्तीर्ण होकर कॉलेज में मेरा प्रवेश लेना अर्थात् संस्था का प्रवेश-परीक्षा उत्तीर्ण होकर उसे भी महाराष्ट्रीय राजनीति में प्रवेश करने की अनुमति मिलने जैसा ही माना गया। इसीलिए सार्वजनिक कार्य में रात-दिन खपाकर भी प्रवेश-परीक्षा पहले झटके में उत्तीर्ण करने के लिए एक विशेष समारोह आयोजित कर बहुत स्नेह से मेरा सम्मान किया गया। क्रांतिकारी विचारों का प्रसार पूरे महाराष्ट्र में करने के लिए इस प्राप्त अवसर का लाभ किस प्रकार लिया जा सकेगा, इसका उपर्युक्त विवेचन एक बार फिर मैंने उस अवसर पर किया और विशेषकर वही प्रयोजन तथा नीति मेरे कॉलेज जीवन का आधार रहेगी, ऐसा संकल्प भी मैंने प्रकट किया।

परंतु ये सारी बातें मेरे कॉलेज में जाने पर ही हो सकती थीं और कॉलेज के व्यय का भार मेरे ससुरजी विवाह तय किए जाने के अवसर पर दिए अपने मौखिक वचन के अनुसार निभाते हैं या नहीं, अभी इसका आश्वासन स्पष्टता से किसीने मुझे नहीं दिया था। इसलिए परीक्षा उत्तीर्ण होते ही मैंने अपने ससुर से इसका पक्का उत्तर देने का निवेदन किया। वे नासिक आए, मुझसे मिले। मैट्रिक उत्तीर्ण होने के लिए बड़े स्नेह से पुत्रवत् शाबाशी दी और कहा कि मैं चिंता न करूँ, कॉलेज में प्रवेश ले लूँ। कम-से-कम इस वर्ष की तो व्यवस्था हो ही जाएगी। मैंने बड़ी अधीरता से पूछा, 'फिर आगे क्या होगा? आधी-अधूरी शिक्षा

ही लेना हो तो वर्ष क्यों बिगाड़ूँ? घर की, बाबा की चिंता मिटाने मैं अभी से कोई नौकरी पकड़ लूँ, यही अच्छा होगा। कॉलेज की शिक्षा पूरी होने तक का भार वहन करने का पक्का आश्वासन मिलने की व्यवस्था होनी चाहिए, ताकि मुझे चिंता न हो। वे मुसकराकर बोले, 'उसकी चिंता मुझे होगी या तुम्हें? तुम कॉलेज तो जाओ।' मामा ने भी कहा, 'अपनी कन्या के भाग्योदय की चिंता तो उनको ही है।'

जो पहला कदम निश्चिंतता से उठाया जा सकता है, वह तो उठा ही लेना चाहिए, ऐसा मन में सोचकर मैंने श्री भाऊराव के प्रति आभार व्यक्त किया और मैं घर लौट आया। इस वचन पर भरोसा कर मैंने पुणे के फरग्युसन कॉलेज में अपना आवेदन प्रस्तुत किया। मेरे वत्सल और दानशील ससुर ने तब से लेकर बी.ए. करके कॉलेज से बाहर आने तक मुझे एक दिन भी पैसे की चिंता नहीं होने दी। कभी-कभी मैंने ही अन्य छात्रों की सहायता भी की, पर मुझे कॉलेज में कभी किसीके मुँह की ओर ताकना नहीं पड़ा। इतने नियम से और खुले हाथों से भाऊराव ने मुझे सहायता पहुँचाई। मैं कम-से-कम व्यय करता और उसका ब्योरा भी भेजता, पर उन्होंने कभी उसे चाहा नहीं। उलटे यह पूछा कि और क्या चाहिए।

मेरे कॉलेज में जाने का निश्चय हो जाने के समाचार से 'मित्र मेला' के सदस्यों को ही नहीं, बल्कि नासिक के मेरे सार्वजनिक आंदोलन की ओर आश्चर्य एवं उत्सुकता से देखनेवाले अनेक वकीलों, संपादकों, प्रौढ़ नेताओं आदि को भी हार्दिक प्रसन्नता हुई। मैट्रिक की परीक्षा भी कोई परीक्षा है? उसमें उत्तीर्ण होना छात्र का केवल व्यक्तिगत या बहुत हुआ तो पारिवारिक आनंद का विषय माना जाना चाहिए, परंतु ऊपर दिए गए कारणों से 'मित्र मेला' संस्था को भी वह सार्वजनिक अभिनंदन का उचित कारण लगे, यह स्वाभाविक ही था। संस्था ने मेरे अभिनंदन के लिए तथा मुझे विदाई देने के लिए एक बैठक आयोजित की। शपथबद्ध सदस्यों के अतिरिक्त अनेक प्रौढ़ नेता, जो मन से संस्था के गुप्त कार्यों और आंदोलन का सहयोग करते थे, भी उस बैठक में आए। उक्त सभा में मैंने 'मित्र मेला' की स्थापना से लेकर उस दिन तक की प्रगति, उस संस्था के ध्येय, नीति, साधन, उसके अनन्य महत्त्व और संभावनाओं तथा उसके महान् भविष्य का समालोचन अपने उत्कृष्ट और आवेशयुक्त भाषण द्वारा प्रस्तुत किया था। मेरे उसी भाषण के सारांश से अपने आत्म-चरित्र के इस दूसरे खंड का भी समारोप करना समुचित समझकर मैंने कॉलेज जाने के लिए नासिक छोड़ा। उस अवधि तक का लेखा-जोखा अर्थात् उस संस्था के विषय में हमारी जो कल्पना थी, उसकी रूपरेखा संकलित रूप से लगभग उसी काल के शब्दों में मैं यहाँ दे रहा हूँ।

'मित्र मेला' का प्रारंभिक इतिवृत्त

'मित्र मेला', जिसका गुप्त नाम 'राष्ट्रभक्त समूह' (राम हरि) था, संस्था का ध्येय भरत खंड को अंग्रेजों की राजनीतिक परतंत्रता से पूरी तरह स्वतंत्र करना ही था। और साधन? इस ध्येय की प्राप्ति के लिए संघर्ष करते हुए जो-जो साधन जिस-जिस समय संपूर्ण स्वतंत्रता रूपी साध्य को अधिकाधिक समीप लाने के लिए उपयोगी होंगे, वे सब स्वीकार्य होंगे—निवेदन-आवेदन से सशस्त्र क्रांति-युद्ध तक जो-जो साधन संभव और उपयुक्त होंगे, वे सब। 'मित्र मेला' के उपर्युक्त दो वर्षों के अंत में उसके हर सदस्य को ही नहीं, उस संस्था की जानकारी रखनेवाले सभी लोगों को इस संस्था का ध्येय और नीति स्पष्टता से ज्ञात हो चुकी थी। अधिक क्या कहें, सरकारी पुलिस को भी इसकी पूरी जानकारी थी।

सन् १८९८ में स्वदेश की स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए सशस्त्र क्रांति-युद्ध प्रारंभ करके भी मारते-मारते मरने की शपथ स्वयं मैंने ही प्रथमत: ली थी। सन् १८९९ के अंत में म्हसकर, पागे और मैं—हम तीनों ने यह शपथ लेकर 'राष्ट्रभक्त समूह' नामक गुप्त संस्था की स्थापना की और जनवरी, १९०० में व्यापक रूप से उसका कार्य करने के लिए 'मित्र मेला' नामक एक सार्वजनिक संस्था स्थापित की।

जिस समय इस क्रांतिकारी संस्था की स्थापना की गई, उस समय के हिंदुस्थान की राजनीतिक स्थिति और प्रगति कहाँ तक पहुँची थी तथा इस क्रांतिकारी संस्था की वास्तविक विशेषता क्या थी—यह समझने के लिए इसकी रूपरेखा और विस्तृत विवरण देना आवश्यक है।

सन् १८५७ के राष्ट्रव्यापी सशस्त्र क्रांतियुद्ध के बाद हिंदुस्थान की राजनीति को न्यायमूर्ति रानडे की पीढ़ी ने बिलकुल ही अलग दिशा दी। वह राजनीति उस समय की अत्यंत असहाय परिस्थिति का सहज परिणाम थी। उसका ध्येय राज्यक्रांति न होकर राज्य-सुधार था। अत: उसके साधन भी सीमित थे। वे वैध (Legitimate) या संवैधानिक (Constitutional) भी नहीं कहे जा सकते थे। उपयुक्त साधन कम पड़ने पर वैधानिक साधनों की ओर ध्यान जाता है। परंतु उस पहली पीढ़ी के नेताओं में से अधिकतर को उपयुक्त साधन कम पड़ेंगे, ऐसा लगता ही नहीं था। रानी विक्टोरिया के घोषणा-पत्र को, रानी के उस जाहिरनामे को वे 'मैग्नाकार्टा' कहते थे। अर्थात् उनमें से अधिकांश को वह सचमुच मैग्नाकार्टा ही लगता था और उसमें दिए गए वचनों का पालन होगा ही, ऐसी उनकी निष्ठा थी।

इस निष्ठा को पूरी प्रामाणिकता से आपसी वार्त्तालाप में भी व्यक्त करनेवाले सैकड़ों राजनीतिक नेता हमने स्वयं उस समय देखे थे। वे सचमुच राजनिष्ठ थे।

इंग्लैंड के राजा को वे न केवल 'हिंदुस्थान का सम्राट्' अपितु 'नः विष्णुः पृथिवीपतिः' वचन के आधार पर विष्णु का अंश मानते थे। अंतस्थ वार्त्तालाप में भी इंग्लैंड के राजा को 'हिंदुस्थान का सम्राट्' न कहने पर वे चिढ़ जाते थे। वे परम देशभक्त थे। हमारे राष्ट्र पर उनके अनेक उपकार हैं, परंतु उनकी राजनीतिक कल्पना और आकांक्षा ऐसी ही थी। 'अमृत बाजार पत्रिका' के संपादक परम देशभक्त मोतीलाल घोष इंग्लैंड के युवराज या राजा के हिंदुस्थान आने पर और निमंत्रण मिलने पर वे उसे देवदर्शन प्राप्त होने जैसा सद्भाग्य मानते। सभा में उनके सामने घुटने टेककर हाथ जोड़ना, यह सब नाटक नहीं था, लाचारी तो थी ही नहीं, संपूर्ण निष्ठा थी। 'अछूत' कहकर अपने धर्मबंधु हिंदुओं को छूने से भी कतरानेवाले काशी के उस पंडितों ने लॉर्ड रिपन की गाड़ी स्वयं बैल बनकर खींची थी। अंग्रेजी राज से अपने देश को अनेक लाभ हुए, यह पीढ़ी इतना ही मानकर संतुष्ट नहीं रहती थी। उनकी मान्यता थी कि हमारे देश का हित हो, इसलिए स्वयं का अहित करके भी दयापूर्वक अंग्रेजों ने वे लाभ हमें दिए हैं। वे केवल लाभ नहीं हैं, अपितु हमारे देश पर अंग्रेजों द्वारा जान-बूझकर किए गए उपकार हैं। अंग्रेजी राज तो 'ईश कृपा' है—उस अवधि के राजनीतिक नेतृत्व और अनुयायियों में पूरी प्रामाणिकता से ऐसा समझनेवाले लाखों लोग थे। बंगाल या महाराष्ट्र में पहली पीढ़ी का जो साहित्य अभी भी उपलब्ध है, उसके आधार पर आज भी यह सब निर्विवाद देखा जा सकता है। हमें तो उन लोगों के प्रत्यक्ष संसर्ग से यह अनुभव हुआ है। सन् १८५७ के सशस्त्र क्रांति-युद्ध जैसा प्रचंड विद्रोह फिर से हिंदुस्थान में न हो, राष्ट्र की राज्यक्रांति की इच्छा भी मर जाए और राज्य-सुधार रूपी आटा-मिले पानी को ही वे दूध मानकर पीते रहें, इस प्रकार पूरे स्पष्ट हेतु से ह्यूम, कॉटन आदि अंग्रेजों ने स्वयं गवर्नर जनरल की कूटनीति के अधीन राष्ट्रीय सभा की स्थापना की।

अर्थात् उस अवधि की सारी राजनीति खुली थी, स्पष्ट थी। सन् १८५७ के बाद गुप्त राजनीति और सशस्त्र क्रांति या विद्रोह केवल पंजाब में रामसिंह कूका के कूकाओं द्वारा और महाराष्ट्र में वासुदेव बलवंत फड़के तथा कुछ अंशों में चापेकर द्वारा ही हुआ था। इसके अतिरिक्त स्वदेश की स्वतंत्रता के लिए गुप्त राजनीति या सशस्त्र विद्रोह आदि कहीं कुछ हुआ ही नहीं। उन क्रांतिकारी वीरों की मृत्यु होते ही वह विरल और तात्कालिक आंदोलन नामशेष हो जाता, क्योंकि उन चालीस-पचास वर्षों में राष्ट्रव्यापी और निरंतर चलती राजनीति तो राज्य-सुधार चाहनेवाले राजनिष्ठ लोगों की या परराजनिष्ठ विधिक आंदोलन चलानेवाले लोगों की ही थी। उसीकी गोद से सुरेंद्रनाथ और तिलक का जन्म हुआ। इन दोनों के पूर्वार्ध अवधि वाले साहित्य से यह बात स्पष्ट हो जाती है। परंतु तिलक तो जाने-अनजाने शिवाजी की

परंपरा की घुट्टी पिए हुए थे। वह उनके रोम-रोम में अंतर्निहित थी। अतः जैसे-जैसे उनकी नीति प्रस्फुटित होती गई, वैसे-वैसे उस प्रथम पीढ़ी की राजनीति तथा तिलक की राजनीति का ध्येय और नीति भिन्न होते चले गए। उनका संघर्ष प्रारंभ हो गया। 'मित्र मेला' के या 'अभिनव भारत' के उदय के समय यह संघर्ष शिखर पर था। तिलक की प्रकट राजनीतिक भाषा यद्यपि पिछली पीढ़ी की ही थी, फिर भी उन (तिलक) की आत्मा शिवाजी के वंश की थी। वे मन से अंग्रेजों के 'राजनिष्ठ' कभी नहीं थे। उन्होंने अंग्रेजों के राजा को मन से कभी भी 'नः विष्णुः पृथिवीपतिः' नहीं माना था। अंग्रेजी राज से कुछ लाभ हुए, परंतु उससे प्राणघातक हानियाँ ही अधिक हुईं, ऐसा तो वे खुले तौर पर ही कहते थे। ह्यूम आदि राष्ट्रीय महासभावाले अंग्रेजों को वे हिंदुस्थान का हितैषी अवश्य मानते थे और अंग्रेज अपने वचनों तथा घोषणाओं का पालन करेंगे, ऐसा भी उन्हें कुछ लगता था। पहले तो सदा ही वे जोर-जोर से यह कहते और लिखते भी थे, परंतु इसीलिए अंग्रेजी राज को वे चाहते थे, ऐसा बिलकुल नहीं था। यदि उस दिन भी किसी शिवाजी का राज्यारोहण होता तो वे बताशे बाँटते। न्यायालय में मृत्यु तक प्रतिज्ञापूर्वक वे कहते थे—'मैं सम्राट् का एक राजनिष्ठ प्रजाजन हूँ।' पर वह मन से हमेशा राजद्रोही ही थे और इसीमें उनका तिलकत्व था।

'अभिनव भारत' के उदय तक तिलक और सुरेंद्रनाथ की दूसरी पीढ़ी की प्रत्यक्ष राजनीति उस विधिक सीमा तक प्रतिबद्ध थी। तब तक 'सुधार' ही सबका ध्येय था। स्वराज (Home Rule) कहना भी कठिन था। यह स्वयं तिलक ही कहा करते थे। साधन भी निवेदन-आवेदन ही थे, पर पहले की अपेक्षा अधिक कड़ी भाषा में लिखे हुए। तिलक-समर्थक निषेध और विधिक प्रतिकार के साधन का भी उपयोग बीच-बीच में कर लेते थे। इस कारण पहली पीढ़ी के मोतीलाल घोष, अय्यर आदि लोग भी उनसे आ मिले। इसी प्रकार तिलक पक्ष भी अधिकतर होम-रूल आंदोलन में जा मिला।

परंतु 'अभिनव भारत' संस्था के उदय तक राजनिष्ठा, अंग्रेजों के उपकार, अंग्रेजों के वचन, रानी की घोषणा अर्थात् मैग्नाकार्टा और हिंदुस्थान के ब्रिटिश सम्राट् के लिए अति पूजनीय भाव और एकांत राजनिष्ठा आदि शब्दों की भाषा की चौखट में बैठ सकें, उतने प्रमाण में 'सुधार'—यही भारतीय राजनीति के प्रमुख नेताओं का ध्येय था, और इस कारण सामान्य जनता भी उसी तोता-रटंत को देशाभिमान की तथा राष्ट्रीय बुद्धि की परमावधि मानती थी। उस समय की राजनीति की यथोचित कल्पना हेतु एक प्रत्यक्ष उदाहरण के रूप में राष्ट्रीय महासभा का एक प्रस्ताव यहाँ देना पर्याप्त होगा। सन् १८९९ में लखनऊ में आयोजित पंद्रहवीं राष्ट्रीय

महासभा की बैठक में बंगाल के प्रसिद्ध देशभक्त श्री रमेशचंद्र दत्त की अध्यक्षता में राष्ट्रीय महासभा के मुख्य भाग का जो प्रस्ताव पारित हुआ, उसमें 'व्यवस्थापिका विधि मंडल में हर जिले का एक-एक लोक-नियुक्त सदस्य लिया जाना चाहिए, विधि मंडल की कार्यवाही के दिन निश्चित हों, प्रस्ताव रखने का अधिकार दिया जाए और हर प्रदेश का एक-एक कार्यकारी मंडल होना चाहिए'—ये माँगें की गई थीं। अर्थात् जिस समय और कोई कुछ भी नहीं कर रहा था, उस समय इन देशभक्तों ने श्रम किया। ये भी उनके उपकार ही हैं। उनके हिसाब से उनका वह साहस ही था और इसके लिए उनके वंशज कृतज्ञ ही रहेंगे। परंतु उस समय की परिस्थिति भिन्न थी। जनता की राजनीतिक आकांक्षा कितनी अल्प और संकुचित थी, यह भी उस प्रस्ताव और इन आंदोलनों से व्यक्त होता है। राष्ट्रीय महासभा के नीचे प्रांतीय सभा थी।

उस समय बंबई प्रांत परिषद्, जिसमें स्वयं तिलक पक्ष उपस्थित रहता था, की बैठक सन् १९०० में सतारा में हुई। उसमें लॉर्ड सैंडहर्स्ट आदि अत्याचारी गवर्नरों का निषेध करनेवाले प्रस्ताव में तिलक को सरकार द्वारा हाई कोर्ट में राजद्रोही घोषित किए जाने पर उन्हें निर्दोष कहना भी प्रांत परिषद् को शोभा नहीं देता था। किंतु वाच्छा, मेथा आदि प्रमुखतम नेताओं का आग्रह आने पर वह उल्लेख हटाया गया। इतना करने के बाद भी सैंडहर्स्ट के निषेध का प्रस्ताव परिषद् के सामने नहीं आ सका। स्वयं तिलक भी निरुपाय हो गए। वाच्छा, चंदावरकर, मेहता आदि राष्ट्रीय महासभा के नेता लॉर्ड हैरिस, लॉर्ड सैंडहर्स्ट आदि कारस्तानी गवर्नरों की मूर्तियाँ खड़ी करने के प्रयास करते रहे। पुणे के साहसी लोगों द्वारा उसका कड़ा विरोध करने के बाद भी चापेकर को फाँसी देनेवाले और लोकमान्य को दंडित करनेवाले उस क्रूर गवर्नर सैंडहर्स्ट की मूर्ति हजारों-लाखों रुपयों का चंदा उगाहकर खड़ी की गई। सारे हिंदुस्थान में विक्टोरिया की स्तुति के गद्गद गीत गाए जाते रहे। बड़े-बड़े राष्ट्रीय उत्सवों (जैसे—गणपति उत्सव) में भी—'देवीश्री विक्टोरिया सार्वभौमिनी' आदि का स्तोत्र पाठ किया जाता। 'होमरूल' शब्द राजद्रोही होने से उसका उच्चार करना संभव नहीं था। ऐसा स्वयं लोकमान्य ही कहते थे।

लाला लाजपत राय तब तिलक की राजनीति की ओर झुकने लगे थे। अरविंद घोष, विपिनचंद्र पाल आदि के नाम तब भी नहीं थे। गांधीजी तो 'गॉड सेव द किंग' प्रार्थना, निरुपाय होकर नहीं, धन्य होकर गाते थे। हिंदुस्थान की राजनीति के आकाश में जब मध्य रात्रि का ऐसा घना अंधकार छाया था, तब उसमें 'अभिनव भारत' का यह तेजपुंज अकस्मात् उदित हुआ। समय से पूर्व ही अरुणोदय होने जैसी बात हो गई। लोग भी डरे। हर जिले का एक-एक प्रतिनिधि विधानसभा में होना चाहिए और लोक-प्रतिनिधियों को विधानसभा में प्रस्ताव रखने का अधिकार होना

महासभा की बैठक में बंगाल के प्रसिद्ध देशभक्त श्री रमेशचंद्र दत्त की अध्यक्षता में राष्ट्रीय महासभा के मुख्य भाग का जो प्रस्ताव पारित हुआ, उसमें 'व्यवस्थापक विधि-मंडल में हर जिले का एक-एक लोक-नियुक्त सदस्य लिया जाना चाहिए, विधि-मंडल की कार्यवाही के दिन निश्चित हों, प्रस्ताव रखने का अधिकार दिया जाए और हर प्रदेश का एक-एक कार्यकारी मंडल होना चाहिए' —ये माँगें की गई थीं। अर्थात् जिस समय और कोई कुछ भी नहीं कर रहा था, उस समय इन देशभक्तों ने काम किया। ये भी उनके उपकार ही हैं। उनके हिसाब से उनका यह साहस ही था और इसके लिए उनके वंशज कृतज्ञ ही रहेंगे। परंतु उस समय की परिस्थिति भिन्न थी। जनता की राजनीतिक आकांक्षा कितनी अल्प और संकुचित थी, यह भी उन प्रस्तावों और इन आंदोलनों से व्यक्त होता है। राष्ट्रीय महासभा के नीचे प्रांतीय सभा थी।

उस समय बंबई प्रांत परिषद्, जिसमें स्वयं तिलक पक्ष उपस्थित रहता था, की बैठक सन् १९०० में सतारा में हुई। उसमें लॉर्ड सैंड्हर्स्ट आदि अत्याचारी गवर्नरों का निषेध करनेवाले प्रस्ताव में तिलक को सरकार द्वारा हाई कोर्ट से राजद्रोही घोषित किए जाने पर उन्हें निर्दोष कहना भी प्रांत परिषद् को शोभा नहीं देता था। किंतु वाच्छा, मेथा आदि प्रमुखतम नेताओं का आक्षेप आने पर वह उल्लेख हटाया गया। इतना करने के बाद भी सैंड्हर्स्ट के निषेध का प्रस्ताव परिषद् के सामने नहीं आ सका। स्वयं तिलक भी निरुपाय हो गए। वाच्छा, चंदावरकर, मेहता आदि राष्ट्रीय महासभा के नेता लॉर्ड हैरिस, लॉर्ड सैंड्हर्स्ट आदि कष्टदायी गवर्नरों की मूर्तियाँ खड़ी करने के प्रयास करते रहे। पुणे के साहसी लोगों द्वारा उसका कड़ा विरोध करने के बाद भी चापेकर को फाँसी देनेवाले और लोकमान्य को दंडित करनेवाले उस क्रूर गवर्नर सैंड्हर्स्ट की मूर्ति हजारों-लाखों रुपयों का चंदा इकट्ठा कर खड़ी की गई। सारे हिंदुस्थान में विक्टोरिया की स्तुति के स्फूर्ति गीत गाए जाते रहे। बड़े-बड़े राष्ट्रीय उत्सवों (जैसे—गणपति उत्सव) में भी—'देवोत्तमे विक्टोरिया सार्वभौमिनी' आदि का स्तोत्र पाठ किया जाता। 'होमरूल' शब्द राजद्रोही होने से उसका उच्चार करना संभव नहीं था। ऐसा स्वयं लोकमान्य ही कहते थे।

लाला लाजपत राय तब तिलक की राजनीति की ओर झुकने लगे थे। अरविंद घोष, विपिनचंद्र पाल आदि के नाम तब भी नहीं थे। गांधीजी तो 'गॉड सेव द किंग' प्रार्थना, निरुपाय होकर नहीं, धन्य होकर गाते थे। हिंदुस्थान की राजनीति के आकाश में जब मध्य रात्रि का ऐसा घना अंधकार छाया था, तब उसमें 'अभिनव भारत' का वह तेजपुंज अकस्मात् उदित हुआ। समय से पूर्व ही अरुणोदय होने जैसी बात हो गई। लोग भी डरे। हर जिले का एक-एक प्रतिनिधि विधानसभा में होना चाहिए और लोक-प्रतिनिधियों को विधानसभा में प्रस्ताव रखने का अधिकार होना

महासभा की बैठक में बंगाल के प्रसिद्ध देशभक्त श्री रमेशचंद्र दत्त की अध्यक्षता में राष्ट्रीय महासभा के मुख्य भाग का जो प्रस्ताव पारित हुआ, उसमें 'स्थानीय विधि मंडल में हर जिले का एक-एक लोक-नियुक्त सदस्य लिया जाना चाहिए, विधि मंडल की कार्यवाही के दिन निश्चित हों, प्रस्ताव रखने का अधिकार दिया जाए और हर प्रदेश का एक-एक कार्यकारी मंडल होना चाहिए'—ये माँगें की गई थीं। अर्थात् जिस समय और कोई कुछ भी नहीं कर रहा था, उस समय इन देशभक्तों ने इतना किया। ये भी उनके उपकार ही हैं। उनके हिसाब से उनका वह साहस ही था और इसके लिए उनके वंशज कृतज्ञ ही रहेंगे। परंतु उस समय की परिस्थिति भिन्न थी। जनता की राजनीतिक आकांक्षा कितनी अल्प और संकुचित थी, यह भी उस प्रस्ताव और इन आंदोलनों से व्यक्त होता है। राष्ट्रीय महासभा के नीचे प्रांतीय सभा थी।

उस समय बंबई प्रांत परिषद्, जिसमें स्वयं तिलक पक्ष उपस्थित रहता था, की बैठक सन् १९०० में सतारा में हुई। उसमें लॉर्ड सैंड्हर्स्ट आदि अत्याचारी गवर्नर का निषेध करनेवाले प्रस्ताव में तिलक को सरकार द्वारा हाई कोर्ट में राजद्रोही घोषित किए जाने पर उन्हें निर्दोष कहना भी प्रांत परिषद् को शोभा नहीं देता था। किंतु वाच्छा, मेथा आदि प्रमुखतम नेताओं का आक्षेप आने पर वह उल्लेख हटाया गया। इतना करने के बाद भी सैंड्हर्स्ट के निषेध का प्रस्ताव परिषद् के सामने नहीं आ सका। स्वयं तिलक भी निरुपाय हो गए। वाच्छा, चंदावरकर, मेहता आदि राष्ट्रीय महासभा के नेता लॉर्ड हैरिस, लॉर्ड सैंड्हर्स्ट आदि कष्टदायी गवर्नरों की मूर्तियाँ खड़ी करने के प्रयास करते रहे। पुणे के साहसी लोगों द्वारा उसका कड़ा विरोध करने के बाद भी चापेकर को फाँसी देनेवाले और लोकमान्य को दंडित करनेवाले उस क्रूर गवर्नर सैंड्हर्स्ट की मूर्ति हजारों-लाखों रुपयों का चंदा उगाहकर खड़ी की गई। सारे हिंदुस्थान में विक्टोरिया की स्तुति के रद्दी गीत गाए जाते रहे। बड़े-बड़े राष्ट्रीय उत्सवों (जैसे—गणपति उत्सव) में भी—'देवीश्री विक्टोरिया सार्वभौमिनी' आदि का स्तोत्र पाठ किया जाता। 'होमरूल' शब्द राजद्रोही होने से उसका उच्चार करना संभव नहीं था। ऐसा स्वयं लोकमान्य ही कहते थे।

लाला लाजपत राय तब तिलक की राजनीति की ओर झुकने लगे थे। अरविंद घोष, विपिनचंद्र पाल आदि के नाम तब भी नहीं थे। गांधीजी तो 'गॉड सेव द किंग' प्रार्थना, निरुपाय होकर नहीं, धन्य होकर गाते थे। हिंदुस्थान की राजनीति के आकाश में जब मध्य रात्रि का ऐसा घना अंधकार छाया था, तब उसमें 'अभिनव भारत' का वह तेजपुंज अकस्मात् उदित हुआ। समय से पूर्व ही अरुणोदय होने जैसी बात हो गई। लोग भी डरे। हर जिले का एक-एक प्रतिनिधि विधानसभा में होना चाहिए और लोक-प्रतिनिधियों को विधानसभा में प्रस्ताव रखने का अधिकार होना

चाहिए, यह राष्ट्रीय महासभा की बड़ी-से-बड़ी माँग थी। वैसी मध्य रात्रि मे विधानसभा में बहुसंख्य लोग निर्वाचित होने चाहिए, स्थानीय स्वराज, होमरूल की माँग, कॉलोनी के स्वराज की माँग इन सब अगले घंटों के बजने से पूर्व ही, अकस्मात् पूर्ण स्वतंत्रता के ध्येय का यह प्रकट घोष सोई हुई जनता के लिए यदि समयपूर्व अरुणोदय जैसा उत्पाद लगने लगे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं था। पूर्ण स्वतंत्रता को प्राप्त करने के लिए सशस्त्र क्रांतियुद्ध ही अपरिहार्य साधन है, ऐसा जोर देकर कहनेवाले तथा उसके लिए शत्रु के और स्वयं अपने प्राण खुले रूप में दाँव पर लगानेवाले ये मुट्ठी भर युवा ही 'वे सिरफिरे थे'। बुद्धिमान और सयानी जनता को यदि ऐसा नहीं लगता तो 'गुलामी गुलामों की बुद्धि को ही जड़ कर देती है या अपौरुष पौरुष लगता है,'—यह सिद्धांत झूठा हो जाता तो आश्चर्य ही होता।

राजद्रोही! भयानक!! विद्रोही!!! कहकर राज्यसत्ता गुरगुराने लगी। 'सिरफिरे', 'मूर्ख' आदि कहकर सयाने तिरस्कार करने लगे। 'अनिष्ट', 'अकाली', 'आत्मघाती' कहकर हितचिंतक भी गले से पकड़कर पीछे खींचने लगे, पर हमें होश नहीं था, हम मदहोश थे। हमपर तो कोई देवी आई हुई थी, हमें तो शब्द सुनाई दे रहे थे शिवाजी के, कृष्ण के, मैजिनी के, गैरीबाल्डी के, उस भूतकाल के और धन्य! धन्य! कहकर स्वागत करनेवाले उस अजात भविष्यकाल के। उस काल की निशा में और उस भविष्यकाल के जागरण में हम पगला गए थे। तब भी हमें अपना भविष्य ज्ञात था। हमारी संस्था के सदस्य गोविंद कवि ने इस विषय पर एक कविता लिखी थी, जिसे तत्कालीन परिस्थिति के जीवंत साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

> अरे बाप रे! क्या जप रहे हो?
> क्या पागल हो गए हो?
> सिपाही बाबा पकड़ ले जाएगा
> और मार लगाएगा!

इस प्रश्न का उत्तर 'अभिनव भारत' के या जिसे इस संदर्भ में पागलखाने का (रोगी) ही कहें, उत्तर देता है—

> पागल? हाँ सचमुच पागल!
> कंस कंदन, रघुनंदन के समान मैं हूँ
> पागल हूँ मैं स्वतंत्रता का, दास्यमोचन का
> भाइयो, आओ पकड़ो मुझे
> रे म्लेच्छ पामर, बधिर में साचा

मुझे स्वदेश रिपु का रक्त चाहिए
वही अमृत है मेरे लिए
तभी मैं बच सकूँगा
स्वतंत्रता के बंदीगृह में चलो, ले चलो मुझे
पर भारत-भू पर लहराए ध्वज भगवा।

परंतु हम जिस स्वातंत्र्य लक्ष्मी के पूजक हैं, वह किस रूप में हमपर कृपा कर रही है? जिस स्वतंत्रता के हम दीवाने हो गए हैं, वह क्या केवल रक्तपिपासु, आततायी, आसुरी राष्ट्रीय स्वतंत्रता है? नहीं, बिलकुल नहीं। 'अभिनव भारत' की स्पष्ट धारणा थी कि देशाभिमान का अतिरेक देशाभिमान के अभाव जितना ही अनैतिक दुर्गुण है। हिंसा और अहिंसा, सत्य और असत्य, व्यक्ति, राष्ट्र और मानवता की मर्यादा कौन सी है, इस विषय पर प्रति सप्ताह आयोजित होनेवाली 'मित्र मेला' की बैठकों में गहन चर्चा होती रही थी। व्यावहारिक नीति की अति उच्च कसौटी उपयुक्ततावाद को माना जाता है! उपयुक्ततावाद अर्थात् अधिकाधिक मनुष्यों का हित जिसके द्वारा संपन्न हो, वह सद्गुण। इस उपयुक्ततावाद का ज्ञान मुझे जब से हुआ और मैंने स्वीकार किया, तब से अपने उपर्युक्त सारे द्वंद्व उस उपयुक्ततावाद की कसौटी पर कसकर उसके हितकारक स्वरूप की मर्यादा स्पष्ट करनेवाले कई व्याख्यान 'मित्र मेला' में उस अवधि में मैंने दिए थे। हममें धार्मिक एवं सैद्धांतिक प्रवृत्ति के कई सदस्य थे। गुप्त संस्था, शस्त्र-युद्ध आदि शब्दों में पाप की दुर्गंध आती है—ऐसी स्पष्ट शंका उन्होंने कई बार की थी। इसके अतिरिक्त राजनीतिक ही नहीं, ऐहिक क्रियाकलाप भी व्यर्थ हैं। परमेश्वर का अधिष्ठान, दैवी कृपा, जप-तप आदि साधनों से प्राप्त कर पारमार्थिक मुक्ति प्राप्त करना, यही एकमेव साध्य और साधन है, ऐसी चर्चाएँ हमारी बैठकों में पुंडलीक, बाबा (मेरे भाई), म्हसकर आदि ईश्वरप्रेमी लोग अनेक बार करते। इस कारण उनका समाधान करने के लिए उस पारमार्थिक और इस ऐहिक आंदोलन का, साधनों का और ध्येय का समन्वय करने के लिए बार-बार 'धर्म', 'मुक्ति', 'हिंसा' आदि तत्त्व-ज्ञान का डटकर ऊहापोह अपने उस समय के ज्ञान के अनुसार मैं किया करता।

उस अवधि के अपने कुछ निश्चित सूत्र यहाँ देने से संस्था की मेरी मतानुवर्ती नीति-कल्पनाओं का बहुत-कुछ आकलन सहज ही हो जाएगा। गुप्तता और सत्य का समन्वय करते हुए मैं हमेशा कहता कि मनुष्य जाति का हित इन्हीं सारे सद्गुणों के समर्थन का एकमेव सूत्र है। अर्थात् जिस सत्य से कुल मिलाकर मानव का हित होता है, वही सत्य है, वही सद्गुण है, वही धर्म है। परंतु जिस सत्य के कारण

चोर छूट जाता है और साधु फाँसी पर चढ़ाया जाता है, वह सत्य, असत्य है, ऐसा सत्य सद्‌गुण नहीं, दुर्गुण है। वैसे ही रात में जिसे चोरों ने पकड़ा, उसे मुक्त करने के लिए, किंचित् भी विचार न करते हुए, सौ झूठ भी कहे जाने चाहिए। 'धारणात् धर्ममित्याहु: धर्मो धारयति प्रजा:', श्रीकृष्ण की यह नीति सच्ची नीति है। शेष सबकुछ वाग्जाल। अर्थात् जब-जब अन्यायी, दुष्ट शक्ति सत्य पक्ष की बोलती बंद करे, उसकी वाक् स्वतंत्रता ही लूट ले, प्रकट सदाचरण को भी अपराध माना जाए, तब-तब उन शक्तियों का नाश करने के लिए न्याय की सेना को संगठित करने का कार्य आवश्यक हो, तो गुप्तता से भी संचालित करना धर्म-कर्तव्य ही हो जाता है।

श्रीकृष्ण गोकुल में गुप्त रूप से ही बड़े हुए। उनका पालन वहाँ गोकुल में किया जा रहा है, यह समाचार यदि कोई नंद या वासुदेव 'सत्य' का पालन करने के लिए समय से पूर्व ही कंस को जाकर कह देता, तो उसका वह सत्य अक्षम्य अधर्म होता, क्योंकि ऐसे सत्य से मानवता की अपूरणीय क्षति होती। अत: गुप्तता ही उस समय की यथार्थ नीति थी, सच्चा धर्म था। दिल्ली से भागे शिवाजी इस पिटारे में हैं, इस रास्ते गए हैं, ऐसा औरंगजेब को सूचित करनेवाले की जीभ काट डालना धर्म था। महाराष्ट्र के सूर्याजी पिसाल जितने विश्वासघाती देशद्रोही माने जाते हैं, क्या वे वैसे ही सत्यवादी नहीं थे? गुप्तता दुर्गण भी नहीं, सद्‌गुण भी नहीं। उसका उपयोग लोकहितार्थ किया जा रहा है या लोकविरुद्ध, इसपर ही उसका सद्‌गुणत्व या दुर्गुणत्व निश्चित किया जाता है। गर्भाधान अधिकतर गुप्त होता है, लेकिन क्या वह इस कारण पाप माना जाता है? वही बात शस्त्रयुद्ध की है। रावण या कंस के हाथ की जो तलवार पापी, रक्तपिपासु, अधर्मी मानी जाती है, वही राम या कृष्ण के हाथों में यज्ञाग्नि की ज्वाला की तरह निर्मल, पावन-पावक मानी जाती है। वही स्थिति देशाभिमान की है। अपने जो न्याय अधिकार हैं, जिन अधिकारों के कारण अधिक-से-अधिक मनुष्यों का हित साधा जा सकता है, उन राष्ट्रीय अधिकारों के रक्षण और विकास के लिए जो प्रयास करता है, संघर्ष करता है, वही देशाभिमान सद्‌गुण माना जाएगा, परंतु स्वदेश की राक्षसी पिपासा के अधीन होकर जो अन्य देशों के न्यायपूर्ण अस्तित्व या अधिकार का अतिक्रमण करता है, मानव को पीड़ित करता है, या ऐसा देशाभिमान जो अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए दूसरों के घर उजाड़ता है, वह आततायी है। इसीलिए वह अधर्म और दंडनीय हो जाता है।

राष्ट्र सदैव नागरिकों के हितार्थ होता है, होना चाहिए। यह सिद्धांत हम हमेशा ही प्रस्तुत करते रहे। अंग्रेजों के अंग्रेज होने के कारण हमने उनसे कभी द्वेष नहीं किया और करने भी नहीं दिया। इंग्लैंड जब तक हिंदुस्थान पर आततायी

आक्रमण कर रहा है, तब तक ही वह हमारा शत्रु है। यदि वह आततायीपन छोड़ दे तो वह हमारा मित्र हो जाएगा। इसका कारण यह है कि मानव मात्र एक हैं, हम सारे भाई-भाई हैं। इतना ही नहीं, यदि इंग्लैंड की न्यायपूर्ण स्वतंत्रता को कोई दूसरा आततायी राष्ट्र अन्याय और अनीति से नष्ट या तहस-नहस करना चाहे तो हम इंग्लैंड की मुक्ति के लिए भी ऐसे ही लड़ेंगे-भिड़ेंगे। हमारी अनेक बार प्रकट की गई प्रतिज्ञा होती थी—हमारी सच्ची जाति मानव, मनुष्य है; सच्चा धर्म मानवता, मानव धर्म। वास्तविक देश पृथ्वी, सच्चा राजा ईश्वर। ऐसी सारी हमारी अति उदात्त भावनाएँ हैं। बिलकुल इन्हीं शंब्दों और भावना से हम तब से उसका घोष करते रहे हैं। अर्थात् जिस स्वतंत्रता के लिए हम संघर्षरत थे, उसका स्वरूप भी ऐसा ही व्यापक था।

आज की परिस्थिति में हिंदुस्थान में अन्य सब तरह की स्वतंत्रता, मुक्ति, यहाँ तक कि व्यक्ति की पारमार्थिक मुक्ति भी राजनीतिक स्वतंत्रता के बिना बौनी, सीमित और कुंठित है। इसलिए वह राजनीतिक स्वतंत्रता ही हमारा वर्तमान काल का ध्येय, लक्ष्य, धर्म, पारलौकिक साधना है। आत्मिक उन्नति राजनीतिक दासता में कैसे बँधी रहती है और धर्म के लिए भी आज राजनीतिक स्वतंत्रता क्यों आवश्यक है, यह तो मुझे बार-बार सिद्ध करके दिखाना पड़ता था। शिवाजी के गुरु रामदास के कथन 'तीर्थक्षेत्रे भ्रष्टली' (तीर्थक्षेत्र भ्रष्ट हुए) जैसे वचनों को लेकर कितनी बार मुझे प्रवचन करने पड़े। बल के बिना विचार, शक्ति के बिना न्याय, प्रयत्न के बिना भाग्य, भौतिकता के बिना आत्मिकता, ऐहिकता के बिना पारमार्थिकता पंगु है, अपूर्ण है आदि का विवेचन करना पड़ता। ऐसा विवेचन प्रस्तुत करते हुए ही 'अभिनव भारत' संस्था का तत्कालीन निकटतम ध्येय अर्थात् राष्ट्रीय स्वतंत्रता किस तरह व्यक्ति एवं राष्ट्र के पारमार्थिक ध्येय के लिए, मुक्ति के लिए विसंवादी नहीं, सुसंवादी है, यह विस्तार से कहना पड़ता था। इस तरह राष्ट्र की राजनीतिक स्वतंत्रता को मुक्ति से जोड़ते हुए पहली स्वतंत्रता के पूर्ण विकास का अर्थ ही दूसरी स्वतंत्रता 'मुक्ति' होता है। यह तत्त्व हमारे बीच के ईश्वरप्रेमी सदस्यों को समझाना पड़ता था, क्योंकि तभी राष्ट्रीय आंदोलन को पाप-कर्म समझकर उसे छोड़ व्यक्तिगत मुक्ति के मार्ग का अनुसरण करने की चाहत रखनेवाले हमारे वे सदस्य इस राष्ट्रीय, लोक-कल्याणकारी राज्यक्रांति के अभिमानी और अनुयायी हो सकते थे। इसके लिए गुरु रामदास ने शिवाजी को जिस 'दासबोध' ग्रंथ के माध्यम से समझाया था, वह एक स्मृतिग्रंथ की तरह काम आता।

उस समय अनेक साधु और संत, रामायणी और प्रवचनकार, गुसाईं और वैरागी जब-तब यही कहते थे कि यह राजनीतिक झंझट व्यर्थ है, ईश्वर की कृपा

हो जाए, बस! ऐसा वे उपदेश देते थे। तब भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता ही उस ईश्वरीय कृपा को प्राप्त करने का इस युग का साधन है, स्वराज के बिना स्वधर्म पंगु है, यह हम उपर्युक्त क्रम से बार-बार सिद्ध करते रहे। 'अभिनव भारत' संस्था का आदि ध्येय, राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति का अर्थ इतना उदात्त था। व्यक्ति, राष्ट्र और मानव-मात्र के ऐहिक एवं पारलौकिक कर्तव्यों का समन्वय एवं संपूर्णता अर्थात् स्वतंत्रता। हमारी स्वतंत्रता अन्य किसी भी तामसी, संकुचित अर्थ के लिए न होकर उपर्युक्त व्यापक भाव के प्रति ही समर्पित थी, यह मेरे द्वारा उन तीन-चार वर्षों में कभी रचित मेरे स्वतंत्रता-स्तोत्र की निम्नलिखित पंक्तियों से भी सिद्ध होता है—

जयोस्तुते श्री महन्मंगले! शिवास्पदे! शुभदे॥
स्वतंत्रते भगवति त्वामहं यशोयुतां वंदे॥ १॥
राष्ट्राचे चैतन्य मूर्त तूं। नीति-संपदांची॥
स्वतंत्रते भगवति, श्रीमती राज्ञी तूं त्यांची॥ २॥
जे-जे उत्तम, उदात्त, उन्नत, महा, मधुर ते ते॥
स्वतंत्रते भगवति, सर्व तव सहचारी असते॥ ३॥
मोक्ष, मुक्ति ही तुझीच रूपे तुलाचि वेदांती॥
स्वतंत्रते भगवति, योगिजन परब्रह्म वदती॥ ४॥
हे अधम रक्तरंजिते। सुजनपूजिते! श्री स्वतंत्रते!
तुजसाठी मरण ते जनन॥
तुजवीण जनन ते मरण॥
तुज सकल चराचर शरण॥
भरतभूमिला दृढालिंगना, कधि देशिल वरदे॥
स्वतंत्रते भगवति त्वामहं यशोयुतां वंदे॥ ५॥

(अर्थ—जयोस्तुते श्री महन्मंगले! शिवास्पदे! शुभदे॥
स्वतंत्रते भगवति, त्वामहं यशोयुतां वन्दे॥ १॥
राष्ट्र की चेतना मूर्त तुम। नीति-संपदा की
स्वतंत्रते भगवति, श्रीमती राज्ञी तुम सच की॥ २॥
जो भी उन्नत, उदात्त, उत्तम, महन्मधुर वह सब
स्वतंत्रते भगवति, तुम्हारे सहचारी वह सब॥ ३॥
मोक्ष, मुक्ति हैं रूप तुम्हारे, तुम्हें ही वेदवेत्ता
स्वतंत्रते भगवति, योगिजन परब्रह्म कहलाते॥ ४॥

हे अधमरक्तरंजिते! सुजनपूजिते! श्रीस्वतंत्रते!
तुम्हारे लिए मरण, है जनन॥
तुम्हारे बिना जनन, है मरण॥
सब चराचर तुम्हारे शरण॥
भरतभूमि का दृढ़ आलिंगन कब करोगी वरदे॥
स्वतंत्रते भगवति त्वामहं यशोयुतां वन्दे॥)

अंग्रेजों सहित संपूर्ण मनुष्य मात्र के कल्याण के लिए, मनुष्यता के परम विकास के लिए ही हमें स्वतंत्रता की आवश्यकता थी। मनुष्य की भौतिक उन्नति ही नहीं अपितु मानसिक, नैतिक और आत्मिक उन्नति भी राजनीतिक परतंत्रता से रुक जाती है। इसलिए भारत को राजनीतिक स्वतंत्रता चाहिए थी। तीस करोड़ आदमियों की मानवता का विकास अवरुद्ध करनेवाली भारत की राजनीतिक परतंत्रता के मानव जाति के ही अध:पतन का कारण बन जाने की प्रबल आशंका होने से उसका उच्छेद, शिरच्छेद करने को हम अपना राजनीतिक कर्तव्य ही नहीं, धार्मिक कर्तव्य भी मानते थे। जैसे रावण का शिरच्छेद राम ने कर्तव्य माना, कंस का शिरच्छेद कृष्ण ने कर्तव्य माना, वैसे ही अंग्रेजों के शिरच्छेद को हम भी कर्तव्य मानते थे। प्राचीन अवतारों की तरह ही 'परित्राणाय साधूनाम् विनाशायच दुष्कृताम् धर्मं संस्थापनार्थाय', यह 'अभिनव भारत' के रूप में ईश्वर ने नया अवतार धारण किया है, ऐसी ही हमारी निष्ठा थी और वह ऐसे ही वचनों से, युक्तिवाद से, शास्त्र के आधार से और वैसे ही तत्त्व प्रवचनों से, हम अनेक अवसरों और अनेक प्रकार से एकदम प्रारंभ से ही प्रकट करते आए थे।

स्वातंत्र्य लक्ष्मी की जय!

सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध के बाद फिर से पूरे भारत में प्रथमत: संघटित कर जिस स्वातंत्र्य लक्ष्मी की हमने प्रकट रूप से जय-जयकार की, उसी स्वतंत्रता का जो रूप हमारे सम्मुख प्रकट हुआ, वह रूप देवी का, दैवी संपत्ति का, दैवी शक्ति का था। हम उस स्वतंत्रता देवी के पूजक थे। वह कोई जड़, कंजूस, जेबकतरे, गलकटे, डॉलर का या 'ड्रेड नॉट' का भुतहा रूप नहीं था। हमारे इस ध्येय के अनुरूप और इस युग की भारतीय आकांक्षा को जो अचूक अभिव्यक्ति दे सके, ऐसे अभिनव भारत की 'जय' शब्द को समाहित कर एक गर्जना 'स्वातंत्र्य लक्ष्मी की जय' हमने हर समारोह और अवसर पर करनी प्रारंभ की।

पूर्व में वर्णित भारत के राजनीतिक जीवन की मध्य रात्रि के घुप्प अँधेरे में जब वह पहली बार वातावरण में गूँजी, तब 'स्वातंत्र्य लक्ष्मी की जय' की ध्वनि से

उस अवधि के अपने को बड़ा माननेवाले नेता भी कंपित हो गए। उन्होंने हमारे इस तरह के सिरफिरेपन के लिए, उनके अहंकारी शब्दों में कहूँ, तो हमारे कान ऐंठने के प्रयास किए, पर अंत में 'काल' ने, युग-शक्ति ने उनके ही कान ऐंठे। किसीकी कुछ भी बात न सुनते हुए हम 'स्वातंत्र्य लक्ष्मी की जय' के मंत्र का जयघोष करते हुए वातावरण गुंजायमान करते रहे। हमारे पत्रों, पुस्तकों और लेखों पर 'स्वातंत्र्य लक्ष्मी की जय' का ध्येय-वाक्य लिखा रहता था। हम 'स्वातंत्र्य लक्ष्मी की जय' का नाद निनादते हुए ही अंत में कारावास गए, अंधेरी कोठरियों में बंद हुए, अंडमान में सड़े, फाँसी चढ़े—परंतु वह सब बहुत बाद में हुआ।

आज वह मंत्र—स्वातंत्र्य लक्ष्मी की जय—पूरे भारत में गूँज रहा है। परंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यह मंत्र नितांत पहली बार, नासिक की उस तिलभांडेश्वर गली की उस गुफा जैसी सीलन-भरी कोठरी में, उस 'अभिनव भारत' की गुप्त मढ़ी में पहली बार हुआ था। वह भारतीय स्वतंत्रता का प्रकट और सुस्पष्ट जयघोष, रणघोष का गर्जन, प्राथमिक गर्जन था। उस समय की परिस्थिति में 'स्वातंत्र्य लक्ष्मी की जय' का जो घोष हमने किया, उसके पूर्व भारत में कहीं भी और किसीने भी जाना-सुना नहीं था। मुझसे भी पूर्व भारत में, अपनी राष्ट्र-माता की स्वतंत्रता के ध्येय का ऐसा व्यापक उदार और महान् ध्वज किसीने फहराया है, यदि ऐसा आगे-पीछे किसी इतिहास से सिद्ध हुआ तो अन्य किसीकी तुलना में मुझे ही अधिक आनंद होगा। मैं स्वयं को धन्य मानूँगा। मेरी मातृभूमि के पैरों में पड़ी शृंखला तोड़ने के लिए प्राणों को हथेली पर लेकर जीवन दाँव पर लगानेवाले वीर पुरुष हमसे भी पहले उत्पन्न हुए थे, यह जानकर हमारी वीरप्रसूता भारत माता और अधिक गौरवान्वित होगी। उसकी इस गोद में जन्म पाने की धन्यता का अधिक उपभोग हम कर सकेंगे।

इन अर्थों में और इस कारण से स्वतंत्रता, पूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता ही 'अभिनव भारत' का सुनिश्चित और सुस्पष्ट ध्येय था, अर्थात् उसका अंतिम साधन था।

सशस्त्र क्रांति-युद्ध

जिस राष्ट्र को किसी भी आततायी और केवल शस्त्रबल के आधार पर सत्ता चलानेवाले मदांध शत्रु के चंगुल से छुटकारा पाना हो, उसे इस जीवन-संघर्ष की धक्का-मुक्की में जो टिकेगा, वह जीवित रहेगा—ऐसे निर्घृण नियम से चलनेवाली सृष्टि में, शस्त्रबल से चलनेवाली उस आसुरी परसत्ता को दैवी शस्त्रबल से ही हतवीर्य किए विना, उस आसुरी परसत्ता का शस्त्र छीनकर तोड़ डालने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रहता। परंतु यदि वैसा सशस्त्र क्रांति-युद्ध लड़ना उस राष्ट्र की

शक्ति से परे हो, तो उसे राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति असंभव होगी। वह रास्ता उस राष्ट्र को छोड़ देना पड़ेगा। बहुत निष्ठुर सिद्धांत है यह? हाँ! यह ऐसा ही है— अपरिहार्यता है यह। विश्व ऐसा ही है। ठंडा-गरम, रात-दिन, पानी जैसी पृथ्वी, पृथ्वी जैसा पानी ये 'वदतो व्याघात' लागू करना जैसे मानव-शक्ति के बाहर का है, वैसे ही जीवन के संघर्ष का सृष्टिक्रम बंद कर देना उसके हाथ में नहीं है। जीना है तो जीने के क्रम को स्वीकार करके ही जीना होगा। उसका सामना करते ही जीना होगा, अन्यथा उसकी बलि चढ़ जाना होगा, मरना होगा।

विश्व का ज्ञात इतिहास छान-छानकर हम थक गए। देवासुरों, इंद्र-वृत्रासुरों, रावण आदि की वैदिक कथाओं से लेकर प्राचीन ईरान, ग्रीस, रोम, अरब, अमेरिका, इंग्लैंड, चीन, जापान, स्पेनिश मूर, तुर्क, ग्रीस, फ्रांस, जर्मनी, ऑस्ट्रिया, इटली आदि के ताजे-से-ताजे इतिहास तक, सारी राज्यक्रांतियों के और राष्ट्र-स्वतंत्रता के इतिहास तक मानवी राजनीति के अधिकतम इतिहास ग्रंथों के पारायण मैंने स्वयं किए हैं और उसपर सैकड़ों व्याख्यान भी दिए हैं। हिंदुस्थान के कुछ प्राचीन और राजपूत, बुंदेल, सिख, मराठा आदि अर्वाचीन इतिहास का पन्ना-पन्ना मैंने छान मारा है, और उस सबसे एक ही निष्कर्ष निकलता देखा है कि 'धर्म के लिए मरना चाहिए', किंतु इतना ही कहने से कार्य पूरा नहीं होता, अपितु गुरु रामदास की जो उक्ति है— 'मरते-मरते भी आततायी को मारो' और 'मारते-मारते अपना राज्य प्राप्त करो'— उसे स्वीकार करना ही स्वतंत्रता की प्राप्ति का भयंकर, परंतु अपरिहार्य साधन है, यशस्वी राजनीति का अनन्य साधन है, जिसे हमारे गोविंद कवि ने कहा, वही। अर्थात् सशस्त्र 'रण के बिना स्वतंत्रता किसे मिली', यही हमारा पक्का निश्चय हुआ। यह निश्चय कोई तामसी अंधेपन या उतावली में नहीं किया गया था। यह किस आधार पर किया गया, इसे मेरा ही एक पद स्पष्ट करता है—

> कि न लिया यह व्रत हमने अंधता से,
> लब्ध प्रकाश इतिहास-प्रकृति अनुसार।

इतिहास-प्रकृति अर्थात् मनुष्य-स्वभाव और सृष्टिक्रम से अर्थात् तर्कशास्त्र से अर्थात् ऐतिहासिक स्वाभाविक और युक्त-अयुक्त का विचारकर पूर्ण निश्चय हो जाने के बाद इस अपरिहार्य दिव्य दाहक में हम अपने प्राणार्पण करने के लिए आगे बढ़े हैं—

> कि न लिया यह व्रत हमने अंधता से
> लब्ध प्रकाश इतिहास-प्रकृति अनुसार।

उस दिव्य दाहक से परिचित हमने
बुद्धिपूर्वक यह सती-व्रत लिया था॥
बुद्धिपूर्वक! नितांत बुद्धिपूर्वक विचार करके।

शौक से नहीं, निरुपाय होकर। क्योंकि जिस सशस्त्र क्रांति-युद्ध को एक साधन के रूप में हम स्वीकार करनेवाले थे, उसका केवल उच्चार भी हमारे प्राण संकट में डालता था, डालनेवाला था। तो फिर उसपर आचरण करने की बात तो निराली ही थी। यह हम पूर्णता से, उसी समय, बल्कि और पहले से ही जानते थे। हम छोटे थे, बच्चे थे, पर तब भी हमारी आँखों के सामने ही चापेकर और रानडे को फाँसी हुई थी। फाँसी पर चढ़ने के पहले उन्हें मारा-पीटा भी गया था। उनके द्वारा चलाई गई केवल दो-तीन गोलियों के कारण पूरा महाराष्ट्र किस तरह सिल-लोढ़े के बीच पीसा गया था, भय से भौंचक होकर काँप रहा था, यह हमने प्रत्यक्ष देखा था और इसमें छल थोड़ा-सा भी नहीं था। यदि कल हम पूरे देश को एक क्रांति-युद्ध में बदलते तो उस छल-बल का लाख गुना अधिक उग्र, बहुरूपियापन देखते। तब प्राणघात, गोलीबारी, कत्लेआम हर दिन के खेल होते। लाखों माताएँ पुत्रहीन होतीं, लाखों बालक अनाथ होते, घर-घर में चूड़ियाँ फूटतीं, नगर-के-नगर उजाड़ होते और उस सबके पूर्व हमारी और हमारे परिवार की राख ही बचती। यह सब हम, कम-से-कम मैं तो जानता ही था।

हम जिस सशस्त्र क्रांति-युद्ध के रास्ते पर कदम बढ़ाने की बात कर रहे हैं, उसके परिणाम दुर्धर, रक्तरंजित और हिंस्र हैं, इसकी पूर्ण कल्पना अपने सहयोगियों को रहे—इसलिए मैं नीदरलैंड, आयरलैंड, इटली आदि देशों में हुए भयानक डंडाशाही और क्रांतिकारियों पर किए गए राक्षसी अत्याचारों के वर्णन स्वतंत्र रूप से व्याख्यानों या लेखन के माध्यम से स्पष्ट रूप से करता था। तुम्हें तिलक की तरह केवल कारावास में बंद नहीं किया जाएगा। तुम्हारी पिटाई निर्दयतापूर्वक की जाएगी। तुम्हें यातनाएँ दी जाएँगी। भूखा तड़पाया जाएगा। माता-पिता और पत्नी-बच्चों को खींचकर तुम्हारे सामने अपमानित किया जाएगा। उनकी लज्जा उतारी जाएगी। तुम अपने देहदंड तो सहने योग्य कठोर हो, पर तुम्हारे निरपराध संबंधियों पर किए जानेवाले दारुण अत्याचारों से तुम्हारे मन के धीरज का बुर्ज ढहने पर रोते हुए अपने षड्यंत्र की जानकारी तुम स्वयं ही दे दो, यह उनकी चाल होगी। उस वीर बंदा वैरागी के सामने उसके सलोने बालक को मारकर उसका कलेजा उसी वीर बंदा के मुँह में जैसे ठूँसा गया, वैसा तुम्हारे साथ भी होगा। गरम सँडसी से तुम्हारी आँखें निकाल लेने के बाद भी तुम झुके नहीं तो तुम्हारी आत्मा, तुम्हारे हृदय, तुम्हारे

प्रिय-से-प्रिय संबंधी की देह लाल सँडसी से नोची जाएगी, ताकि तुम हतबल हो जाओ। फाँसी से अधिक असह्य दैहिक और मानसिक अत्याचारों से तुम्हें झुकाया जाएगा। इतिहास में जैसे अत्याचार हिंदू और प्रोटेस्टेंट धर्मवीरों ने सहे, वैसे क्या तुम सहन कर सकोगे? तुम अपने देश की स्वतंत्रता के लिए, मनुष्य जाति के हित के लिए नए युग के धर्मवीर, राष्ट्रवीर बन सकोगे क्या? यह सती-व्रत इतना अधिक उग्र है, दाहक है, इसे धारण कर सती की तरह जीवित जलती चिता पर चढ़ने का साहस तुममें है या नहीं? यदि है तो यह सब जानकर ही इस क्रांतिकारी रास्ते पर आगे बढ़ने का प्रयास करना। पिछले इतिहास में क्रांतिकारियों पर किए गए अत्याचारों के वर्णन के भीषण चित्र सामने रखकर मैं अपने सहयोगियों से पूछता था। गलती से नहीं, अज्ञान से नहीं, पूर्ण विचार कर अर्थात् उस समय की अपनी भाषा में मैं उनसे कहता—

उस दिव्य दाहक से परिचित हमने
बुद्धिपूर्वक यह सती-व्रत लिया था॥

तीस करोड़ लोगों के इस महान् राष्ट्र को मरने से बचाने के लिए, राष्ट्रीय परतंत्रता के इस महारोग को नष्ट करने के लिए, स्वयं पर और राष्ट्र पर अपरिहार्य शस्त्र-क्रिया करवाकर गुलामी के रोगाणुओं और रोग-ग्रंथी को काटकर निकाल फेंकना केवल आपद्धर्म ही नहीं, अपितु नीति की दृष्टि से भी अति पवित्र कर्तव्य है। अपरिमित हिंसा टालने के लिए, दुष्टों की उत्पत्ति रोकनेवाली किंचित् हिंसा ही वास्तविक अहिंसा है, यह बात मन में समा गई थी। इसलिए हमने सशस्त्र क्रांति का बीड़ा उठाया। फिर भी यह भूलना न होगा कि यदि किसी जादूगर के छू-मंतर से हिंदुस्थान को स्वतंत्र करके अंग्रेज अपने-आप निकल जाने के लिए राजी हो जाएँ तो किसीसे भी अधिक खुशी हमें हुई होती। जिस राष्ट्रप्रेम के कारण हम स्वयं पर यह अघोर आपत्ति ओढ़ लेने के लिए तैयार थे, वह मातृभूमि का और अपना रक्त छलकाने की हमें कोई हौंस नहीं थी। जीवन और तरुणाई के मोहक सुख भोगने की लालसा हममें भी थी। सरल देशभक्ति का ढोंग और अपने जीवन को संकट में न डालते हुए प्राप्त होनेवाला बड़प्पन हम भी प्राप्त कर सकते थे। वह तो उस काल की रीति ही थी। उसीकी तरह देशभक्ति की सीढ़ियाँ चढ़ने, हाईकोर्ट की जजी अथवा लोक-नेतृत्व के उच्चासन का सुख भोगना हमारे लिए तो बहुत ही सरल था। पर देशभक्ति की सीढ़ियों से फाँसी पर चढ़ गए पुणे के चापेकर का और झाँसी की रानी का अति उग्र जो मार्ग हमने स्वीकार किया था, वह किसी शौक के कारण संभव ही नहीं था।

इसलिए उदारवादियों के आवेदन-निवेदन या उग्रवादियों के निषेध, विधिगत प्रयासों या स्वदेशी, बहिष्कार, करबंदी आदि शांतिपूर्ण या निःशस्त्र प्रतिकार से या अन्य किसी उपाय से 'यदि' स्वतंत्रता मिल सकती हो, तो हमें वह चाहिए थी। परंतु वह 'यदि' असंभव है, ऐसी हमारी निश्चित धारणा थी। फिर भी इन सब निःशस्त्र रास्तों से उस अंतिम शस्त्र-क्रांति के यज्ञ के लिए आवश्यक सिद्धता और क्षमता राष्ट्र में उत्पन्न करना आवश्यक था। यह हम जानते थे कि उस सीढ़ी से चढ़ते-चढ़ते मनुष्य अंतिम सीढ़ी भी चढ़ सकता है। इसीलिए हमारे कार्यक्रम में उन सब उपायों का और साधनों का भी समावेश प्राथमिक पाठशालाओं की तरह ही किया जाता था। सामाजिक, औद्योगिक, शैक्षणिक, साहित्यिक, राजनीतिक निवेदन, निषेध, विधिगत बाधा और निःशस्त्र प्रतिकार आदि सभी प्रकार के आंदोलन निर्धारित विशिष्ट कक्षा, परिस्थिति और मात्रा में हमें चाहिए थे। परंतु वे अंतिम सशस्त्र क्रांति के कार्यक्रम में सहयोगी होने की संभावना के अनुपात में चाहिए थे। अधिक क्या कहें, सरकारी नौकरियाँ भी उसी दृष्टि से विशिष्ट शर्तों पर हमारे लिए उपयोगी थीं। इतना ही नहीं, इस बहाने हर सरकारी विभाग में अपने व्यक्ति घुसाने की हमारी योजना थी। इस कारण हम राष्ट्रीय सभा या अन्य अवसरों पर दरिद्र लगनेवाली उदारवादियों की इस माँग के समर्थक थे कि 'वरिष्ठ अधिकारी पदों पर भारतीय नियुक्त किए जाएँ।' सारांश यह कि 'अभिनव भारत' का अंतिम उद्देश्य यद्यपि पूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता ही था परंतु इस बीच प्राप्त होनेवाला हर सुधार और अधिकार जाते-जाते जेब में डालने के पक्षधर हम थे। उसी तरह अंतिम साधन सशस्त्र क्रांति होते हुए भी जिस मात्रा में और जिस परिस्थिति में अन्य कोई भी साधन उस उद्देश्य की प्राप्ति के अनुकूल हो, वह सब साधन भी उपयोग में लाने के लिए हम तैयार थे।

सशस्त्र क्रांति के बिना स्वतंत्रता मिलना संभव नहीं है, यह निश्चित हो जाने के बाद पहला प्रश्न उपस्थित होता था—ठीक है, बात एकदम सही है, परंतु वह सशस्त्र क्रांति इस निःशस्त्र, निर्वीर्य, असंगठित राष्ट्र के लिए कैसे संभव है? 'अभिनव भारत' का कथन था—'हाँ, यह संभव है।' भारत में ईश्वर की कृपा से अभी भी, ऐसी हतबलता और अंग्रेजों जैसे परम बलशाली सशस्त्र शत्रु से सशस्त्र क्रांति-युद्ध लड़ना संभव है। यह है तो अति कठिन, परंतु संभव है। जय? हाँ, मिलेगी। कम-से-कम ऐसे जीने से ऐसे क्रांति-युद्ध में यह राष्ट्र यदि मर भी जाए तो मारते-मारते मरना इस मरते-मरते मरने से कहीं अधिक अच्छा है। फिर 'यदि मरणमवश्यमेव जंतोः किमिति मुधा मलिनः यशः कुरुध्वे?'

यह महान् हिंदू जाति इस धर्मयुद्ध में यदि विजयी नहीं हुई, तो भी कम-से-

कम किसी झाँसी की रानी की तरह—

अभिमुख शस्त्राघाती समरमखा माजी वेचिला काय!
स्वतंत्र कवण मजहून आता कर्तव्य राहिले काय?

(अर्थ—अभिमुख शस्त्राघात पर,
समर यज्ञ में समर्पित देह है,
स्वतंत्र कौन मुझसे अब,
कर्तव्य शेष भी क्या है?)

गर्जना करते हुए गतप्राण होकर अपने आज तक के अस्तित्व को शोभित करे, ऐसे महान् अंत को प्राप्त किए बिना न रहेगी।

मानवता की दृष्टि से भी आततायी के मन में डर बैठे, ऐसा प्रतिशोध लेते हुए मरना हितकर होता है। इससे आततायियों की संख्या घटती है। दूसरे किसी अनामिक को तंग करने की उसकी इच्छा ऐसे प्रतिशोध के डर से सहज संभव नहीं हो पाती। परंतु ग्रहणीय व स्पृहणीय वीरगति प्राप्त करना जिस माध्यम से अभी भी संभव है, उस सशस्त्र क्रांति की वह कौन सी योजना है? 'अभिनव भारत' अपने प्रथम दो वर्ष के अंत में उल्लिखित वृत्तांत की अवधि में भी यही कहता रहा कि जो योजना मैजिनी ने इटली के क्रांतियुद्ध के लिए बनाई, जो आयरलैंड और रूस के क्रांतिकारी उसी परिस्थिति में अपनी क्रांति में उपयोग में लाए थे और सन् १८५७ के क्रांतियुद्ध में भारत उपयोग में लाया था, उस योजना के अधीन छापामार युद्धनीति का सशस्त्र विद्रोह भारत में भी संभव है। उससे विजय-प्राप्ति की भी पर्याप्त संभावनाएँ हैं। सेना और पुलिस में क्रांति का प्रसार और गुप्त क्रांतिकारियों की भरती, रूस आदि परराष्ट्रों से मेल, छापामार युद्ध-पद्धति को स्वीकार करना, अंग्रेजी सत्ता के केंद्र और प्रतिनिधियों पर व्यक्तिगत छापे आते-जाते डालना, राज्यों और सीमापार प्रदेशों में शस्त्र-अस्त्र के भंडार बनाना तथा अंदर घुसने के अवसर की प्रतीक्षा करना, बीच-बीच में यथासंभव छोटे-बड़े विद्रोह करना और इन सबकी सहायता से देश में क्रांति की शिक्षा देना, मरने की घुट्टी, मरने की क्षमता चेताना और इस तरह शत्रु के राजकाज को अधिकाधिक जोखिम-भरा और कठिन करते जाना। अंत में किसी महायुद्ध में अंग्रेजी साम्राज्य की किसी प्रचंड शक्ति से टक्कर होते ही और उसमें अंग्रेजों का बल परस्पर बिद्ध और क्षीण हो जाने पर भारत में भी पूरे जोश का क्रांति-युद्ध चलाकर मुक्त होना, फँस जाने पर पुनः वैसा ही विद्रोह चलाना, मरने तक ऐसे ही मारते-मारते लड़ना, यही हमारी उस अवधि की सशस्त्र विद्रोह की रूपरेखा थी। अंग्रेजों के दस-पाँच आदमी मारते ही वे भाग जाएँगे, ऐसा

दुधमुँहा विचार हमने कभी नहीं किया था। परंतु हमारी निष्ठा थी कि तीस करोड़ जनसंख्या वाला यह राष्ट्र—इसके सब लोग संघर्ष में कभी सम्मिलित नहीं हुए, वे होंगे भी नहीं। फिर भी यदि दो लाख वीर भी ऐसे छापामार युद्ध के संगठन में अखंड, अदम्य, अविश्रांत, वृकयुद्ध लड़ते रहेंगे तो भी अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त कर ही लेंगे। इसमें या ऐसी योजना में ही वह संभावना थी, पर उस सशस्त्र क्रांति-युद्ध को 'बचपना' कहकर पागलपन में धकेल कर जो वयस्क सयाने केवल आवेदन, निवेदन, निषेध, केवल स्वदेशी, समाज-सुधार या निःशस्त्र प्रतिकार के रास्ते से स्वतंत्रता मिलेगी, उनकी उस योजना से तो भारत का स्वतंत्र होना कहीं से भी संभव नहीं था!!!

इन कारणों से हमने इस क्रांति-युद्ध के लिए कमर कसी है। किस शक्ति के भरोसे? केवल हमारी नहीं, अपितु राष्ट्र की! पहले के जिन दो वर्षों का यह समालोचन है, उस अवधि में हम थे केवल सौ-पचास लड़के, किंतु उतने चाकू भी उनके पास नहीं थे; और महासमर लड़ना था महाबली अंग्रेजी सत्ता से! वृत्रासुर का वध करना है और हमारे हाथ में है एक माचिस की तीली! कितना हास्यास्पद! निःसंशय हास्यास्पद!! यह बात अन्य कोई कहे, उसके पहले ही अधिक स्पष्टता से हम जानते थे, पर हम यह भी जानते थे कि हमारी यह संस्था एक यत्किंचित् तीली है, परंतु वह तीली माचिस की है। इतिहास में ऐसी किसी सामान्य तीली ने कभी-कभी किसी बारूद के भंडार पर अपनी अचूक चिनगारी डाल, बारूद को उड़ाकर साम्राज्य को राख के ढेर में बदल दिया था। वैसे ही माचिस की यह तुच्छ तीली एक क्षण में स्वयं जलते-जलते अपनी अंतिम चिनगारी अचूकता से उस बारूद के भंडार पर यदि डाल सके तो उसकी सूक्ष्म चिनगारी के बल से नहीं, अपितु बारूद के उस प्रचंड भंडार के प्रबल विस्फोट से आततायी शत्रु का यह साम्राज्य भी धूल में क्यों नहीं मिल सकता! और वह भी तब, जब उस बारूद के भंडार में इकत्तीस करोड़ का राष्ट्र असंतोष के भयानक विस्फोटक से खचाखच भरा हो, तो प्रयोग करके देखने में क्या हानि है? इस विचार से यह जानते हुए भी कि हमारी शक्ति बहुत कम है, उस बारूद के भंडार को भस्म करने के लिए हमने अपनी प्राण-शक्ति की चिनगारी को फेंकने का निश्चय किया।

उसमें कितनी सफलता मिली? ऐसा प्रश्न काल पर लागू नहीं होता। यह निश्चय हम कर सके, इतना ही उन पहले दो वर्षों का कार्य, युद्ध के पहले की मानसिक योजना, यही युद्ध की प्रथम सिद्धता, पहला शस्त्र, जो रणगीत, जो रणमंत्र का 'हरिओम' करता है, उस एक शब्द का उच्चारण करता है, केवल वही एक बोल एक रणकृत्य होता है।

उस रणगीत की रचना हमने की। बिना लड़े स्वतंत्रता किसे मिली है? यह प्रबल प्रश्न, यह साहसी सिद्धांत प्रकट रूप से हमने राष्ट्र के सामने प्रस्तुत किया, उद्घोषित किया। यह भी एक सद्कृत्य ही था। 'अभिनव भारत' नामक उस संस्था ने उक्त अवधि में या उसके बाद भी और दूसरा-तीसरा कुछ भी नहीं किया होता तो भी इस एक ही कृत्य से उसके अस्तित्व की सार्थकता हो गई होती। उसका अस्तित्व अनन्य महत्त्व पा गया होता। किसी भी प्रबुद्ध क्रिया का आरंभ उसके प्रबुद्ध संकल्प में ही निहित होता है। इसलिए 'अभिनव भारत' के कार्यक्रम को मैंने पहले से ही मन-प्रवर्तन और शरीर-प्रवर्तन, राष्ट्र की मानसिक क्रांति और फिर वास्तविक क्रांति, प्रबुद्ध संकल्प और फिर प्रबल क्रिया, मत-प्रचार और कृति-प्रचार ऐसे अनुक्रम से विभाजित किया था। पहले तीन वर्ष राष्ट्र में इस संपूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता के साधनों के विचार का प्रचार करना और सशस्त्र क्रांति-युद्ध के साधनों के विचार का प्रचार करना, राष्ट्र की मानसिक क्रांति करना आदि कार्यों में अपनी अल्प-स्वल्प शक्ति यथासंभव इसीमें व्यय करने की बात हमने निश्चित की। उन पहले दो वर्षों में हम जो कुछ कर सके, वह इसी दिशा में कर सके। अन्य राजनीतिक आंदोलनों की दिशा ही चूक जाने से परसत्ता के बालुकामय कीचड़ में गप जाने के संकट में पड़ी राष्ट्र की नौका सही दिशा में ले जाने के लिए 'अभिनव भारत' का अचूक दिशाबोधक यंत्र हमने साध रखा था। निष्क्रिय दिशाबोधक यंत्र का कर्तृत्व नौका को चलाए रखना किसी भी क्रिया से कम नहीं होता। कभी-कभी तो जीवन के नौका-दल की सारी क्रिया का सफल या विफल होना केवल दिशाबोधक यंत्र के करतब पर ही अवलंबित रहता है, जैसे अमेरिका खोजने के लिए निकले कोलंबस के साहसी नौका अभियान की नौका एक दिन महासागर में दिङ्मूढ़ हो गई थी।

यह 'अभिनव भारत' के प्रारंभिक दो वर्षों के क्रांतिकारी आंदोलन की रूपरेखा थी। इस संस्था को छोड़कर स्वतंत्रता के दिव्य ध्येय और सशस्त्र क्रांति के दाहक साधनों का इस तरह प्रकट, निरंतर एवं संगठित प्रचार करनेवाली दूसरी कोई छोटी या बड़ी संस्था पूरे हिंदुस्थान में शायद ही कोई हो, संभवत: नहीं थी। उस कमी की भरपाई करते हुए उस समय देश में राजनीति के दो पंथ काम कर रहे थे— उदार (Moderate) और राष्ट्रीय उग्रवादी (Nationalist Extremists)। इन दो पंथों की संस्थाओं में जो सक्रिय कार्य चलते थे, वे भी 'मित्र मेला' ने अपने क्षेत्र में चला रखे थे। कम-से-कम उस अवधि की किसी भी संस्था के समतुल्य कार्य इस संस्था ने मात्र दो वर्षों में किया था। उनके आंदोलनों में भी वह सक्रिय भागीदारी कर रही थी। उसमें भी लोकमान्य तिलक का राष्ट्रीय पंथ उसके अधिक निकट था।

अत: उनके कार्यक्रमों के सारे कार्य 'मित्र मेला' अपने क्षेत्र में अधिक उत्साह से करता था। यह बात स्पष्ट करने के लिए इस खंड में 'मित्र मेला' के ऐसे क्रियाकलापों का जो फुटकर विवरण दिया गया है, उसका यहाँ संक्षिप्त वर्गीकरण आवश्यक है। 'मित्र मेला' के उन पहले दो-तीन वर्षों के प्रत्यक्ष कार्यक्रम में निम्नलिखित क्रियाकलाप भी समाविष्ट थे—

१. **वक्तृत्वो-उत्तेजक सभा**—'मित्र मेला' में वक्तृत्व-कला की शास्त्रीय शिक्षा और प्रायोगिक अनुभव उत्तम रीति से मिलता था। 'अभिनव भारत' शैली के व्याख्यानों की एक नई परंपरा महाराष्ट्र में प्रसिद्ध हुई। बड़े-बड़े धुरंधर व्याख्याताओं की छवि भी मलिन करनेवाले तरुण व्याख्याता 'मित्र मेला' में उदित हुए।

२. **साहित्य संस्था**—निबंध-शक्ति, काव्य-शक्ति और तर्क-शक्ति का भी विकास इस संस्था के द्वारा उत्कृष्टता से होने लगा। मराठी कविता में अत्यंत स्फूर्तिदायक गीतों और सुंदर काव्यों की बढ़ोतरी इस संस्था ने की। तर्कशुद्धता, कोटिक्रम, प्रावीण्य एवं वाद-कौशल में 'मित्र मेला' में तैयार हुए युवक को हतप्रभ करनेवाला युवा मिलना कठिन था। इस संस्था से अनेक वक्ताओं की तरह अनेक प्रसिद्ध लेखक और कवि भी बने। हर कला का शिक्षण और अनुभव इस संस्था की साप्ताहिक बैठकों से निरंतर मिलता था। संभाषण-शक्ति विकसित होती थी। मराठी वक्तृत्व की तरह मराठी भाषा में 'मित्र मेला' पद्धति की काव्यमय, तेजस्वी, प्रदीप्त और प्रबल एक ऐसी नई भाषा-शैली का उदय हुआ, जिसके सामने उस समय की अन्य शैलियाँ निस्तेज लगने लगीं। उपनिषद् और वेदांत, कालिदास और भवभूति, ज्ञानदेव और तुकाराम, वामन और मोरो पंत आदि के ग्रंथों तथा विषयों का अध्ययन और चर्चा इस संस्था में होते रहे। इस कारण उसके सभी तरुण और प्रौढ़ सदस्य अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार साहित्य के रसिक और काव्य-शास्त्र-विनोद के मर्मज्ञ थे।

३. **राष्ट्रीय शिक्षा संस्था**—राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में 'अभिनव भारत' का कार्य उस समय की किसी भी संस्था से अधिक व्यापक, तेजस्वी, परिपक्व और परिणामकारी था। वास्तव में उस जैसी तेजस्वी और राष्ट्रीय शिक्षा देनेवाली दूसरी एक भी संस्था उस अवधि में सुनने में नहीं आई। पृथ्वी गोल है, दो दूने चार, भोजन चबा-चबाकर करना चाहिए, टेम्स नदी इंग्लैंड में है आदि गणित, ज्योतिष, वैदिक, भौगोलिक

आदि ज्ञान छात्रों को सरकारी शाला और राष्ट्रीय शाला क्या समान रूप से ही देंगी? राष्ट्रीय शाला में कोई दो दूने पाँच और पृथ्वी सपाट है, ऐसा नहीं सिखाता। राष्ट्रीय शाला का वैशिष्ट्य यही है कि वह अपने राष्ट्र के भूतकालीन इतिहास का यथार्थ महत्त्व, अपने राष्ट्र पर छाए वर्तमान संकटों की और आवश्यकताओं की तीव्र तथा स्पष्ट अनुभूति और उस संकट से उसे छुड़ाकर उज्ज्वल भविष्य की ओर ले जाने के लिए जी-जान लगाकर संघर्ष करने की आतुरता, सिद्धता और त्याग राष्ट्रीय युवाओं में उत्पन्न करे। केवल राष्ट्रीय नाम लगाकर स्थापित किसी भी प्रचलित विद्यालय या संस्था में ऐसी राष्ट्रीय शिक्षा 'अभिनव भारत' की भाँति नहीं मिलती थी। इतना ही नहीं, उस काल में उसका मिलना संभव भी नहीं था।

सशस्त्र क्रांति के बिना यह स्वतंत्रता अंग्रेजों की जकड़ से छूटना कभी भी संभव नहीं है, इसलिए उस सशस्त्र क्रांति-युद्ध में कम-से-कम तुम अपना कर्तव्य तो करो, अपने हिस्से का कम-से-कम एक शत्रु तो मारकर जाओ। फिर कोई वैसा करे या न करे, सफल हो या न हो, देश माता को मुक्त करने के लिए, कम-से-कम उसका प्रतिशोध लेने के लिए तू यदि अकेला भी लड़ मरा, एक शत्रु की भी बलि लेकर दास्य शृंखला की एक कड़ी भी तोड़ी, तो समझो कि तूने अपना कर्तव्य पूर्ण किया। ऐसे अत्यंत उग्र त्याग की शिक्षा खुलेपन से 'अभिनव भारत' नामक इस राष्ट्रीय शाला की साप्ताहिक एवं दैनिक बैठकों में दी जाती थी। यही शिक्षा हजारों लोगों की भरी सभाओं में वक्तृत्व की सुइयों से उनकी नसों में घुसा कर दी जाती थी। इस दृष्टि से अनेक देशों के इतिहास पर इस संस्था में चर्चा होती थी, उसका विवेचन होता था। इस कारण इतिहास शास्त्र में 'अभिनव भारत' के सदस्य बड़े-बड़े पदवीधारी इतिहासविदों से भी सहज हारते नहीं थे। देशभक्ति और त्याग की शक्ति उनमें विकसित होती थी। फिर भी वह देशभक्ति तामसी नहीं थी, क्योंकि मानव के, मानवता के अधिकाधिक हित को जो पोषित करे, वही सच्ची राष्ट्रभक्ति; द्वेष के लिए नहीं, मानव के प्रेम के लिए, हित के लिए यह तलवार हमने पकड़ी है। जिस तरह डॉक्टर अपना औजार काम में लाता है, उसी तरह इस संस्था में इस सूत्र, नीति, धर्म का उपदेश निरंतर होता था।

४. **स्वदेशी, व्यायाम, सामाजिक सुधार**—जिससे देश की चौमुखी उन्नति

हो सके, ऐसा कार्यक्रम हमने अपने सदस्यों के सामने रखा था। इसके अंतर्गत व्यक्तिगत और सैनिक व्यायाम की रुचि तथा अभ्यास तरुणों में फैलाने के लिए संस्था ने यथासंभव प्रयास किए। स्वदेशी का व्रत, स्वदेशी की औद्योगिक उन्नति का स्तवन हर सदस्य का निरपवाद कर्तव्य माना जाता था। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बिना राष्ट्र की अन्य किसी भी दिशा से वास्तविक उन्नति होना कठिन है। लोकमान्य तिलक का यह कथन कि यथासंभव औद्योगिक एवं सामाजिक सुधार राजनीतिक प्रगति के लिए उपयोगी है, हर तरह से सच मानते हुए भी, आगरकर इत्यादि के इस तरह के विचार को भी हम मान्य करते थे। राजनीति में तिलक और चिपळूणकर हमारे गुरु थे। सामाजिक कार्यों में रानडे और आगरकर हमारे गुरु थे। इन दोनों के विचारों का यथासंभव तालमेल रखना हमारी नीति थी। इसलिए उस अवधि में राष्ट्र की प्रगति के रास्ते में आनेवाली रूढ़ियों को दूर करना भी हमारा लक्ष्य था। हम विधवा-विवाह, वेदोक्त स्वातंत्र्य, स्त्री-शिक्षा, छुआछूत की समाप्ति, विदेश गमन की स्वतंत्रता, धार्मिक आडंबरों का खात्मा आदि सुधारों के सक्रिय पक्षपाती थे। इन और ऐसी ही अन्य अंधरूढ़ियों को तोड़ने के विषय पर संस्था में अनेक बार जोरदार चर्चाएँ होती थीं और उन चर्चाओं का परिणाम सुधार के अनुकूल ही होता था।

५. **राष्ट्रीय उत्सव, सभा-सम्मेलन**—लोकमान्य तिलक ने राष्ट्र में राजनीतिक चेतना और पौरुष का संचार करने के लिए 'शिवाजी उत्सव', 'गणपति उत्सव' इत्यादि जो राष्ट्रीय उत्सव आरंभ किए थे, उनका भी भरपूर प्रचार-प्रसार हमने अपने कार्यक्षेत्र में किया। इतना ही नहीं, बंबई तथा पुणे की तुलना में उन्हें अधिक तेजस्वी स्वरूप भी प्रदान किया। उसी तरह अंग्रेजी अत्याचार, अन्याय और अन्य प्रतिबंधों से देश में जब-जब असंतोष फैला, तब-तब उसके फुटकर विरोध में जो सभाएँ, निवेदन-सम्मेलन उदार या राष्ट्रीय महासभा की ओर से आयोजित होते, उस समय उनके उन आंदोलनों का प्रवाह हम तत्काल अपने उस अवधि के कार्यक्षेत्र में भी खींच ले आते। नासिक में और नासिक की प्रतिध्वनि जहाँ तक हो सकती थी, वहाँ तक राजनीतिक असंतोष की आग पुणे और बंबई से भी अधिक तीव्रतर भड़काते रहते थे। इसका कारण यह था कि उस आग को केवल माई-बाप सरकार के अधिकारियों के उस विशिष्ट और फुटकर अत्याचार के विरोध की सीमा में या

हिंदुस्थान की अंग्रेजी कूटनीति के विरोध तक ही सीमित न रखकर हम सीधे अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध ही असंतोष बढ़ाते थे।

ऐसी हर सभा या सम्मेलन के अंत में अधिकारियों की टीका के प्रायश्चित्त रूप में जो 'गॉड सेव द किंग' का जयघोष हुआ करता था, उसके स्थान पर 'किंग-बिंग' को एक तरफ फेंककर हम केवल 'स्वातंत्र्य लक्ष्मी की जय' की गर्जना करते थे। सारांश यह कि उस समय के राजनीतिक क्षेत्र में जो अलग-अलग राजनीतिक संस्थाएँ कार्य कर रही थीं, उनके कार्यक्रम के और विशेषत: लोकमान्य तिलक के उस अवधि में सबसे आगे रहनेवाले राष्ट्रीय पक्ष के कार्यक्रमों में से अधिकतर कार्य 'मित्र मेला' अपनी क्षमता के अनुरूप अपने क्षेत्र में चलाता था। उस अवधि की किसी भी दूसरी संस्था के समान ही हमारी संस्था भी सक्रिय थी और उन कार्यक्रमों की कमी को पूर्ण रूप से जानते हुए उन सब आंदोलनों से आगे बढ़कर, जिसके बिना राष्ट्र की वास्तविक प्रगति होना कभी भी संभव न हो, उस संपूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए सशस्त्र विद्रोह का झंडा हमने उठाया। हमारे असीम साहस के कारण हमारी संस्था के हर कार्य और शब्दों से जनता में अपूर्व खलबली थी।

कुल सौ-पचास लड़के ही तब उस संस्था के उस समय सैनिक थे। उनका असीम साहस और देश माता के स्वातंत्र्य के लिए समर्पित उनके प्राण, ये दो ही शस्त्र उनके हाथ में थे और उनका कार्यक्षेत्र अधिक-से-अधिक एक जिले तक विस्तृत था। परंतु उसने संपूर्ण राजनीतिक स्वतंत्रता का जो महामंत्र मुखरित किया और उस ध्येय की प्राप्ति के लिए सशस्त्र क्रांति की जिस भीषण साधना की योजना चलाई, उसके विस्फोट के साथ ही एक महान् क्रांति-प्रलय से तीस करोड़ जनता का राष्ट्र-उदय हो जाना था, एक आसुरी शक्ति का साम्राज्य पलटकर गिर जाना था।

□

खंड-२

परिशिष्ट-१

मेरी भाभी की स्मृतियाँ

इस आत्मवृत्त के खंड-१ में मेरे संबंध में मेरी भाभी द्वारा लिखी गई कुछ स्मृतियाँ दी जा चुकी हैं। मुझे काले पानी का दंड होने के बाद फिर इस संसार में लौटकर मेरे आने की संभावना नहीं रह गई थी। ऐसे समय में दुःख से विह्वल उसका वत्सल अंतःकरण कुछ हलका हो और आगे-पीछे जब कभी मेरा चरित्र लिखा जाए, तब प्रत्यक्ष देखी हुई मुझसे संबंधित कुछ जानकारी उपलब्ध रहे, इसलिए मेरी भाभी सौ. येसूभाई ने ये स्मृतियाँ अपने हाथ से लिखीं। उन्होंने उन्हें अधूरा ही रख छोड़ा था। उस समय मेरा चित्र भी पुलिस उठा ले जाती थी। इस स्थिति में मेरा जीवन-चरित्र प्रकाशित करने की तो बात भी करना कठिन था। फिर भी उनकी वे लिखी स्मृतियाँ मेरे इष्ट मित्रों ने भाभी की मृत्यु के बाद भी यत्नपूर्वक गुप्त रूप से रखीं। उनमें से मेरे नासिक का भाग नमूने के रूप में यहाँ दिया जा रहा है। मेरी स्मृतियों से अधिक मेरी उस वत्सल भाभी की स्मृति का रूप होने से वे मुझे अधिक संस्मरणीय और संग्रहणीय लगी हैं। कारण यह कि उसने भी किसी वीरांगना की तरह ही अमित धैर्य से उस राष्ट्रीय संकट का सामना किया था और अपने हिस्से में आए असह्य कष्ट सहन करते हुए उसी कार्य के लिए मृत्यु का वरण किया था। उसीकी भाषा में लिखा यह वृत्त अविकल रूप में यहाँ उद्धृत है—

हम और दातार (परिवार) इकट्ठे ही रहा करते थे। उनके अन्य संबंधी जब उनके साथ रहने आए, तब दोनों (परिवारों) की सुविधा के लिए दोनों के विचार से हम दातार के मकान की दूसरी मंजिल पर उस समय से अलग रहने लगे। इसी समय चिपळूणकर की विवाह-योग्य येसू हमारे यहाँ रहने के लिए आई। उसकी-मेरी

बचपन से ही पहचान और संबंध होने के कारण वह हमारे यहाँ आठ-दस दिन खुलेपन से रह गई। परंतु मामा का विचार है कि उसका विवाह तात्या के साथ किया जाए, इसका ज्ञान हमें बिलकुल नहीं था। बाद में जब यह बात खुली, तब तात्या ने मामा से कहा, 'मैं विवाह नहीं करूँगा, क्योंकि मुझे अभी आगे पढ़ना है।' फिर मामा बहुत 'दादा-बाबा' करने लगे। फिर 'ये' बोले, 'यदि वे शिक्षा का व्यय देने की हामी भरें तो पक्का करवा दो।' बात पक्की हो गई। कक्षा सात की परीक्षा थी, कोई कुछ भी कहे, पर उन्हें बड़ी नजर लगी। मियादी बुखार ने उन्हें आ घेरा। विवाह और परीक्षा—दोनों का समय एक ही साथ।

होली में विवाह हुआ। विवाह में तात्या घोड़े पर बैठे तो इतने सुंदर लग रहे थे कि क्या कहूँ। उनपर 'वर छटा' बहुत अच्छी आ गई थी। वह लंबा-लंबा अँगरखा। वह टेढ़ी-मेढ़ी पगड़ी, पर तात्या थे ही सुंदर। उन्हें वह सब खूब फब रहा था। बड़ी हौंस से उन्होंने सारे खेल (विवाह के समय महिलाओं के बीच) खेले। अपनी पत्नी का नाम कविता छंद में पिरो-पिरोकर लोगों को सुनाया। और सब बहिनी (भाभी को) को देखने दो, उसे सुनने दो, बहिनी मैं नाम ले रहा हूँ, 'तुम सुन रही हो ना', ऐसा मेरा सम्मान हर बार करते थे। विवाह के दिन ही तात्या की मित्रता भाऊ से हो गई। वह ऐसी बढ़ती गई कि क्या कहूँ। ऐसे एक-दूसरे के प्रेमी और एक-दूसरे के लिए प्राण न्योछावर करनेवाले मित्र हमने कहीं देखे ही नहीं। तात्या को मैं 'भाऊजी' (देवर के लिए महाराष्ट्र में भाऊजी कहा जाता है) कहती तो भाऊ (तात्या के मित्र) कहते, वह भाऊ तो मैं तात्या, मुझे तात्या कहा करो, नहीं तो मैं सुनूँगा ही नहीं। इसलिए मैं उन्हें 'तात्या' कहती। वे मुझसे यही पूछा करते, 'कुछ लिखा या नहीं, कुछ पढ़ा या नहीं?' किस तरह लिखना है, यह वे बताते और दोपहर में मेरे भोजन के समय साथ होते, समाचारपत्र लाकर पढ़कर मुझे सुनाते।

हम त्र्यंबक गए थे। त्र्यंबक छोटा-सा गाँव। वहाँ के आदमी भी सुस्त, परंतु उनमें भी तात्या की मधुर और रस-भरी वाणी से आनंद, उत्साह और तेजी जागी। महिलाओं, पुरुषों तथा लड़कों को तात्या के बिना चैन नहीं पड़ता था। हमेशा दस-बीस आदमी उनको घेरे रहते। मेरे मायके में, घर में, मेरी माँ आदि सब कहते—येसू के देवर का स्वभाव कितना मधुर है! किसीपर चिल्लाता नहीं, कितना साहसी है! हम सब सहेलियाँ, माँ, नानी उन्हें बैठा लेते। उन्हें हम गीत सुनाते। ढेरों गपें लगाते। दिन ऐसे ही आनंद से बीत जाते। तात्या की ससुराल में भी बहुत सम्मान था। घर में महिला वर्ग में और बाहर पुरुष वर्ग में यही कहा जाता कि बहुत मौजी दामाद मिला। घर-बाहर सभी चाहते कि हमारे पास बैठें, हमसे बातें करें। बोली में कुछ निराली मधुरता थी ही।

गरमी के दिनों में वे रात में तरबूज ले आते और कहते, ठंडा होने के लिए हंडी में रख देते हैं। फिर उन्हें काटने के लिए मुझसे कहते। मैं जैसे-जैसे काटती जाती, अंदर का लाल-लाल भाग चट-चट खाते जाते। मेरे लिए नीचे का भाग रख देते और कहते, यह तुम्हारे लिए है। मैं गुस्सा हो जाती तो कहते, फिर मेरे सामने काटने क्यों बैठ जाती हो? मेरे आने के पहले ही काटकर रख देती! वैसे ही उन्हें थाली पीठ (महाराष्ट्र में प्रचलित मोटे मिश्रित अनाज का नमकीन पराँठा) बहुत पसंद था। मैं उसे चूल्हे से उतार भी नहीं पाती कि वे खा जाते। उसे मैं छिपाकर रखती तो कहते, 'अच्छा, तो तू अपने हाथ से जितना देगी, उतना ही खाऊँगा।' मैं मान जाती और निकालती। निकालते ही वे उसे किसी बहाने चट कर जाते। कोट, टोपी, कपड़े पहने हुए ही खाते, इसका उन्हें किसी तरह का परहेज नहीं था, पर घर में इनका (बाबा—बड़े भाई का) सकरे-जूठे का विचार अधिक था। एक बार तात्या घर में आए, थाली पीठ बनते देखा और बिना कपड़े उतारे ही खाने लगे। इतने में 'इनके' (बाबा के) आने की आहट सुनाई दी। तात्या तुरत थाली पीठ लेकर पड़ोसी के घर भाग गए। हमें कभी सोवला (महाराष्ट्र में भोजन या पूजा के लिए जो अलग वस्त्र पहने जाते हैं, उन्हें 'सोवला' या 'सोले' कहा जाता है) पहनकर नहीं खाने देते थे। वे कहते, प्रतिदिन धोए हुए कपड़े अधिक स्वच्छ होते हैं ('सोले' तो महीनों तक नहीं धोए जाने के कारण गंदे ही होते हैं)।

भोजन के समय तब धोती-कुरता भी नहीं पहना जाता था, परंतु तात्या इस रूढ़ि को नहीं मानते थे। एक दिन तात्या धोती-कुरता पहने ही भोजन कर रहे थे। इन्होंने (बाबा ने) देख लिया। फिर इस विषय पर खूब चर्चा हुई। तब से तात्या को छूट मिली। 'ये' स्वयं सोले में बैठकर खाते थे, परंतु तात्या का विरोध नहीं करते थे।

मुझे हर समय काम में मदद करते हुए—यह करूँ, वह करूँ—कहते। वह हर व्यक्ति का दिल इस तरह जीत लेते थे। आम का 'पना' उन्हें बड़ा पसंद था। मैं तेरी मदद करूँ, पना बनाऊँ—ऐसा कहते, पर पना बनते ही कहते, 'देखूँ कि मीठा बना या नहीं,' और एक-एक चम्मच कर-करके सारा पी जाते। फिर मैं उन्हें पना नहीं बनाने देती। हरे छोले (चने के बूट) घर में आते तो हम कितने ही छिपाकर रखें, फिर भी वे खोज ही लेते। फिर पढ़ते-लिखते एक-एक दाना छीनकर खाते जाते। हममें से कोई खाने लगता तो कहते, 'अरे, ये बंदरों का खाना क्यों खाते हो। बंदर हो क्या? इसे बहुत खाना अच्छा नहीं होता। मैं भी कल से नहीं खाऊँगा।' हम इसे जाकर रख देते, पर जाने कब ये सारे छोले खा जाते। हम देखते तो टोकरी खाली मिलती।

इस तरह सबके साथ हँसी-मजाक करते। जहाँ-तहाँ लोग खुश हो जाते। वे

केवल वाचन ही नहीं करते थे। उनके अन्य अनेक उद्योग भी चलते रहते थे। कभी कविता करते। कभी लेख लिखते। कभी व्याख्यान आप करते, और यह सब करते हुए दूसरों को भी ऐसी कविता और लेख लिखने के लिए सिखाते जाते। मुझे और मेरी सहेलियों को वे सिखाते। गीत बनाकर देते। समाचारपत्र पढ़कर अपने विचार हमें सुनाते। हमसे निबंध लिखवाते। मुझसे कम लिखवाते, क्योंकि मेरी आँखें बहुत दुर्बल थीं। फिर भी मुझसे चार-पाँच निबंध उन्होंने लिखवाए, सुधार कर दिए। प्रथम अक्षर से उन्होंने ही मुझे सिखाया। मुझे कविता करना भी सिखाते, मेरी सारी सहेलियों को भी उन्होंने सिखाया।

परिशिष्ट-२

कवि के चरित्र से उद्धृत गोविंद

श्री वैद्यभूषण वामन शास्त्री दातार का यद्यपि पहले दिन से 'मित्र मेला' से संबंध नहीं था, फिर भी पहले वर्ष से कैसा संबंध था और उस अल्प वय में संस्था के अंतिम ध्येय का मर्म समझने लायक जिज्ञासा यद्यपि उन्हें पहले नहीं थी, फिर भी वह आकलन-शक्ति जल्दी ही कैसे बढ़ी, ये सब विवरण पहले खंड में आ चुका है। 'कवि गोविंद' पुस्तक के प्रारंभ में श्री दातार शास्त्री ने गोविंद कवि के दिए हुए अल्प चरित्र में 'मित्र मेला' का जो संक्षिप्त परिचय दिया है, वह इस संस्था के इस खंड में दी हुई रूपरेखा के एक और स्वतंत्र-प्रमाणित साक्ष्य के रूप में संग्रहीत किए जाने योग्य है। अत: इस खंड का उपयुक्त अंश यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

'कवि गोविंद' के बचपन में उनके चारों ओर का परिसर अशिक्षित, अनाड़ी, ऊधमी तथा हीन वृत्ति का था। सत्रह-अठारह वर्ष के बाद नासिक आने पर भी उनमें अधिक सुधार नहीं हुआ। नगरकर की गली में रहने के लिए आने के बाद वहाँ की ब्राह्मण-बस्ती के संसर्ग का बहुत कुछ प्रभाव उनपर पड़ा। फिर भी उनकी मंडली की उत्पाती वृत्ति के कार्य चालू रहे। इस कारण गली के बड़े लोगों को उनके उत्पातों से होनेवाले कष्ट सहन करने पड़ते थे। उस समय की मंडली में श्रीपतराव बैजनाथ गोरे, बलवंतराव काशीकर, अनंतराव वैशंपायन, भाऊराव नातू, रामभाऊ दातार आदि लोग थे। दरेकर (गोविंद कवि) इन लोगों में प्रमुख थे। जिन लोगों में वे बैठते, उन्हींमें वे चमक उठते थे, यह उनका स्वभाव-सिद्ध गुण ही था। कहीं भी बाहर जाना हो तो (गोविंद पंगु थे, इसलिए किसी-न-किसीके कंधे पर बैठकर ही वे जाते) वे अपने लिए गरुड़ वाहन की माँग करते थे। भगवान् विष्णु का एक ही गरुड़ था, परंतु गोविंद कवि की प्रेमी-मंडली की बहुलता के

कारण सदा एक नया गरुड़ मिलता था। यह गरुड़ का काम बाद में बैरिस्टर बने सावरकर ने भी खुशी से किया था।

"'सन् १८९८ में नासिक में प्लेग फैला। तब के कलेक्टर स्टुअर्ट के शासन में लोगों को अपार कष्ट हुए। नगर छोड़-छोड़कर लोग बाहर गए। सन् १८९९ में नगर फिर से आबाद हुआ। तब श्री गणेश दामोदर सावरकर और विनायक दामोदर सावरकर शिक्षा प्राप्त करने इसी नगरकर की गली में वर्तक के बाड़े में रहने आए। विशेषकर विनायक दामोदर सावरकर के उस गली के निवासी हो जाने के बाद से उनके समवयस्क लड़कों में महत्त्वाकांक्षा की हवा बहने लगी, यह कहना पड़ेगा। उस समय सावरकर की आयु भी उनकी बुद्धि की प्रशंसा करने योग्य छोटी ही थी। फिर भी, उनके आकर्षक चेहरे पर झलकती बुद्धिमत्ता, फुरती एवं उनके सतत उद्योगी स्वभाव का प्रभाव उनके आसपास रहनेवाले छात्रों पर पड़े बिना नहीं रहा। उन्हें कोई मत्सर से, तो कोई प्रशंसा से, कोई महत्त्वाकांक्षा से तो कोई प्रेम से देखने एवं विचार करने लगा। प्रत्येक की बुद्धि को इस कारण गति पाकर जीवंतता और नया मार्ग मिले बिना न रहा। इस सबका अप्रत्यक्ष प्रभाव रा. दरेकर पर भी हुआ।

मार्च १८९९ में हमारे पिता को प्लेग हुआ। तब रा. बाबाराव (गणेश दामोदर) सावरकर ने बड़े स्नेह-भाव से उनकी सेवा-टहल की। दातार और सावरकर परिवारों का स्नेह-संबंध इस तरह दृढ़ होता गया। इसी वर्ष भाद्रपद मास में सावरकर परिवार प्लेग की भयानक आपत्ति में फँस गया। सावरकर के पिता और छोटे भाई—दोनों प्लेग से घिर गए। प्लेग-निवारण अधिकारियों के आदेशों के कारण उन सबको श्मशान के पास के मंदिर में ठहरना पड़ा। यह समाचार नासिक में रामभाऊ दातार एवं दत्तोपंत भट को मिला। वे गए और सावरकर बंधुओं को अपने घर ले आए। छोटे भाई को अस्पताल में रखा और वहाँ उसकी सेवा करने गणेश (बाबा) भी अस्पताल में रह गए। भोजन पहुँचाने का काम विनायकराव करते। अस्पताल में म्हसकर बाबू थे। उनका सावरकर से परिचय हुआ। म्हसकर स्वार्थ-त्यागी, स्वदेश के लिए आस्था रखनेवाले एवं लोकमान्य तिलक के कट्टर अनुयायी थे। इसी परिचय के परिणामस्वरूप 'मित्र मेला' संस्था स्थापित हुई। प्रत्यक्ष 'मित्र मेला' की स्थापना नातू बंधुओं के छूटकर आने के बाद उनका सार्वजनिक अभिनंदन न होने के कारण इस विचार से हुई थी कि इन लोगों के मन में स्वतंत्रता से कार्य करने के लिए स्थान एवं अवसर चाहिए। उस संस्था में दरेकर का प्रवेश तीन-चार मास बाद हुआ होगा। ऐसी संस्था में प्रवेश करने की इच्छा होना दरेकर, सावरकर आदि मंडली के उस समय के व्यवहार के परिणामों को ही व्यक्त करता है, और दरेकर का उस संस्था में प्रवेश तो मानो उनका पुनर्जन्म ही था। चूँकि दरेकर के अंगभूत गुणों के

विकास का आरंभ इसीसे हुआ। अत: दरेकर अब स्वदेश का विचार करने लगे।

प्रारंभ में 'मित्र मेला' का कार्यक्रम इस प्रकार था—प्रति सप्ताह रविवार या शनिवार को संस्था की बैठक नियमित रूप से रात्रि में होती। इस बैठक में पहले से निश्चित विषय पर पूर्वनियोजित व्यक्तियों के भाषण होते। शेष लोग उपवक्ता के रूप में उसी विषय पर बोलते। इस प्रकार अनेक विषयों पर साधक-बाधक चर्चा होती और अलग-अलग विषयों के ज्ञान एवं तात्त्विक सत्य सिद्धांत से सभी सदस्य अवगत हो जाते। इससे उनकी व्यक्तिगत योग्यता बढ़ने में सहायता होती। संस्था की सामान्य नीति यह थी कि 'मित्र मेला' के सभी सामान्य सदस्य अपने उद्‌देश्य से समाज में व्यवहार करते हुए अपने कार्य एवं ज्ञान से लोगों में चमकें। इसके लिए इतिहास, काव्य, निबंध, तत्त्वज्ञान, धर्म आदि विविध विषयों के निश्चित ग्रंथ पढ़ने ही पड़ते। यह नियम था। वाद-विवाद में अचूक सत्य खोज लेने की कला भी सदस्य को आए, इसलिए उस (सदस्य को) वाद-विवाद में भी भाग लेना ही पड़ता। यह भी नियम था। इन नियमों के कारण हर सदस्य बहुश्रुत, सटीक और कटाक्ष निपुण हो जाता और इसी पद्धति के कारण पहले 'सामाजिक या राजनीतिक' आदि जिन प्रश्नों के भँवर में बड़े-बड़े कार्यकर्ता भी जहाँ व्यामोहग्रस्त होते थे और अभी भी होते हैं, वहाँ इस संस्था का सदस्य संशयरहित एवं स्थिरबुद्धि होता था। परिणामस्वरूप 'मित्र मेला' के सदस्य स्वदेश की स्वतंत्रता का ध्येय केंद्र में रखकर उसके अनुषंगी सब प्रकार के, सभी विषयों के आंदोलनों में पूर्णत: भाग लेने में सक्षम होते थे। वे कहीं भी डगमगाते नहीं थे, क्योंकि वे उतने ही धार्मिक, शैक्षिक, शारीरिक आदि विषयों के भक्त हो जाते थे और उस-उस विषय के भक्तों के साथ बड़ी तत्परता से कार्य करने में सक्षम होते थे। 'मित्र मेला' के कार्यक्रम का दूसरा भाग राष्ट्रवीर और धर्मवीर पुरुषों के उत्सव—जैसे—श्री शिवाजी, श्री रामदास, श्री गणेश आदि के उत्सव मनाए जाते। उसी तरह देशहित के अन्य आंदोलनों और उन्हें आयोजित करनेवाले अन्य नेताओं को यथासंभव सहायता करने का भी प्रचलन था।

इन सब कार्यक्रमों को चलाने का मुख्य उद्‌देश्य हिंदुस्थान को स्वतंत्र कराने का मार्ग प्रशस्त कराना था। स्वतंत्रता के बिना सब व्यर्थ है, यह मूल बात थी। इन सब कार्यक्रमों और ध्येय से दरेकर भी पूर्ण प्रभावित हुए। वे पूर्ण स्वतंत्रता के ध्येय के भक्त बन गए। संस्था का एक अन्य सराहनीय कार्यक्रम था जो हर तीन माह बाद आयोजित होता था। उसमें संस्था के सदस्यों का मुक्त गुण-दोष-विवेचन होता था। उसका भी लाभ रा. दरेकर ने लिया और अपने अंगभूत दोषों को परिष्कृत कर गुण-वृद्धि में वे जुटे रहे। उन्होंने अपना लेखन और वाचन सुधारा। अनेक विषयों के ग्रंथ पढ़ने का क्रम चालू किया। इस वाचन-कार्यक्रम में महाराष्ट्र के कवियों के ग्रंथ,

विशेष रूप से मोरो पंत की कविता का अध्ययन करने की दृष्टि से उन्होंने पढ़े। इस तरह के अध्ययन से उनकी कविता सुधरी और गणपति उत्सव, शिवाजी उत्सव आदि कार्यक्रमों में प्रस्तुत भी हुई। गणपति उत्सव या शिवाजी उत्सव आयोजित करने का मुख्य ध्येय—स्वतंत्रता के ध्येय की कल्पना लोगों में जगाना और लोगों का देशाभिमान प्रज्वलित करना था। इस कारण शिवाजी उत्सव के समय ऐतिहासिक उदाहरण देकर और गणपति उत्सव में धार्मिक या पौराणिक उदाहरण प्रस्तुत कर लोगों में संस्था के ध्येय का संचार उन्होंने उदात्त स्फूर्तिमय रीति से अपनी कविता से किया। सावरकर ने बाजीप्रभु पर पोवाड़ा लिखा, तो दरेकर ने अफजल खाँ पर। शिवाजी और उनके सहयोगी मावले का एक संवाद काव्य भी उन्होंने शिवाजी-जन्मोत्सव के अवसर पर लिखा। सावरकर ने शिवाजी महाराज की आरती लिखी, तो दरेकर ने श्री समर्थ की, परंतु गणपति उत्सव में प्रस्तुत होनेवाले गीतवृंद के गीत दरेकर ही लिखते थे। नासिक में अनेक गीतवृंद अपने-अपने कार्यक्रम उत्सव के अवसर पर प्रस्तुत करते रहते थे। उनमें अनंत वामन बर्वे के लिखे गीत भी गाए जाते थे। इस तरह की प्रतियोगिता के वातावरण का लाभ दरेकर ने भरपूर उठाया और अपने गीतों को सरस तथा समृद्ध किया। इन सब कारणों से उनके लिखे गीत लोकप्रिय हुए और उन गीतों का गायन करनेवाला गीतवृंद श्रेष्ठ माना गया।